भारतीय राजनीति के अंतर्विरोध

मधु लिमये

सारांश

मूल्य : रु. 175.00
सर्वाधिकार © चंपा लिमये
प्रथम संस्करण : 1996

प्रकाशक: सारांश प्रकाशन प्रा. लि., 13 दरियागंज, नई दिल्ली-110001
लेजर कंपोजिंग: मोहित ग्राफिक्स, नई दिल्ली-110003
मुद्रक: मेहरा ऑफसेट प्रेस, दरियागंज, नई दिल्ली-110002

आवरण : चंचल

BHARATIYA RAJNITI KE ANTARVIRODH
Essays on current politics by Madhu limaye

दो शब्द

जीवन अंतर्विरोधों से पूर्ण मुक्त तो कभी नहीं होता, किंतु व्यवस्था अंतर्विरोधों के समाधान का ही नाम है। जब व्यवस्था के अंतर्विरोध बहुत अधिक हो जाते हैं, तो उसके भंग होने का खतरा होता है। हमारी राजनैतिक व्यवस्था इस समय इसी संकट से गुजर रही है और इसका कारण है इसके तीव्र एवं असाधारण अंतर्विरोध।

महात्मा गाँधी और डा. भीमराव अंबेडकर दोनों एक ही ध्येय को लेकर चले। यह ध्येय था दीन, निर्धन और दलित वर्गों का उत्थान। दोनों एक-दूसरे के पूरक भी हैं। तथापि अज्ञानवश इन दो महान व्यक्तियों को लेकर व्यर्थ विवाद खड़ा किया जाता रहा है। अध्याय एक में इस समस्या पर सम्यक् विचार किया गया है।

गैट समझौते के खिलाफ विभिन्न राजनैतिक संगठनों द्वारा चलाए गए अभियान क्यों असफल हुआ, इसका उत्तर हमें इन संगठनों के अंतर्विरोधों में मिल सकता है। पश्चिम के आर्थिक और गैर-आर्थिक हथियारों का मुकाबला करने के लिए हम न तो वैकल्पिक प्रणाली बना पाये और न कार्य-नैतिकता को मजबूत कर सके। यथार्थ का सामना करने के बजाय हम कोरे सिद्धांतों की बहस में उलझे रहे। इस समस्या के विभिन्न पहलुओं पर दूसरे अध्याय में प्रकाश डाला गया है।

संसदीय प्रणाली के कुछ पहलुओं पर पूर्व-राष्ट्रपति आर. वेंकटरामन की हाल ही में प्रकाशित पुस्तक में चर्चा की गई है। इस पर तीसरे अध्याय में विचार हुआ है।

विधायिका और न्यायपालिका के कतिपय अंतर्विरोधों की चौथे अध्याय में तथा चुनाव-प्रक्रिया के शुद्धीकरण के प्रयासों की पाँचवें अध्याय में विशद चर्चा है। विभिन्न राजनैतिक दलों के विरोधाभासों की झलक छठे अध्याय में प्रस्तुत की गई है और विश्व के फलक पर इस समय जो नए अंतर्विरोध प्रकट हो रहे हैं उनका विवेचन भारत के संदर्भ में अंतिम अध्याय में किया गया है।

पुस्तक में संकलित अधिकांश लेख हाल ही में प्रमुख पत्रों में प्रकाशित हुए थे।

—मधु लिमये

विषय-क्रम

भारतीय
राजनीति के
अंतर्विरोध

अध्याय एक

मनु-गांधी-अंबेडकर

महात्मा गांधी राष्ट्रपिता क्यों कहलाते हैं ?

भाजपा के उत्तर प्रदेश के भूतपूर्व मुख्यमंत्री कल्याणसिंह आदि नेताओं ने महात्मा गांधी को राष्ट्रपिता कहे जाने का विरोध किया है। उनका कहना है कि भारत, जो हिन्दू राष्ट्र है, बहुत प्राचीन है और उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध तथा बीसवीं सदी के पूर्वार्द्ध में हुए गांधी को राष्ट्रपिता नहीं कहा जा सकता; अधिक से अधिक उन्हें भारत माता या हिन्दू राष्ट्र का पुत्र कहा जा सकता हैं। स्मरणीय है कि जिन शब्दों पर संघ परिवार गर्व करता है – हिन्दू और हिन्दू राष्ट्र – वे भारत के प्राचीन ग्रंथों में कहीं नहीं पाये जाते हैं। अपनी पहचान के लिए भी संघ-परिवार वालों को ईरानियों तथा यवनों द्वारा प्रयुक्त शब्दों का ही इस्तेमाल करना पड़ता है। कौटिल्य के **अर्थशास्त्र** में समस्त भारतवर्ष के लिए – जो हिमालय और दक्षिण महासागर के बीच स्थित है – चक्रवर्ती-क्षेत्र का प्रयोग किया गया है।

महात्मा गांधी के बारे में राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ परिवार के पूर्वाग्रह सुविदित हैं। संघ के लोगों ने स्वयं मुझे बताया था कि उन्होंने अपनी दैनिक प्रार्थना में गांधी का नाम साठ के दशक में शामिल किया था।

संघ परिवार और भाजपा का यह रवैया गांधी के प्रति उनकी घृणा से ही नहीं, बल्कि भारतीय इतिहास, राज्य और राष्ट्र के प्राचीन और अर्वाचीन संदर्भ में भिन्न अर्थ और दोनों के संस्कृति तथा सभ्यंता से संबंध आदि के बारे में गलत समझ से बना है।

राष्ट्रपिता का संबोधन : राष्ट्रपिता का संबोधन दूसरे विश्वयुद्ध के दौरान सुभाष

चन्द्र बोस ने गांधी जी को दिया था। जब सुभाष ने इस विशेषण का इस्तेमाल किया था तो उनके मन में राष्ट्र का आधुनिक अर्थ था। संस्कृत, प्राकृत और बंगला, मराठी, हिन्दी आदि आधुनिक भाषाओं सहित, भारतीय भाषाओं में ऐसा कोई शब्द नहीं है जो अंग्रेजी शब्द 'नेशन' के अर्थ को पर्याप्त रूप से व्यक्त कर सके।

राष्ट्र उसी देश को कहा जा सकता है जिसने एक राजनैतिक इकाई होने की विशिष्ट चेतना प्राप्त कर ली हो, जिसने एकीकृत केन्द्रीय सत्ता की स्थापना कर राजनैतिक एकीकरण कर लिया हो और जिसके आदेश का पूरे देश में पालन होता हो।

आपस में लड़ने वाले दर्जनों और सैकड़ों स्वतंत्र राज्यों को, जिनके अपने राज्य-प्रमुख और अलग सेनाएं हों, आधुनिक अर्थ में राष्ट्र नहीं कहा जा सकता, भले ही उस भौगोलिक क्षेत्र में धर्म, संस्कृति या सभ्यता की एकता हो।

बंगाल को आधुनिक राजनैतिक चेतना का केन्द्र माना जाता है। क्या इस बात से इंकार किया जा सकता है कि बंगाल के नेताओं और लेखकों ने देश, राष्ट्र और जाति शब्दों का प्रयोग मनमाने ढंग से किया है और उनका अर्थ केवल संदर्भ से ही निकल सकता है? कभी-कभी इन शब्दों का अर्थ होता हैं बंगाल, जहां बंगला भाषा बोली जाती है। काफी बाद में इनका अर्थ भारतीय राष्ट्र भी किया जाने लगा।

भाषा और विचार का यह कुहासा बंगलाभाषियों तक ही सीमित नहीं था। महाराष्ट्र एक और क्षेत्र है जहां पिछली शताब्दी के उत्तरार्द्ध में राजनैतिक चेतना पैदा हुई। मराठीभाषियों में भी विचारों का यही कुहासा दिखाई देता है। उस समय के सबसे बड़े राष्ट्रीय नेता लोकमान्य तिलक थे। इसे संघ परिवार के लोग भी मानते हैं। राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के संस्थापक डा. के.बी. हेडगेवार ने भी तिलक से प्रेरणा ग्रहण की थी। जिन्होंने तिलक की रचनाओं को ध्यान से पढ़ा है वे जानते हैं कि उन्होंने अपने राजनैतिक जीवन की विभिन्न अवस्थाओं में – और कभी-कभी तो एक साथ ही – राष्ट्र शब्द का प्रयोग तीन भिन्न अर्थों में किया है। इसके कुछ उदाहरण देना काफी होगा।

तिलक द्वारा राष्ट्र शब्द का प्रयोग : अपने राजनैतिक जीवन के शुरू के दिनों में तिलक ने लिखा है कि बम्बई प्रेज़ीडेंसी में चार छोटे राष्ट्र हैं : सिंध, गुजरात, महाराष्ट्र और कर्नाटक। बंगाल की स्थिति का जिक्र करते हुए तिलक ने 'बंगलाभाषी राष्ट्र' शब्द का प्रयोग किया और उसके विभाजन के कुटिल इरादों की भर्त्सना की। इतना ही नहीं, उसी लेख में तिलक ने बंगलाभाषी प्रांत का भी जिक्र किया। यह स्पष्ट है कि तिलक ने प्रांत और राष्ट्र की संकल्पनाओं में स्पष्ट भेद नहीं किया।

अपने राजनैतिक जीवन के मध्यकाल में जब स्वतंत्रता के लिए अनेक कष्ट सहने के फलस्वरूप तिलक राष्ट्रीय नेता बन गए थे, हम उन्हें राष्ट्रीयता की समस्या को समझने की कोशिश करते हुए पाते हैं। एक तरफ वे वसुधैव कुटुम्बकम की

कल्पना को आकर्षक किन्तु असाध्य कहकर नकार देते हैं और दूसरी तरफ वे व्यक्ति, परिवार तथा स्थानीयता के विचारों को संकीर्णता-सूचक मानकर उनके प्रति अरुचि प्रकट करते हैं। इन दो छोरों के बीच कहीं राष्ट्र आता है, ऐसा वे मानने लगे। उन दिनों तिलक महाराष्ट्र में अपना आधार बनाने की कोशिश कर रहे थे और उन्होंने हिन्दू 'राष्ट्रीयता' तथा आपसी संबंध, भाषा एवं ऐतिहासिक पृष्ठभूमि के साझेपन पर आधारित महाराष्ट्रियन 'राष्ट्रीयता' की भावना जगाने के लिए दो त्योहार शुरू किए थे। पहले उद्देश्य के लिए गणेशोत्सव और दूसरे के लिए शिवजयंत्योत्सव जिसमें मराठीभाषी लोगों की ऐतिहासिक-भाषायी चेतना को भुनाने की कोशिश की गई।

तिलक ने कहा कि एक भौगोलिक क्षेत्र, भाषा और धर्म पृथक-पृथक या तीनों मिलकर राष्ट्र बनाने के लिए काफी नहीं हैं। उन्होंने समान हित और समान ऐतिहासिक स्मृति (पूर्वेतिहासस्मरण) को एक राष्ट्र का आधार बताया। इन दो कसौटियों को भारत पर लागू करते हुए उन्होंने पूछा कि क्या एक भारतीय राष्ट्रीयता के समर्थक कह सकते हैं कि भारत एक राष्ट्र था ?

तथापि, राष्ट्रीयता की व्यापक संकल्पना से तिलक बेखबर नहीं थे। ए.ओ. ह्यूम के परिपत्र पर विचार करते हुए तिलक ने कहा कि कांग्रेस सभी जातियों, समुदायों और प्रांतों की एकता से एक राष्ट्र का निर्माण कर रही है।

तिलक के राष्ट्रीय नेता के रूप में प्रतिष्ठित होने और लोकप्रियता के शिखर पर पहुँचने के बाद भी उनमें विचार की यह अस्पष्टता बनी रही। देशद्रोह के दूसरे मुकदमे के दौरान तिलक ने कहा कि 'भारत अभी राष्ट्र नहीं बना है।' लेकिन दुर्भाग्य से महान लोकमान्य संकीर्ण मराठी राष्ट्रीयता पर आने की अपनी प्रवृति पर कभी काबू नहीं पा सके। अपने राजनैतिक जीवन के मध्यकाल में लिखे गए अपने लेख में उन्होंने कहा कि जिस तरह प्रत्येक व्यक्ति का भाग्य अलग-अलग होता है, उसी तरह भारत के भिन्न-भिन्न प्रांतों का भाग्य भी एक-सा नहीं है और कौन जानता है कि वह अलग-अलग हो। उन्होंने कहा कि भारतीय इतिहास के गंभीर छात्रों को यह महसूस हुआ होगा। अतः उन्होंने महाराष्ट्रियों को सलाह दी कि वे मराठी भाषा और महाराष्ट्र के इतिहास पर मुख्य रूप से ध्यान केंन्द्रित करें। दर्शन के मामले में तिलक अद्वैतवादी थे। किन्तु वे प्रांत, धर्म और राष्ट्र की परस्पर-विरोधी निष्ठाओं और अस्मिताओं में सामंजस्य नहीं बिठा सके। अपने राजनैतिक जीवन की मध्यावस्था में वे यह नहीं सोचते थे कि सारे भारतीय समान हित और समान ऐतिहासिक स्मृति के कारण एक हैं बल्कि वे सोचते थे कि केवल मराठी अस्मिता ही उनके आंदोलन का आधार बन सकती है। आश्चर्य की बात है कि उनकी यह धारणा कांग्रेस की स्थापना के 16 साल बाद भी बनी रही। वे यह

भूल गए कि नौ साल पहले उन्होंने खुद इसके विपरीत बात कही थी और बड़ी गरमजोशी से भारत की साझा राष्ट्रीयता का समर्थन किया था। तिलक अक्सर अपनी बात काटते थे और तात्कालिक परिस्थितियों को देखते हुए अपनी जरूरतें निर्धारित करते थे। उनके विरोधाभास जितना अस्पष्ट चिंतन का परिणाम थे, उतना ही राजनैतिक अवसरवाद के। किन्तु इस लेख तथा इसी तरह के अन्य लेखों में उन्होंने जिस सिद्धांत का प्रतिपादन किया, वह अत्यन्त खतरनाक था।

अपने राजनैतिक जीवन के अन्तिम चरण में जब तिलक सबसे बड़े अखिल भारतीय नेता बने तभी उन्होंने मिले-जुले भौगोलिक राष्ट्रवाद की संकल्पना का जोरदार ढंग से प्रचार करना शुरू किया। किन्तु दादाभाई नौरोजी और महात्मा गांधी जैसे नेताओं की तुलना में राष्ट्र और राष्ट्रीयता की उनकी कल्पना कभी-कभी महाराष्ट्रियन गर्व से प्रदूषित रहती थी।

सर सैयद अहमद खां के विचार : यदि गांधी-पूर्व युग का भारतीय राष्ट्रवाद का सबसे बड़ा समर्थक विचारों के मामले में इस तरह के भ्रम का शिकार हो सकता है तो इसमें क्या आश्चर्य कि मुस्लिम नवजागरण के जनक सर सैयद अहमद खां भी राष्ट्र, समुदाय और प्रांत की बात करते समय विचारों के विरोधाभास का शिकार रहे।

सर सैयद अहमद खां के सामने भी वही समस्याएं थीं जो भारतीय भाषाओं का उपयोग करने वाले अन्य नेताओं के समक्ष थीं। उन्हें पश्चिमी संकल्पनाओं को भारतीय भाषाओं की शब्दावली के माध्यम से समझाना एवं प्रस्तुत करना था। उन्हें उन संकल्पनाओं के लिए जो भारत या दूसरे पूर्वी देशों में नहीं बनी थीं, उपयुक्त शब्दों की खोज करनी पड़ी। बंगला, मराठी, पंजाबी आदि की तरह उर्दू भी संस्कृत परम्परा की भाषा है और इसलिए उर्दू में भी 'नेशन' का कोई पर्यायवाची शब्द नहीं था। सर सैयद ने 'कौम' और 'वतन' शब्दों का इस्तेमाल आधुनिक संकल्पना के लिए किया। आधुनिक मुस्लिम जागरण के नेता सर सैयद के मामले में भाषा की अपूर्णता और विचारों की अस्पष्टता ने काफी भ्रम पैदा किया।

सर सैयद ने 'कौम' शब्द का इस्तेमाल भिन्न-भिन्न समय पर भिन्न-भिन्न अर्थों में और कभी-कभी परस्पर-विरोधी संकल्पनाओं के लिए किया। उन्होंने एक धार्मिक समुदाय, भाषायी-क्षेत्रीय समूह और एक असांप्रदायिक भौगोलिक राष्ट्र – सबके लिए 'कौम' शब्द का इस्तेमाल किया। इस मामले में उनके और तिलक के बीच बड़ी समानता थी।

राष्ट्र शब्द के अर्थ के संबंध में बने हुए भ्रम का मूल हमारे इतिहास में है। **महाभारत** महाकाव्य न तो एक लेखक की रचना है और न यह एक ही पुस्तक है। इसे समग्र साहित्य कहा गया है जो ठीक ही है। यह पद्यबद्ध विश्वकोश और प्राचीन

इतिहास है यद्यपि इसमें पुराण का पुट भी है। इसमें कहा गया है कि जो महाभारत में है वह दूसरी जगह भी है और जो इसमें नहीं है वह अन्यत्र भी नहीं है : यदिहास्ति तदन्यत्र यन्नेहास्ति न तत् क्वचित्। **महाभारत** में राष्ट्र, राज्य और देश शब्दों के समानार्थक प्रयोग मिलते हैं। **मनुस्मृति** (7-109 तथा 10-61) में भी राष्ट्र शब्द का प्रयोग छोटे राजाओं के राज्यों के लिए किया गया है।

महाभारत में 'राष्ट्र' की संकल्पना : **महाभारत** के आदिपर्व, सभापर्व और शांतिपर्व इस चर्चा की दृष्टि से विशेष महत्वपूर्ण हैं। संस्कृत के राष्ट्र, राज्य और देश शब्द यहां पर्यायों के रूप में आए हैं। एक और समानार्थक शब्द था जनपद। लेकिन कुछ स्थानों पर जनपद शब्द राज्य या राष्ट्र की तुलना में छोटी इकाई के लिए प्रयोग में आता है। बहुवचन के प्रयोग से ऐसा लगता है कि राज्य या राष्ट्र में एक से अधिक जनपद हो सकते थे। किन्तु न तो राज्य और न राष्ट्र शब्द भारतीय सभ्यता के सारे क्षेत्र अथवा भारत के नाम से जानी जाने वाली भौगोलिक इकाई का अर्थ देता था। ये शब्द छोटे-छोटे राजाओं के इलाकों के लिए इस्तेमाल होते थे, जिनमें भारत उस समय बंटा हुआ था। अपने राज्य से भिन्न राज्यों को जो भारत की सीमा के अंदर ही होते थे, परराष्ट्र या विदेश कहा जाता था। **मनुस्मृति, अर्थशास्त्र** और **महाभारत** भी आमतौर पर राजतंत्रों के समर्थक ग्रंथ थे। उत्तर-पश्चिम और उत्तर भारत में दो हजार से अधिक वर्षों तक गणों और संघों का आम प्रचलन रहा। **महाभारत** के शांति पर्व के एक अध्याय में भी गणों और संघों की विशेषताओं की चर्चा हुई।

इस प्रकार कलिंग को कलिंग राष्ट्र कहा गया है (1-207-10 पूना का शोधित संस्करण)। एक स्थान पर गांधार या गांधार राज्य का सार्थक विवरण भी आया है (2-5-112)। द्वारिका से इंद्रप्रस्थ तक की कृष्ण की यात्रा के प्रसंग में विविधान्देशान् शब्द का प्रयोग हुआ है, जो कई राज्यों के अस्तित्व को रेखांकित करता है (1-12-31)। प्राचीन प्रागैतिहासिक काल में सम्राट और साम्राज्य की संकल्पनाएं मात्र आदर्श थे और वे आधुनिक अर्थ में एकीकृत राज्य के वाचक नहीं थे। प्राचीन काल के सम्राटों और चक्रवर्ती राजाओं ने अपनी सीमाओं से बाहर के राज्यों पर छाया मात्र अधिकार का प्रयोग भी नहीं किया होगा। ज्यादा से ज्यादा वे अश्वमेध आदि के अवसर पर अधीनता के प्रतीक के रूप में उनसे कुछ नजराना वसूल करते रहे होंगे। सर्वप्रथम एकीकृत राज्य मगध में चौथी शताब्दी ईसा पूर्व में बना।

कहा जा सकता है कि महाभारत काल मे मगध का वर्धिष्णु राज्य भारत का राजनैतिक एकीकरण कर सकता था बशर्तेकि श्रीकृष्ण ने पांडवों के साथ गठबंधन करके उसे परास्त न किया होता। युधिष्ठिर के समक्ष कृष्ण ने जो वक्तव्य दिया उससे निम्नलिखित तथ्य सामने आते हैं : जरासंध को मगध का राज्य उत्तराधिकार

में मिला था जिसका अर्थ है कि मगध ने पहले ही साम्राज्य का रूप लेना शुरू कर दिया था (1-13-8)। जरासंध का सेनापति शिशुपाल भी अपने को पुरुषोत्तम कहता था। वह सौंड्रक वासुदेव के नाम से जाना जाता था और श्रीकृष्ण का प्रतिद्वंद्वी था। उत्तरी क्षेत्र (उदीच्य) के बारह कबीले – अंधक, वृष्णि, भोज, यादव महासंघ में थे – अपनी जन्मभूमि छोड़कर पश्चिम में जा बसे थे (2-13-24-25)। मत्स्यों ने भी उत्तर की अपनी जन्मभूमि छोड़कर दक्षिण को अपना घर बना लिया था। पांचाल भी अपने राज्य को छोड़ गए थे – स्वराष्ट्र संपरित्यज्य (2-13-27-28) और अठारह शासक कबीलों से परामर्श करने के बाद इस नतीजे पर पहुँचे थे कि वे तीन सौ साल तक भी जरासंध से युद्ध करते रहें तब भी उसे परास्त नहीं कर सकते और इसलिए बेहतर होगा कि वे अपने पूर्वजों की भूमि छोड़कर पश्चिम में जा बसें (2-13-35)। श्रीकृष्ण जरासंध को समाप्त करने में सफल हुए किन्तु महाभारत के युद्ध के बाद देश में अराजकता फैल गई और बाद की सदियों में फारसी-आरमीनियन, मेसेडोनियन और सिकन्दर के अधीन यवनों को भारत में घुसपैठ करने में सफलता मिल गई। विदेशी आधिपत्य को मगध ने ही अंततः समाप्त किया और हिन्दूकुश से लेकर तुंगभद्रा तक लगभग सारा भारत उनकी प्रभुसत्ता के अधीन हो गया। दुर्भाग्य से यह एकता स्थायी नहीं रही। भारत पुनः विदेशी आक्रमण का शिकार हो गया। चीन के विपरीत भारत में राजनैतिक एकता कभी-कभी रही, किन्तु छोटे-छोटे राज्यों की अराजकता स्थायी विशेपता रही। गुप्त साम्राज्य मौर्य साम्राज्य जितना विस्तृत नहीं था। उत्तर-पश्चिमी भाग जो इस समय पाकिस्तान और पूर्वी अफगानिस्तान में आता है, गुप्त साम्राज्य के अधिकार क्षेत्र से बाहर थे। किसी भी देशी शासक का क्षेत्र मौर्य साम्राज्य जितना विस्तृत नहीं था। केवल अकबर के साम्राज्य को ही मौर्य साम्राज्य के विस्तार की बराबरी का माना जा सकता है। ब्रिटिश साम्राज्य, जो अंत तक विदेशी ही रहा, पिछले साम्राज्यों से क्षेत्र में भी अधिक विस्तृत रहा और प्रशासनिक एकता तथा दृढ़ता में भी, जिसका श्रेय युद्ध संचार-व्यवस्था आदि के प्रौद्योगिकीय परिवर्तनों को जाता है।

महात्मा जी का योगदान : यह बात विश्वास के साथ कही जा सकती है कि देश के दुखद विभाजन के बावजूद कांग्रेस ऐसे एकीकृत राज्य का ढांचा बनाने में सफल हुई जिसमें अलहिन्द या भारतवर्ष का काफी बड़ा भाग समाहित है। ब्रिटिश शासन के रहते हुए कांग्रेस जनता की शक्ति की प्रतीक बन गई थी और इसमें महात्मा गांधी का योगदान अतुलनीय है। जो लोग भारत की बार-बार राजनैतिक अराजकता में डूबने की प्रवृत्ति से परिचित हैं वे राष्ट्र-निर्माता के रूप में महात्मा गांधी के महान योगदान को अवश्य समझेंगे।

महात्मा गांधी ने अपने मिशन का आरंभ दक्षिण अफ्रीका में किया, जहां की

भारतीय आबादी सरकार की रंग-भेद नीतियों के कारण अपनी भारतीयता के प्रति अत्यधिक जागरूक थी। इस आबादी के नेता के रूप में गांधी ने राष्ट्रीय एकता की ऐसी ऊंची कल्पना का विकास किया जो क्षेत्रीय, भाषायी और धार्मिक समूहों से ऊपर राष्ट्रीयता के उस आदर्श के अनुरूप थी जिसे भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस ने 1885 से जनता के सामने रखा था। गांधी जी ने दूसरे गोलमेज सम्मेलन को संबोधित करते हुए सितंबर, 1931 में कहा : "मैं भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस का एक अदना-सा प्रतिनिधि हूं और यह अच्छा होगा कि हम इस बात का स्मरण करें कि कांग्रेस क्या है और इसके क्या आदर्श हैं, तब आप मुझे अपनी सहानुभूति देंगे, क्योंकि मैं जानता हूं कि जो दायित्व मेरे कंधों पर है वह बहुत बड़ा है। अगर मैं गलती नहीं कर रहा हूं तो कांग्रेस भारत का सबसे पुराना राजनैतिक संगटन है। यह संगठन लगभग 50 साल पुराना है और इस अवधि में यह बिना व्यवधान के अपने वार्षिक अधिवेशन करता रहा है। यह राष्ट्रीय संगठन है। यह किसी एक समुदाय का, एक वर्ग का या किसी विशेष हित का प्रतिनिधित्व नहीं करता है। यह सभी भारतीय हितों और सभी वर्गों के प्रतिनिधित्व का दावा करता है। मुझे यह कहते हुए बहुत प्रसन्नता होती है कि इसकी प्रथम कल्पना एक अंग्रेज मस्तिष्क ने की। एलन ऑक्टावियन ह्यूम को हम कांग्रेस के जनक के रूप में जानते हैं। इसका लालन-पालन दो महान पारसियों – फिरोजशाह मेहता और दादाभाई नौरोजी ने किया, जिन्हें सारा भारत अपने महान बुजुर्ग कह कर प्रसन्न होता है। प्रारंभ से ही इस संगठन में मुसलमानों, ईसाइयों, ऐंगलो-इंडियनों को बल्कि मैं कहूंगा सभी धर्मों, फिरकों और पंथों को पूरा प्रतिनिधित्व मिला है। दिवंगत बदरुद्दीन तैयब जी ने अपने को कांग्रेस में आत्मसात कर लिया था। मुसलमान कांग्रेस के अध्यक्ष रहे हैं और पारसी भी। इस समय कम से कम एक भारतीय ईसाई का स्मरण मैं कर सकता हूं; यह हैं कालीचरण बैनर्जी, जिनसे बढ़कर सच्चा भारतीय मैंने नहीं देखा। इन्होंने भी अपने को कांग्रेस के साथ आत्मसात कर लिया है।"

वर्तमान में राष्ट्र और राष्ट्रपिता का असली अर्थ : कहा जा सकता है कि गांधीजी यहां कांग्रेस के प्रथम अध्यक्ष उमेश चंद्र बैनर्जी का जिक्र करना भूल गए, जो ईसाई धर्म के अनुयायी थे। आधुनिक राष्ट्र की कल्पना भारतीय इतिहास में नई थी। यह केवल भौगोलिक एकता पर आधारित नहीं है और न ही धार्मिक विश्वास की एकता पर। यह सांस्कृतिक एकता पर भी नहीं बनी है। यह राजनैतिक एकता की चेतना पर खड़ी है जिसे एकीकृत राज्य के ढांचे के रूप में प्राप्त किया जाना था। ऐसे भारत का निर्माण अभिप्रेत था जिसमें परस्पर निरंतर लड़ने वाले सैकड़ों प्रभुसत्ता संपन्न राज्य न हों। सरदार पटेल द्वारा 500 से अधिक रजवाड़ों का एकीकरण इस बात का प्रमाण है कि हमारी राष्ट्रीयता एक वास्तविकता बन गई थी।

सुभाषचंद्र बोस अनजान मूर्ख नहीं थे। वे भारत के सबसे वीर पुत्रों में थे। जब उन्होंने महात्मा गांधी को राष्ट्रपिता कहा तो वे जानते थे कि वे क्या कह रहे हैं। (नेताजी सुभाषचंद्र बोस, ब्लड बाथ, मूलरूप से सिंगापुर से प्रकाशित, पुनर्मुद्रण लाहौर, 1947। देखें नेताजी का रेडियो प्रसारण 6 जुलाई, 1944, पृ. 55)। वे जानते थे कि गांधी वर्तमान एकीकृत राष्ट्र और राज्य के आदर्श के सर्वश्रेष्ठ प्रतीक थे और अन्य सबसे ऊपर गांधी जी ही थे जिन्होंने सत्याग्रह की तकनीक से भारत के कोने-कोने में राजनैतिक चेतना जगाई और दबी हुई निहत्थी जनता को स्वतंत्रता के संघर्ष में भाग लेने के योग्य बनाया। जिन लोगों ने स्वतंत्रता के संघर्ष में कोई योगदान नहीं दिया और जिन्होंने दूसरे मुक्ति आंदोलन (इमर्जेंसी के खिलाफ आंदोलन) में जेलों से सैकड़ों माफीनामे लिखकर आंदोलन को कलंकित किया वे यह बात नहीं समझ सकते कि नेताजी सुभाषचंद्र बोस ने महात्मा गांधी को राष्ट्रपिता क्यों कहा था। उन्होंने गांधी को भारतीय सभ्यता, संस्कृति या भारतीय धार्मिक परंपरा का पिता नहीं कहा। उन्होंने गांधी को राष्ट्र का पिता कहा, सौ राज्यों में बंटे देश का नहीं बल्कि एक संविधान, एक एकीकृत शासनतंत्र और एक सेना वाले राष्ट्र का पिता।

परिशिष्ट

1. महात्मा गांधी : डा. लोहिया की नजर में

समग्र मन से गांधीजी का अध्ययन करते हुए मैं इस सरसरी निष्कर्ष पर पहुंचा हूं कि महात्मा गांधी साधनों और साध्य के समान महत्व को स्थापित करने वाला इतिहास का प्रयास हैं। उन्होंने जो भी लक्ष्य सामने रखा और जो भी साधन अपनाए, उनके द्वारा सब लोगों को यह सिखाया कि कैसे नैतिकता और विवेक के रास्ते से सामाजिक लक्ष्य को प्राप्त किया जा सकता है।

मैं इसके सारे निहितार्थों को तत्काल नहीं समझा। पहले तो मैंने गांधी जी को सुदूर गगन के तारे के रूप में देखा जिसमें आदर्श के शुद्ध सौंदर्य की चमक हो और जिसका प्रकाश जीवन तक पहुँचने में कुछ सदियों का समय लगने वाला हो। महात्मा गांधी मूल विचार नहीं, एक संशोधन जैसे लगते थे। जीवन और समाज का कार्य अपने लगभग अनिवार्य गति के नियमों, हितों के जबर्दस्त टकराव और उसके परिणामस्वरूप होने वाले युद्धों और क्रांतियों तथा स्वार्थी और निःस्वार्थी सभी प्रकार के व्यक्तियों के गुणात्मक ह्रास के साथ चल रहा था। इनके खिलाफ गांधी की क्या संभावना हो सकती थी ? वे प्रेम और घृणा के विक्षुब्ध सागर के बीच संतुलित और शांत क्रिया के द्वीप के समान दिखाई देते थे – ऐसे द्वीप के समान जो बहुत जल्दी ही डूबने वाला हो। गांधी जी कोई ठोस आदर्श नहीं दिखाई देते थे, ऐसा आदर्श

जो सदियों में अनुबोध की श्रृंखला के रूप में प्रकट होता है।

गांधी जी एक प्रस्तावित विचार न होकर एक संशोधन थे; यह विचार बहुत चौंध वाला लगता था, पर मुझे इसकी भ्रामक शक्ति का कुछ बोध था। क्या मानव जाति को नया स्वरूप देने वाले सभी संत-महात्मा और वैज्ञानिक एक तरह से संशोधन नहीं रहे हैं ? और इस बात से इन्कार नहीं किया जा सकता कि गांधी भारत को नया रूप देने वाले व्यक्ति रहे हैं। उन्होंने मात्र एक ऐसे पंथ की स्थापना नहीं की जो एकांत धार्मिकता में जीता है अपितु उन्होंने उन करोड़ों लोगों को सक्रिय किया जिन्होंने अपने जीवन में अधार्मिकता को एक कोने में बंद कर दिया है।

('नेशनल हेराल्ड' 15 अक्तूबर, 1939)

2. महात्मा गांधी : डा. राजेन्द्रप्रसाद की नजर में

हमें इस अवसर पर महात्मा गांधी को प्रेम और आदर से स्मरण करना चाहिए जो विगत तीस वर्ष से अधिक समय से हमारे प्रकाश-स्तंभ, मार्गदर्शक और दार्शनिक रहे हैं। वे हमारी संस्कृति और हमारी बनावट की उस चिरंतन आत्मा का प्रतिनिधित्व करते हैं जिसने भारत को इतिहास के सारे उतार-चढ़ावों में जीवित रखा है। उन्होंने हमें निराशा के दलदल से निकाला और हममें ऐसी भावना भरी कि हम न्याय के लिए, आजादी का अपना जन्मसिद्ध अधिकार प्राप्त करने के लिए उठ खड़े हुए। उन्होंने हमारे हाथों में सत्य और अहिंसा के बेजोड़ और अचूक हथियार दिए जिनसे हमने शस्त्रास्त्र के बगैर स्वराज का बहुमूल्य पुरस्कार जीता, ऐसी कीमत पर जिसे इन दिनों का इतिहास लिखते समय भारत जैसे विशाल और बड़ी आबादी वाले देश के लिए अविश्वसनीय माना जाएगा। हम उदासीन उपकरण थे जिनके साथ उन्हें काम करना पड़ा, लेकिन उन्होंने उत्कृष्ट कौशल, दृढ़ निश्चय और हमारे भविष्य एवं अपने हथियार तथा ईश्वर में अक्षय विश्वास के साथ हमारा नेतृत्व किया। आइये, हम उनके इस विश्वास पर खरे उतरें।

(14 अगस्त, 1947 को संविधान सभा के पांचवें सत्र के उद्घाटन के अवसर पर दिए गए भाषण का अंश)

3. महात्मा गांधी : जवाहरलाल नेहरू की नजर में

मित्रो और साथियो, हमारे जीवन का प्रकाश बुझ गया है और चारों तरफ अंधेरा छा गया है। मैं नहीं समझ पा रहा हूं कि आपसे क्या कहूं और कैसे कहूं। हमारे प्यारे नेता, हमारे राष्ट्र-पिता, जिन्हें हम बापू कहते थे, अब नहीं रहे। शायद मैं यह

गलत कह रहा हूं। तथापि, हम उन्हें उस रूप में नहीं देख सकेंगे जिस रूप में इतने वर्षों से उन्हें देखते आ रहे थे। हम उनके पास सलाह लेने के लिए और सांत्वना प्राप्त करने के लिए दौड़े-दौड़े नहीं जा सकेंगे और यह बहुत भारी आघात है, सिर्फ मेरे लिए ही नहीं, करोड़ों देशवासियों के लिए भी। मैं या दूसरे लोग जो भी कहें, उससे इस आघात की शिद्दत को कम करना कठिन होगा।

मैंने कहा, प्रकाश बुझ गया है। लेकिन मैं एक मायने में गलत था क्योंकि जो प्रकाश इस देश में चमक रहा था वह साधारण प्रकाश नहीं था। जो रोशनी इस देश को अनेक वर्षों से प्रकाशित कर रही थी वह आने वाले अनेकानेक वर्षों तक देश को प्रकाशित करती रहेगी और उसके बाद भी एक हजार साल तक देश में वह दिखाई देगी, सारी दुनिया उसे देखेगी और वह असंख्य हृदयों को सांत्वना देगी। वह रोशनी उस चीज की प्रतीक थी जो तत्काल वर्तमान से कुछ अधिक है। वह जीवंत और शाश्वत सत्यों की प्रतीक थी जो हमें सही रास्ते का स्मरण दिलाते हैं, हमें गलतियों से बचाते हैं और इस प्राचीन देश को स्वतंत्रता की ओर ले जाते हैं।

यह सब उस समय हुआ जब उन्हें करने के लिए बहुत कुछ बचा था। हम कभी सोच ही नहीं सकते कि वे अनावश्यक थे या उन्होंने अपना काम पूरा कर लिया था। लेकिन अब, विशेषकर जब हमारे सामने कई समस्याएं हैं, उनका हमारे बीच न होना हमारे लिए बहुत बड़ा हादसा है।

एक पागल आदमी ने उनकी जान ले ली। मैं उस आदमी को पागल ही कहूंगा जिसने उनकी हत्या की। तथापि पिछले वर्षों और महीनों में इस देश में काफी जहर फैला है और उस जहर ने लोगों के मन को प्रभावित किया है। हमें इस जहर का मुकाबला करना होगा और इसे समूल नष्ट करना होगा। हमें उन तमाम खतरों का सामना करना होगा जो हमें घेरे हैं और उनका मुकाबला पागलपन से या बुरे तरीके से नहीं, उस तरीके से करना होगा जो हमें हमारे प्रिय नेता ने सिखाया है।

पहली बात इस वक्त हमें यह याद रखनी होगी कि हम में से कोई भी गुस्से में आकर गलत व्यवहार न करे। हमें शक्तिशाली तथा दृढ़निश्चयी राष्ट्र के अनुरूप आचरण करना चाहिए। हममें पक्का इरादा होना चाहिए कि हम चारों ओर मंडराए खतरों का सामना करेंगे, हम उस आदेश का पालन करेंगे जो हमारे महान गुरु और महान नेता ने हमें दिया है, हमेशा इस बात को ध्यान में रखते हुए कि, जैसा कि मैं मानता हूं, यदि उनकी आत्मा हमें देखती है तो उस आत्मा को तब बहुत दुख होगा जब हम ओछा व्यवहार करेंगे या किसी प्रकार की हिंसा का काम करेंगे।

(30 जनवरी, 1948 को आकाशवाणी से प्रसारित भाषण का अंश)

गांधी-द्वेष का नया अभियान

मुझे यह कहने में जरा भी हिचक नहीं है कि सामाजिक न्याय और समता की ताकतों और जन्म-आधारित वर्णव्यवस्था से प्राप्त सदियों पुराने विशेषाधिकारों के पक्षधरों के बीच जो तीव्र द्वंद्व इस समय चल रहा है उसमें मेरी पूरी सहानुभूति अनुसूचित जातियों-जनजातियों और पिछड़े वर्गों के प्रति है। लेकिन मुझे इस बात से बहुत तकलीफ होती है कि दलित वर्गों के कई नेता बिलावजह आये दिन महात्मा गांधी को बदनाम कर रहे हैं। मैं खुद महात्मा फुले, नारायण गुरु, पेरियार रामास्वामी नायकर, डा. अंबेडकर, डा. लोहिया और जाति-विहीन समाज के अन्य समर्थकों का प्रशंसक रहा हूं। लेकिन इन नेताओं के प्रति प्रशंसा भाव के कारण मुझे उन महात्मा गांधी को गाली देना जरूरी नहीं लगता, जो दीन-दुखी मानवता के सार्वजनीन नेता थे। उन्होंने अनुसूचित जातियों, अनुसूचित जनजातियों, स्त्रियों, निर्धन किसानों, शोषित मजदूरों – सबकी भलाई के लिए काम किया। वे भारत के सभी मजहबी समुदायों के बीच शांति और सद्भावना के समर्थक थे। उन्होंने दबे हुए और निहत्थे लोगों को सिविल नाफरमानी का शक्तिशाली हथियार दिया। डा. अंबेडकर की तरह वे वयस्क मताधिकार के जबर्दस्त समर्थक थे और अनुसूचित जातियों, जनजातियों तथा स्त्रियों को वोट का अधिकार देना चाहते थे। अनुसूचित जातियों और पिछड़े वर्गों के कई नेताओं का यह आरोप गलत है कि महात्मा गांधी ने 1931-32 में शूद्रों को वोट का अधिकार देने का विरोध किया था और जब अंग्रेजों ने 18 अगस्त, 1932 को उन्हें वोट का अधिकार दिया तो उन्होंने अनशन कर दिया। वास्तविकता यह है कि अंग्रेजों ने 'शूद्रों और अतिशूद्रों' को वयस्क मताधिकार नहीं दिया। चर्चिल ने तो इसका घोर विरोध किया था। स्वयं ब्रिटेन में साधारण लोगों को वयस्क मताधिकार के लिए अनवरत लड़ाई लड़नी पड़ी थी।

ऐसा लगता है कि महात्मा गांधी पर यह सरासर झूठा आरोप इन नेताओं ने सुनी-सुनायी बातों के आधार पर लगाया है और उन्हें सही स्थिति की जानकारी नहीं है। ऐसी बात है तो उन्हें तुरंत अपनी गलती सुधारनी चाहिए। यदि उन्होंने जानबूझ कर यह झूठा आरोप लगाया है तो मैं इतना कहूंगा कि ऐसे द्वेषपूर्ण पूर्वग्रह दलितों को उस ब्राह्मणी व्यवस्था से मुक्त करने में सहायक नहीं होंगे जिसके लिए ये नेता अपने को समर्पित बताते हैं।

मैं यहां मताधिकार के सवाल पर महात्मा गांधी और डा. अंबेडकर के विचारों को साथ-साथ प्रस्तुत करूंगा। जब मोंटफोर्ड सुधारों पर बात चल रही थी तो डा. अंबेडकर ने साउथबरो समिति के समक्ष अनुसूचित जातियों के लिए मताधिकार की

योग्यता की सीमा घटाने की जोरदार वकालत की। दलितों की शोचनीय स्थिति को ध्यान में रखते हुए डा. अंबेडकर ने कहा कि हमारा लक्ष्य मताधिकार की योग्यता की सीमा को नीचे लाना होना चाहिए। उन्होंने कहा, "उन्हीं लोगों तक मताधिकार को सीमित करना गलत होगा जो इसका समझबूझ के साथ उपयोग कर सकते हैं। मताधिकार का उपयोग अपने में शिक्षा है।" (डा. अंबेडकर्स राइटिंग्स एंड स्पीजेच : खंड एक, पृष्ठ 255 और 266)

लगभग एक दशक बाद डा. अंबेडकर साइमन कमीशन के समक्ष उपस्थित हुए और उन्होंने संयुक्त निर्वाचक मंडल की स्वीकृति को वयस्क मताधिकार के साथ जोड़ दिया। बातचीत इस प्रकार हुई :

कर्नल लेन फाक्स : आपने प्रत्येक ज्ञापन में दलित वर्गों के लिए विशेष प्रतिनिधित्व की मांग की है। आप वयस्क मताधिकार मांगते हैं। जाहिर है कि आप यह अधिकार आदिवासियों और अपराधी जातियों आदि के लिए भी मांगते हैं तो यह और भी बड़ी बात होगी। तो क्या ये अधिकार बड़ी संख्या के लिए हैं या छोटी संख्या के लिए ?

डा. अंबेडकर : मैं ये अधिकार दलित जातियों के लिए मांग रहा हूं।

कर्नल लेन फाक्स : क्या आदिवासी और अपराधी जातियों के लिए भी ?

डा. अंबेडकर : मैं नहीं समझता कि उन्हें वयस्क मताधिकार दिया जा सकता है। हम वयस्क मताधिकार के साथ सीटों का आरक्षण मांगते हैं।

अध्यक्ष : और अगर वयस्क मताधिकार न मिले तो ?

डा. अंबेडकर : तब हम पृथक निर्वाचक मंडल चाहेंगे।

(वही, खंड दो, पृष्ठ 463 और 465)

मई 1945 तक डा. अंबेडकर आदिम जातियों के लिए वयस्क मताधिकार और सीटों के आरक्षण का विरोध करते रहे, इस आधार पर कि इन आदिम जातियों में अपने हित में राजनीतिक शक्ति का उपयोग करने की आवश्यक क्षमता नहीं है। उन्होंने कहा कि वे सब दीन-दुखी लोगों का नेता होने का दावा नहीं करते। जिंदगी छोटी है और उनकी शक्ति भी सीमित है, अतः उन्होंने अस्पृश्यों के अधिकारों तक ही अपने को सीमित रखा है। हालांकि वे मानते हैं कि इसके अलावा और भी अच्छे उद्देश्य हैं। (सोर्स मैटीरियल आन डा. अंबेडकर, खंड एक, पृ. 297-298 और 300-301)

महात्मा गांधी अनुसूचित जातियों को पृथक निर्वाचन मंडल देने के विरुद्ध थे, किंतु वे उन्हें वोट का अधिकार देने के निश्चय ही पक्ष में थे। कांग्रेस के कराची अधिवेशन (1931) में मूलभूत अधिकारों और आर्थिक परिवर्तनों के संबंध में जो प्रस्ताव पास हुआ था उसका प्रारूप मुख्य रूप से गांधीजी ने तैयार किया था और

इस प्रस्ताव में जो मूलभूत अधिकार गिनाये गये थे उनमें वयस्क मताधिकार, मुफ्त प्राथमिक शिक्षा और कृषि-दासता से मुक्ति के अधिकार शामिल थे। 1928 के कलकत्ता अधिवेशन में भी गांधीजी ने नेहरू रिपोर्ट का समर्थन किया था जिसमें वयस्क मताधिकार की मांग की गयी थी। 'यंग इंडिया' में 16 जुलाई, 1931 को लिखे एक लेख में गांधीजी ने सांप्रदायिक समस्या के संबंध में कांग्रेस की योजना का समर्थन किया, जिसमें कहा गया था कि मताधिकार सभी वयस्क स्त्री-पुरुषों को दिया जायेगा और भारत के भावी संविधान में संयुक्त निर्वाचन मंडल को प्रतिनिधित्व का आधार बनाया जायेगा।

गांधीजी ने गोलमेज सम्मेलन की संघीय ढांचा समिति (फेडरल स्ट्रक्चर कमेटी) को बताया कि वे वयस्क मताधिकार के समर्थक हैं : "वयस्क मताधिकार कई कारणों से आवश्यक है। मेरी दृष्टि से एक निर्णायक कारण यह है कि इससे मैं न केवल मुसलमानों की बल्कि तथाकथित अस्पृश्यों, ईसाइयों, मजदूरों और सब वर्गों की उचित आकांक्षाओं को संतुष्ट कर सकता हूं।" गांधीजी ने कहा कि वे वोट का अधिकार पैसे वालों या शिक्षित लोगों तक सीमित नहीं रखना चाहते, क्योंकि मानवता के कई सुंदर उदाहरण निर्धन लोगों में और अस्पृश्यों में मिलते हैं। यदि लिखने-पढ़ने की शर्त को मताधिकार की पूर्वशर्त बनाया जायेगा तो मुझे अनंत काल तक प्रतीक्षा करनी पड़ेगी जिसके लिए मैं बिलकुल तैयार नहीं हूं।

हैराल्ड लास्की, जेएफ होराबिन, एचएन ब्रेल्स फोर्ड तथा अन्य लोगों के साथ अपनी बातचीत में गांधीजी ने 3 दिसंबर, 1931 को कहा कि वे वयस्क मताधिकार के बिना संतुष्ट नहीं होंगे : "मैं एक झटके में अस्पृश्यों को महान शक्ति से संपन्न करना चाहता हूं।"

महात्मा गांधी के विचार शुरू से लेकर जीवन के अंत तक अपरिवर्तित नहीं रहे। अहिंसा के सिद्धांत और दुखी मानवता की सेवा के आदर्श को छोड़कर अन्य बातों में गांधीजी न केवल बदलने के लिए तैयार थे, बल्कि अपने लंबे सार्वजनिक जीवन के दौरान उन्होंने अपने विचारों में परिवर्तन किये भी। शुरू के जीवन में वे वर्ण-व्यवस्था के समर्थक रहे, लेकिन बाद में वे इतना बदल गये कि सवर्ण-हरिजन विवाहों और बिना धर्म-परिवर्तन के धार्मिक समुदायों के बीच विवाहों के उत्साही समर्थक बन गये। अतः हमारे लिए उन सभी की सेवाओं का स्मरण करना और उनसे प्रेरणा ग्रहण करना उचित होगा जिन्होंने कमजोर और दबे हुए वर्गों की भलाई के लिए काम किया है। ऐसे लोगों में एक ठक्कर बापा भी थे। संविधान के लागू होने के दिन से ही ठक्कर बापा ने अनुसूचित जातियों, जनजातियों तथा अन्य पिछड़े वर्गों से संबंधित प्रावधानों को लागू करने के लिए लगातार जोर डालना शुरू कर दिया था। अतः हमें कृतज्ञतापूर्वक उन लोगों को स्मरण करना चाहिए जिन्होंने

दलित-शोषित वर्गों की अपने-अपने ढंग से लड़ाई लड़ी है। उनके प्रति द्वेषपूर्ण बातें कदापि नहीं कहनी चाहिए।

इस संदर्भ में डॉ. भीमराव अंबेडकर ने 1945 में साम्प्रदायिक समस्या का जो समाधान प्रस्तुत किया था उस पर तफसील में जाकर विचार करना दिलचस्प होगा।

डॉ. अंबेडकर ने अंग्रेजों द्वारा मुसलमानों के तुष्टीकरण की नीति की जोरदार आलोचना की। उन्होंने मुसलमानों के प्रति कांग्रेस के उदार रवैये पर भी खेद प्रकट किया। यह रवैया अंग्रेजों के विरुद्ध संयुक्त मोर्चा बनाने की कांग्रेस की इच्छा से मुख्यतया प्रेरित था। अंबेडकर ने कहा , मुसलमानों की मांगों की कोई सीमा नहीं है और उन्हें दी जाने वाली रियायतों की भी कोई सीमा नहीं है। उन्होंने लिखा:

> "जनसंख्या के आधार पर पृथक प्रतिनिधित्व की मांग की गई। उसे मान लिया गया। उसके बाद प्रतिनिधित्व में भारांक (वेटेज) की मांग की गई। उसे भी मान लिया गया। फिर (मुस्लिम बहुसंख्यक प्रांतों में) अन्य अल्पसंख्यकों के ऊपर सांविधिक बहुमत की मांग और इस बहुमत के लिए पृथक निर्वाचक मंडल की मांग आई। इसे भी मान लिया गया। बाद में मांग की गई कि अन्य सम्प्रदाय का बहुमत शासन सर्वदेशीय स्तर पर बर्दाश्त नहीं किया जा सकता, अतः अन्य अल्पसंख्यक समुदायों पर उसका बहुमत शासन बनाए रखते हुए सर्वदेशीय स्तर पर अन्य सम्प्रदाय के बहुमत को बराबरी पर लाया जाए। यह अंतहीन मांगों और अंतहीन तुष्टीकरण की नीति है। दूसरी ओर एक समुदाय है जो आर्थिक दृष्टि से निर्धन, सामाजिक दृष्टि से अवनत, शैक्षिक रूप से पिछड़ा है; जो शोषित है, दलित है; जिसे बिना लज्जा और पश्चात्ताप के सताया गया है; जिसे सरकार ने भी नहीं अपनाया और जिसे कोई सुरक्षा अथवा संरक्षण प्राप्त नहीं है और न न्याय, निष्पक्षता तथा समान अवसर की गारंटी है। (बाबा साहेब अंबेडकर : राइटिंग एण्ड स्पीचिज, बंबई, 1979, ए. 366)

इसके बाद डॉ. अंबेडकर ने विधान मंडलों में विभिन्न समुदायों के लिए प्रतिनिधित्व की अपनी योजना रखी। यहां उदाहरण के रूप में केन्द्रीय एसेंबली और कुछ राज्यों के प्रस्तावित प्रतिनिधित्व के आंकड़े दिए जा रहे हैं जहां आदिवासी (अनुसूचित जनजातियों की) जनसंख्या काफी अधिक है :

समुदाय	**प्रतिनिधित्व प्रतिशत**
केंद्रीय एसेंबली	
हिन्दू	40
मुस्लिम	32
अनुसूचित जातियां	20

भारतीय ईसाई	3
सिख	4
ऐंग्लों-इंडियन	1

बिहार

हिन्दू	40
मुस्लिम	30
अनुसूचित जातियां	28
भारतीय ईसाई	2

असम

हिन्दू	40
मूस्लिम	39
अनुसूचित जातियां	19
भारतीय ईसाई	2

उड़ीसा

हिन्दू	40
अनुसूचित जातियां	36
मुस्लिम	22
भारतीय ईसाई	2

इस योजना में आदिवासियों को कोई प्रतिनिधित्व नहीं दिया गया है, जो आश्चर्यजनक है। इसके संबंध में डॉ. अंबेडकर ने कहा :

> जाहिर है मेरे प्रस्तावों में आदिवासियों को योजना से बाहर रखा गया है हालांकि उनकी आबादी सिखों-ऐंग्लोंइंडियनों और भारतीय ईसाइयों तथा पारसियों से अधिक है। मैं इसका कारण बताना चाहता हूँ कि मैंने उन्हें अपनी योजना से क्यों छोड़ा। आदिवासियों में अभी राजनैतिक चेतना विकसित नहीं हुई है जिसकी वजह से वे राजनैतिक अवसरों का अच्छा इस्तेमाल नहीं कर सकते और वे किसी बहुसंख्यक या अल्पसंख्यक समुदाय के हाथों का खिलौना आसानी से बन सकते हैं और इस प्रकार वे स्वयं कोई लाभ प्राप्त किए बिना संतुलन को बिगाड़ सकते हैं।

अंबेडकर की योजना के पीछे विचार था कि सवर्ण हिन्दुओं (त्रैवर्णिकों तथा शूद्रों और आदिवासियों सहित) की कीमत पर अनुसूचित जातियों का प्रतिनिधित्व बढ़ाया जाए। उनका साफ इरादा था कि अनुसूचित जातियां ऐसी स्थिति में आ जाएं जहां वे वेटेज और प्रतिनिधित्व के चतुर उपयोग द्वारा हिन्दुओं और मुसलमानों के बीच संतुलन बनाने का खेल खेल सकें। यह नितांत संकीर्ण दृष्टि थी जो

आदिवासियों या अनुसूचित जनजातियों के लिए बहुत अन्यायपूर्ण थी। ठक्कर बापा गोखले की सर्वेंट्स आफ इंडिया सोसायटी के सदस्य थे तथा अस्पृश्यता निवारण और आदिवासियों के कल्याण के आंदोलन में गाँधी जी के निकट सहयोगी थे। उन्होंने **टाइम्स आफ इंडिया** में पत्र लिखकर अंबेडकर का इस बात के लिए जोरदार विरोध किया कि उन्होंने आदिवासियों के हितों की उपेक्षा की। अंबेडकर का यह कहना कि आदिवासी अशिक्षित हैं, किसी को आश्वस्त नहीं कर सकता था। अंबेडकर ने साउथबरो समिति के समक्ष खुद यह दलील दी थी कि वोट का अधिकार स्वयं शिक्षा है। इसके अतिरिक्त अनुसूचित जनजातियों में कई शिक्षित और योग्य व्यक्ति थे, भले ही अंबेडकर उन्हें न जानते हों, जैसे दक्षिण बिहार के जयपाल सिंह। डॉ. अंबेडकर द्वारा आदिवासियों को नगण्य मानना संकीर्ण दृष्टि का परिचायक था। निस्संदेह, इसके मूल में सवर्णों द्वारा तथाकथित पंचमों पर हजारों साल का अत्याचार था। तथापि स्वाधीन भारत के संविधान में हमारे राष्ट्रीय नेतृत्व ने अनुसूचित जनजातियों को अनुसूचित जातियों के समान वोट का अधिकार, विधान मंडलों में प्रतिनिधित्व और सरकारी नौकरियों तथा शिक्षण संस्थाओं में आरक्षण दिया जो सही ही हुआ। महात्मा गाँधी ने अपने को अनुसूचित जातियों या हरिजनों का रक्षक कहा, किंतु वे सभी गरीबों और निम्न स्थिति वालों के मित्र थे, जिनमें हरिजन, अनुसूचित जनजातियां, अपराधी जातियां, पिछड़े वर्ग, कारीगर, बुनकर और बाकी सब आते हैं। वे सारी मानव जाति के मित्र और रक्षक थे। ऐसे महापुरुष पर कीचड़ उछालना, उसे मनुवादी और दलितों का शत्रु कहना, अनर्गल ही नहीं घृणित भी है। यह निश्चय ही विकृत मन का लक्षण है।

गांधीजी के प्रभाव के कारण ही कई नेताओं ने अनुसूचित जातियों और अनुसूचित जनजातियों को जनसंख्या के अनुपात में सीटों के आरक्षण (संविधान के अनुच्छेद 330) और वयस्क मताधिकार को माना था। इन समूहों से लोकसभा में एक बटा पांच से अधिक सदस्य आते हैं। हम गांधी द्वारा शुरू के जीवन में वर्ण व्यवस्था के पोषण को उनके खिलाफ उसी तरह इस्तेमाल नहीं कर सकते हैं जैसे हम अंबेडकर द्वारा 1928 से 1945 की अवधि मे आदिवासियों और तथाकथित अपराधी जातियों को वयस्क मताधिकार तथा प्रतिनिधित्व देने के विरोध को अंबेडकर के खिलाफ इस्तेमाल नहीं कर सकते। जिस संविधान को डा. अंबेडकर ने संसद में प्रस्तुत किया उसमें अनुसूचित जातियों और अनुसूचित जनजातियों के साथ लोकसभा और विधानसभाओं तथा सरकारी नौकरियों में आरक्षण के मामले में समान व्यवहार किया गया है। अतः राष्ट्र को महात्मा गांधी और डा. अंबेडकर दोनों का सम्मान करना चाहिए।

अम्बेडकर और गांधी : एक व्यर्थ विवाद

मैं स्वीकार करता हूं कि बहुजन समाज पार्टी के नेताओं ने सामाजिक न्याय के संघर्ष में महात्मा गांधी की ऐतिहासिक भूमिका पर जो विवाद खड़ा किया है उससे मुझे बहुत दुख हुआ है। मुझे बसपा प्रवक्ताओं द्वारा बहुत उग्र और आक्रामक भाषा के प्रयोग से विशेष रूप से कष्ट हुआ है। वे महात्मा गांधी को अनुसूचित जातियों और पिछड़े वर्गों के शत्रु के रूप में पेश कर रहे हैं। यह सत्य का उपहास है। निपट पूर्वाग्रह की तुलना गहन अध्ययन और अनुसंधान पर आधारित निष्कर्षों से नहीं की जा सकती। वे यह मानकर चल रहे हैं कि वे डा. भीमराव अम्बेडकर के नाम पर बोल रहे हैं। लेकिन वे भूल जाते हैं कि डा. अम्बेडकर ज्ञान और विद्वत्ता को सब बातों से ऊपर मानते थे। वे नायक-पूजा के भी सख्त खिलाफ थे। वे मानते थे कि "नायक-पूजा भक्त का मनोबल भी कम करती है और देश के लिए भी खतरनाक होती है।" मैंने जाति-प्रथा के अन्यायी स्वरूप को छोटी उम्र से समझ लिया था और कालेज के दिनों से ही डॉ. अम्बेडकर का प्रशंसक बन गया था, बावजूद इस बात के कि आमतौर पर समाचारपत्र उनके विरोधी थे।

दृष्टिकोण का अंतर : महात्मा गांधी और डॉ. अम्बेडकर के दृष्टिकोणों में निश्चय ही बहुत अंतर था। किन्तु उनकी भूमिकाओं के वस्तुनिष्ठ मूल्यांकन से हम इस निष्कर्ष पर पहुंचे बिना नहीं रह सकते कि दोनों अपने-अपने तरीके से एक ही लक्ष्य के लिए प्रयत्नशील थे।

यहां कुछ तथ्यों का स्मरण अप्रासंगिक नहीं होगा। महात्मा गांधी के आगमन से पूर्व कांग्रेस का अपने में सामाजिक समस्याओं से कभी सरोकार नहीं रहा। तथापि, भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के प्रारंभिक दिनों में कांग्रेस अधिवेशन के साथ-साथ सोशल कांफ्रेंस का भी अधिवेशन होता था और इन दो संस्थाओं के बीच तब तक कोई टकराव नहीं रहा जब तक तिलक के अनुयायियों ने कांग्रेस के पंडाल में सोशल कांफ्रेंस का अधिवेशन करने का विरोध नहीं किया। कांग्रेस से संबद्ध संस्था के रूप में सोशल कांफ्रेंस का यह अंत था। दो दशकों के भीतर स्थिति बिल्कुल उलट गई। 1919-20 में गांधी ने कांग्रेस को राजनैतिक और सामाजिक क्षेत्रों में परिवर्तन का साधन बना दिया। गांधी ने सामाजिक सुधार का अपना संघर्ष 1932-33 में तेज किया।

गांधी ने 1933 में अम्बेडकर से अपने नये पत्र 'हरिजन' के लिए संदेश मांगा। अम्बेडकर ने लिखा :

"अस्पृश्य जाति-प्रथा की उपज हैं। जब तक जातियां रहेंगी तब तक

अस्पृश्य रहेंगे। जाति-प्रथा के विनाश के अलावा कोई चीज अस्पृश्यों को मुक्त नहीं कर सकती । जब तक इस घृणित और विषाक्त सिद्धांत से हिन्दू धर्म को मुक्त नहीं किया जाएगा तब तक कोई चीज आनेवाले संघर्ष में हिन्दुओं को नहीं बचा सकती।''

डॉ. अम्बेडकर मानते थे कि जाति एक विचार है, मन की एक स्थिति है। अतः जाति के विनाश के लिए वैचारिक परिवर्तन, मानसिक क्रांति आवश्यक है। वास्तविक उपचार की शुरूआत शास्त्रों में लोकास्था को खत्म करने से होनी चाहिए। लोगों को समतामूलक दृष्टिकोण अपनाने के लिए तैयार करना होगा।

गांधी जी अम्बेडकर के इस मत से सहमत नहीं थे कि वर्ण-व्यवस्था के विनाश के बिना अस्पृश्यता समाप्त नहीं हो सकती। व्यक्तिगत तौर पर वे अपने को अस्पृश्यता के खिलाफ संघर्ष तक सीमित रखना चाहते थे। उन्होंने कहा कि बहुत संभव है इस संघर्ष के अंत में वर्णाश्रम के खिलाफ युद्ध की कोई जरूरत ही न रह जाए। किन्तु यदि तब भी वर्णाश्रम व्यवस्था कुरूप रही तो सारा हिन्दू समाज उसके खिलाफ लड़ेगा। नम्रता और खुला मन गांधी जी के दो बड़े प्यारे गुण थे। अपने उत्तर के अंत में उन्होंने अम्बेडकर को लिखा : ''मुझे उम्मीद है कि अध्याय के अंत में हम दोनों अपने को एक ही खेमे में पाएंगे ।''

उसी वर्ष मंदिर-प्रवेश को लेकर गांधी और अम्बेडकर में एक और संवाद हुआ। गांधी ने उनसे कहा कि वे हिन्दू धर्म का पूर्वाग्रहरहित अध्ययन करें और यदि वह जरूरत की घड़ी में उन्हें बल प्रदान न करे तो बेशक उसे छोड़ दें। गांधी स्वयं यह महसूस करते थे कि हरिजनों को मंदिर-प्रवेश के अधिकार से वंचित किए जाने का उन्हें गहरा दुख है। हजारों हरिजनों को इस बात का गहरा दुख है। ''इसमें कोई शक नहीं कि उनकी आर्थिक और शैक्षिक स्थितियों में सुधार होना चाहिए। लेकिन इन स्थितियों में कोई भी सुधार हो जाये, उससे उन्हें धार्मिक समानता नहीं मिलेगी। यह समानता कानून से भी प्राप्त नहीं की जा सकती बल्कि तभी प्राप्त की जा सकती है जब सवर्ण हिन्दुओं का हृदय-परिवर्तन होगा।''

भारत के अतीत और उसके द्वारा अपनी स्वतंत्रता की रक्षा न कर पाने के तथ्य की ओर इशारा करते हुए डा. अम्बेडकर ने कहा, "हिन्दू समाज अपनी रक्षा करने में तभी समर्थ हो सकता है जब वह जाति-विहीन समाज बने।...'' उन्होंने हिन्दुओं से अपील की कि वे इस बात पर विचार करें कि उन्हें अपनी सारी सांस्कृतिक धरोहर को ज्यों का त्यों अपनाए रखना है या केवल उपयोगी बातों को चुनना है और केवल उसे ही अगली पीढ़ियों को देना है। तथापि, अम्बेडकर ने इस बात पर जोर दिया कि जाति-प्रथा को तोड़ने का एकमात्र उपाय है अतंर्जातीय विवाह : ''इसके अलावा कोई चीज जाति को समाप्त करने का काम नहीं कर

सकती।.....रक्त-मिश्रण से भाईचारे की भावना पैदा हो सकती है। इसके बिना सगोत्र जाति की भावना समाप्त नहीं हो सकती।"

सनातन धर्म के प्रति शुरू में बहुत लगाव होने के बावजूद गांधी जी हिन्दू समाज की असली कमजोरी की ज्यादा देर उपेक्षा नहीं कर पाए। बहुत वर्ष पहले उन्होंने अस्पृश्यता के खिलाफ युद्ध घोषित किया था। इस युद्ध की जरूरतों के कारण ही उन्हें हिन्दू समाज के सड़े-गले ढांचे के खिलाफ युद्ध का नया मोर्चा खोलना पड़ा। अस्पृश्यता के खिलाफ अविरल संघर्ष ने ही उन्हें दलित वर्गों को हिन्दू समाज से बाहर करने के प्रयासों का विरोध करने के लिए बाध्य किया। उन्होंने पृथक निर्वाचक-मंडल के खिलाफ अपनी जान की बाजी लगा दी, किंतु जब उनका मुख्य उद्देश्य प्राप्त हो गया तो वे प्रतिनिधित्व के सवाल पर अनुसूचित जातियों के साथ उदार समझौता करने को तैयार हो गए। इसी तरह अस्पृश्यता-उन्मूलन के अपने दृढ़-निश्चय के तर्क के आधार पर ही उन्होंने हिन्दू समाज के भेदभाव के किलों पर हमला किया, विशेषकर शादी और सहभोज की पाबंदियों पर और इसके लिए न उन्हें शाकाहारी भोजन छोड़ने की जरूरत महसूस हुई और न व्यक्तिगत स्वच्छता-स्वास्थ्य के अच्छे नियमों को छोड़ने की। इस प्रकार अंत में गांधी जी को अपनी स्थिति के अंतर्जात विरोधों का सामना करना पड़ा। उन्हें अपने इस विश्वास को छोड़ना पड़ा कि हिन्दुओं को अपने खानदान का पेशा ही करना चाहिए और अपनी जाति के अंदर विवाह करना चाहिए। जब उन्होंने जन्म पर आधारित वर्णाश्रम को अंततः छोड़ा तो वे न सिर्फ सवर्ण-हरिजन विवाहों का बल्कि अंतर्धर्मीय विवाहों का भी अनुमोदन करने लगे। उनके अपने बेटे ने ब्राह्मण लड़की से विवाह किया और गांधी जी ने आशीर्वाद दिया। गांधी जी की मृत्यु के बाद डा. अम्बेडकर ने एक सवर्ण महिला से शादी की। सरदार पटेल ने डा. अम्बेडकर से कहा : आज यदि गांधी जी जीवित होते तो इससे उन्हें खुशी होती। डा. अम्बेडकर ने भी इससे सहमति जताई । वे जानते थे कि गांधी जी अनुसूचित जातियों के हितैषी थे। उन्होंने गांधी जी के सचिव प्यारेलाल से भी कहा था कि मेरे अंतर्वर्णीय विवाह से 'बापू' को प्रसन्नता होती।

इस तरह अपनी हत्या से पूर्व गांधी जी उसी स्थिति पर पहुंच गए थे जिस पर डा. अम्बेडकर इस महान बहस के पूर्व थे। मैं यह भी उल्लेख करना चाहता हूँ कि आजादी से पहले डा. अम्बेडकर आदिवासियों को न केवल वयस्क मताधिकार देने बल्कि विधानमंडलों में प्रतिनिधित्व देने के भी खिलाफ थे। जिस प्रकार गांधी ने वर्णव्यवस्था के संबंध में अपनी पुरानी धारणाओं को त्यागा, उसी तरह डा. अम्बेडकर ने भी अनुसूचित जनजातियों के संबंध में अपने विचारों में संशोधन किया।

संविधान निर्माण : जहां तक संविधान निर्माण की बात है, यह सुविदित है कि

कांग्रेस का संविधान सभा पर प्रभावी नियंत्रण था। किंतु उसने पार्टी के हित को राष्ट्र के हित के ऊपर नहीं रखा। उसने संविधान सभा में विख्यात गैर-कांग्रेसियों को भी शामिल किया। डा. अम्बेडकर को सरदार पटेल द्वारा संविधान सभा में लाया गया। संविधान-निर्माण में कांग्रेस की प्रमुख भूमिका पर डा. अम्बेडकर ने खुद जोर दिया है। उन्होंने माना कि प्रारूप समिति के अध्यक्ष के रूप में चुने जाने पर उन्हें सुखद आश्चर्य हुआ। उन्होंने कहा कि कांग्रेस के अनुशासनपूर्ण ढंग से काम करने के कारण ही संविधान का प्रारूप आसानी से पारित हुआ।

संविधान ने दलित वर्गों के हाथ में शक्तिशाली हथियार दिए हैं, जैसे–अनुसूचित जातियों और जनजातियों का वयस्क मताधिकार तथा विधानमंडलों में आरक्षित सीटें, अनुच्छेद 15 और 16 के अंतर्गत शिक्षा के अवसर और सरकारी नौकरियों में आरक्षण आदि। यह सब इसलिए संभव हुआ क्योंकि गांधी जी ने कांग्रेस को सिखाया था कि वह सामाजिक न्याय को अपनी नीति का केंद्र बनाए। गांधी जी दलितों, अल्पसंख्यकों, पिछड़े वर्गों तथा स्त्रियों के शत्रु नहीं थे, जैसा कि बसपा नेता आरोप लगाते हैं। वे उनके सबसे बड़े हार्दिक मित्र थे।

सामाजिक न्याय के प्रवक्ताओं ने उन टकरावों की अनदेखी की है जो पिछड़े वर्गों और अनुसूचित जातियों के बीच चल रहे हैं। इसी तरह वे उन विसंगतियों को भी नहीं देख पा रहे हैं जो पिछड़े वर्गों, अनुसूचित जातियों और अनुसूचित जनजातियों में अपने ही बीच आर्थिक हितों और सत्ता की साझेदारी को लेकर उभर रही हैं। जब तक इनका समाधान नहीं होता और व्यापक नीतियों तथा कार्यक्रम वाला एक मंच नहीं बनता तब तक आंतरिक गड़बड़ी का खतरा रहेगा और उत्तर प्रदेश में सपा-बसपा की सफलता का दुखद परिणाम होगा। मात्र नारों और आक्रामक भाषा से कोई लाभ नहीं होगा।

गांधी-द्रोही अंबेडकरवाद नकली है

भारत में गांधी-द्रोहियों की एक जमात रही है। स्वतंत्रता-पूर्व के दिनों में यह विशेष रूप से पश्चिमी भारत में दिखाई देती थी। इस जमात में हिंदू महासभाई भी थे, सावरकरवादी भी और राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ की पृष्ठभूमि के लोग भी अर्थात् यह एक अजीब जमावड़ा था। गांधी के आगमन से कुछ लोगों के ब्राह्मणत्व के गर्व को बड़ी ठेस लगी थी। उन्हें यह बात लज्जाजनक लगी कि एक बनिया उन्हें राजनीति का पाठ पढ़ाए। नाथूराम गोडसे इस जमात का एक अत्यंत उग्र, रुग्ण और

विकर्षक नमूना भर था।

उत्तरप्रदेश के पूर्व भाजपाई मुख्यमंत्री कल्याण सिंह अपने को नेताजी सुभाषचंद्र बोस से भी अधिक महान, बुद्धिमान और सूक्ष्मद्रष्टा मानते हैं। महात्मा गांधी को राष्ट्रपिता का संबोधन बड़े आदर के साथ नेताजी ने दिया था। कल्याण सिंह को इस पर सख्त एतराज है और वे गांधी जी को आधुनिक भारत के निर्माता के रूप में स्वीकार नहीं करना चाहते ।

सबसे आश्चर्यजनक और दुखद बात बसपा के नेता कांशीराम और उनकी सहयोगी मायावती द्वारा गांधी के खिलाफ शुरू किया गया दुष्प्रचार है। उत्तरप्रदेश विधानसभा में पांच दर्जन से कुछ अधिक सीटें जीतकर, और वह भी मुलायम सिंह की समाजवादी पार्टी के साथ मिलकर, उनका अहंकार इतना बढ़ गया है कि उन्होंने औचित्य की सारी सीमाओं को तोड़ दिया है। उनका अनवरत द्वेष-प्रचार अनुसूचित जातियों को कोई लाभ नहीं पहुंचा सकता। वास्तव में इससे उन्हें बहुत नुकसान हो सकता है। खेद की बात है कि यह सब डॉ. अंबेडकर के नाम पर किया जा रहा है।

डॉ. अंबेडकर प्रखर विद्वान और ज्ञान के परम उपासक नेता थे। उन्होंने ज्ञान को सर्वोच्च प्राथमिकता दी। सामाजिक न्याय के छद्म मसीहाओं और नकली समर्थकों ने इस द्वेषपूर्ण अभियान की उपेक्षा की है, इस डर से कि गांधी के पक्ष में बोलने से उनका वोट-बैंक छिनेगा। मसीहा के चोले के भीतर, दिल के अंदर वे सत्ता की भूख को छिपाए हुए हैं। किंतु जीत अंततः सत्य की ही होती है।

यह सही है कि जब भारत में अंग्रेज छाए हुए थे तो आबादी के बहुत से तबके सहायता और सुविधा के लिए उनकी तरफ देखते थे। मुसलिम लीग ने यह किया और कुछ फिरकापरस्ती की भावना वाले ईसाइयों और सिखों ने भी ऐसा ही किया। कुछ गैर-ब्राह्मण समूह भी अंग्रेजों की तरफ झुके। केवल पारसियों के छोटे समुदाय ने उनकी सहायता लेने से इंकार किया। जहां तक दलित वर्गों की बात है, उनकी स्थिति बहुत ही दयनीय थी और यह स्वाभाविक ही था कि उन्होंने ब्रिटिश शासन से नये संवैधानिक उपायों में अपने हितों की रक्षा के लिए सहायता ली। डॉ. अंबेडकर ने उस समय के पार्टी-झगड़ों और आलोचना-प्रत्यालोचना में भी खुलकर भाग लिया और दलित वर्गों के अधिकारों की रक्षा का भरसक प्रयास किया। किंतु जब अंग्रेजों ने अंततः सत्ता-हस्तांतरण का निर्णय लिया तो एक बड़ा परिवर्तन आया और डॉ. अंबेडकर ने दलितों की पुरानी राजनीति की व्यर्थता को समझने की व्यावहारिकता दिखायी। उन्होंने सरदार पटेल की मिलजुलकर काम करने की पेशकश को स्वीकार किया और संविधान बनाने में सहयोग दिया। जिस नये संविधान को बनाने में उन्होंने मदद की उसमें दलितों के लिए वे सभी प्रावधन किये

गये, जिन्हें वे चाहते थे, जैसे – विधायिकाओं में सीटों का आरक्षण, संयुक्त निर्वाचक मंडल की पूर्व शर्त के रूप में वयस्क मताधिकार, शिक्षा और सरकारी नौकरियों में आरक्षण, अस्पृश्यता का उन्मूलन और इसके व्यवहार को अपराध करार देना, आदि।

डॉ. अंबेडकर ने आजादी से पहले कांग्रेस के विरुद्ध या गांधी के विरुद्ध क्या कहा, आज यह सब प्रासंगिक नहीं है। प्रासंगिक है उनके द्वारा 1948 के बाद गांधी की भूमिका का मूल्यांकन। अपने अंतिम 18 महीनों में गांधी घृणा और हिंसा के तूफान से गुजरे और उन्होंने राष्ट्र के गहरे जख्मों को सीने का काम किया। वे खुद भी घृणा के अभियान का शिकार हुए।

डॉ. अंबेडकर महात्मा गांधी के बहुआयामी योगदान से परिचित थे। राष्ट्र के स्वंतत्रता आंदोलन के नेता के रूप में अधिकांश भारतीय उनका सम्मान करते थे। कई लोग उन्हें संत-महात्मा के रूप में आदर देते थे। कुछ पश्चिमी विद्वान उन्हें धरती पर अवतरित ईसा मसीह की तरह का व्यक्तित्व मानते थे। कुछ उन्हें अहिंसा का संदेश देने वाला नया मसीहा मानते थे। किंतु स्वतंत्रता-प्राप्ति के पहले ही अंबेडकर ने इसे स्वतःप्रमाणित मान लिया था कि 'गांधी अहिंसा या स्वराज के समर्थक के रूप में अपनी प्रतिष्ठा से अधिक महत्व अस्पृश्यों के रक्षक के रूप में अपनी प्रतिष्ठा को देते थे।' (अंबेडकर के लेख और भाषण, खंड 9 पृष्ठ 4-5)।

डॉ. अंबेडकर अस्पृश्यता की समाप्ति के संबंध में निराशावादी थे। उनकी निराशा का कारण था उनके द्वारा इस असाधारण बुराई का विश्लेषण। 16 सितंबर 1954 को राज्यसभा में अनुसूचित जातियों और जनजातियों के आयुक्त की तीसरी रिपोर्ट पर बोलते हुए उन्होंने कहा :

"अस्पृश्यता क्या है ? हमें इसे भलीभांति समझ लेना चाहिए। जहां तक मैं समझता हूं, अस्पृश्यता हिंदुओं का एक तरह का मानसिक रोग है।... यह मस्तिष्क की गांठ है। हर हिंदू मानता है कि छूआछूत बरतना ठीक है।... मैं नहीं समझता कि हिंदुओं को कैसे दोष दिया जा सकता है। हजारों साल उन्हें यह गंदा नियम सिखाया गया है और उनके मन में यह बात घर कर गयी है कि अस्पृश्यता बहुत पवित्र चीज है।... इसे तुम छुओ, उसे मत छुआ, यह मत खाओ, वह मत खाओ आदि-आदि। तो स्थिति यह है और हम इतना ही कर सकते हैं कि ऐसी व्यवस्था करें जिससे हिंदुओं के दिमाग की यह गांठ सार्वजनिक जीवन में प्रवेश करके नागरिक स्वतंत्रताओं में बाधक न बने।"

अतः डॉ. अंबेडकर का विचार था कि यह बुराई खत्म नहीं होगी। बहरहाल, यह सालों-साल चलेगी क्योंकि यह मन की उलझन का मामला है। उन्होंने कहा कि "हमें ऐसी व्यवस्था लाने का जोरदार प्रयत्न करना चाहिए कि अस्पृश्यता जाए या

न जाए, पर अनुसूचित जातियों के सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक और संवैधानिक अधिकार पूरी तरह सुरक्षित रहें। हमारे प्रयास इस लक्ष्य की ओर निर्देशित होने चाहिए।"

इसके बाद अंबेडकर ने चकित कर देने वाला एक सुझाव रखा। उन्होंने नमक कर फिर से लागू करने का सुझाव दिया, जिसे महात्मा गांधी की स्मृति में समाप्त कर दिया गया था। जब यह समाप्त किया गया था तो इसका राजस्व 10 करोड़ रुपये था, अब (1954 में) दोबारा लागू करने पर राजस्व 20 करोड़ होगा। अंबेडकर ने कर पुनः लागू करने का अनुरोध सरकार से करते हुए कहा – "मैं गांधी जी का आदर करता हूं। मेरा अनुरोध है कि सरकार अनुसूचित जातियों के कल्याण के लिए, उनके विकास और पुनर्वास के लिए, इस राशि से गांधी न्यास निधि बनाए। आखिर, हम सब यह बात मानते हैं कि अस्पृश्यों के प्रति उन्हें सबसे अधिक प्यार और लगाव था और वे निश्चय ही स्वर्ग से उन लोगों की भलाई के लिए बनी इस योजना को आशीर्वाद देंगे जिन्हें वे संरक्षण प्रदान करना तथा ऊपर उठाना चाहते थे।"

गांधी जी जब 12 साल के थे तभी उन्होंने समझ लिया था कि अस्पृश्यता और अपवित्रता की संकल्पना पाप है। कालांतर में इस विचार ने उनके मन में दृढ़ विश्वास का रूप ले लिया। दक्षिण अफ्रीका में उन्हें जिन अपमानजनक स्थितियों से गुजरना पड़ा, उसने अस्पृश्यों की दशा के संबंध में उनकी आंखें खोल दीं जिन्हें हजारों साल तक दिन-प्रतिदिन और क्षण-प्रतिक्षण यह अपमान सहना पड़ा।

गांधी जी का व्यक्तित्व डॉ. अंबेडकर से बिल्कुल भिन्न था। गांधी जी ने मन की शांति और संयम की साधना की थी। जैसा कि लाला लाजपत राय ने कहा है, वे अपनी बात नम्र शब्दों में कहने में सिद्धहस्त थे। वे अपनी बात बड़े कौशल किंतु संयम के साथ रखते थे। दूसरी ओर डॉ. अंबेडकर अपनी बात असाधारण ओज और बल के साथ रखते थे। वे अतिशयोक्ति से भी परहेज नहीं करते थे। अतिशयोक्ति उनके लिए सामान्य बात थी।

दक्षिण अफ्रीका के उनके एक आलोचक ने, जो बाद में गांधी जी के निकट सहयोगी बने, 26 दिसंबर, 1896 को लिखा : "दक्षिण अफ्रीका के अधिकांश भारतीय मजदूर निम्न जाति के होने के कारण जाति-व्यवस्था की गुलामी से पीड़ित थे। यह भीतर की बुराई है। जो भी अपने देशवासियों की स्थिति को सुधारना चाहता है उसे पहले इस भीतरी बुराई को दूर करने का प्रयत्न करना चाहिए।" इस तीखे तीर ने गांधी के हृदय को बेध दिया। उन्हें यह इलहाम हुआ कि जब तक भारत के एक तबके को अछूत या पराया माना जाता रहेगा, तब तक उसके पुत्रों को विदेश में भी अछूत समझा जाएगा। अस्पृश्यता और अस्वच्छता की बुराइयों को

समूल नष्ट करने की उन्हें धुन सवार हो गयी। उनकी आत्मा इतनी आहत हुई कि अछूतों के साथ हुए दुर्व्यवहार के प्रायश्चितस्वरूप उन्होंने अंत में मल-मूत्र की सफाई का काम स्वयं करना शुरू किया, यह घोषणा करते हुए कि "भारत की आजादी प्रतीक्षा कर सकती है किंतु अस्पृश्यता का उन्मूलन प्रतीक्षा नहीं कर सकता।" (महात्मा गांधी : दि अर्ली फेज, खंड एक, प्यारेलाल, अहमदाबाद, 476-478)

गांधी जी ने अपने जीवन के अंतिम चरण में मिश्र विवाहों के संबंध में निम्नलिखित विचार प्रकट किए थे :

> "... मेरे विचारों में जैसे-जैसे विकास हुआ है उससे शायद आप परिचित नहीं होंगे। ये विचार मेरे सारे लेखन में परोक्ष रूप से मौजूद हैं, लेकिन हाल ही में ये अधिक स्पष्टता के साथ व्यक्त हुए हैं। अब शादियों में मेरी रुचि नहीं रह गई है, चाहे ये शादियां जाति के भीतर हों, अंर्जातीय हों या अंतर्प्रांतीय हों। इसलिए जहां तक संभव होता है, मैं शादियों के संबंध में कहीं कुछ नहीं कहता। ... मैं यह मानता हूँ कि यदि हम वर्णाश्रम धर्म की अच्छी बातों को बनाए रखना चाहते हैं तो प्रत्येक हिन्दू को शूद्र ही नहीं, अतिशूद्र भी बनना पड़ेगा और अपने को ऐसा मानना पड़ेगा। इसका सही सूचक यह होगा कि शादियां अतिशूद्रों और अन्य वर्णों के बीच होंगीं। ये शादियां मात्र संभोग सुख के लिए नहीं होंगीं; इनमें वे सभी व्रतसंयम अपनाए जाएंगे जो विवाह में निहित हैं।" (गांधी जी का वल्लभराम को पत्र, 4 दिसंबर, 1945, गांधी वाङ्मय (अंग्रेजी) खंड 82, पृ.182)
>
> "... जहाँ तक अंतर्भोज और अंतर्जातीय विवाहों की बात है, कांग्रेस-मन की मेरी समझ के अनुसार अंतर्भोज के मामले में कोई मतभेद नहीं है किंतु जब तक हम अपने को एक हरिजन नहीं मानते तब तक अस्पृश्यता के जहर को खत्म नहीं किया जा सकता। यदि कोई हरिजन से शादी करने के लिए तैयार नहीं होगा तो मैं उस शादी को आशीर्वाद नहीं दूंगा।..." (कांग्रेस कार्यकर्ताओं के साथ बातचीत, अमृत बाजार पत्रिका, 3.1.1946, गांधी वाङ्मय (अंग्रेजी), खंड 82, पृ. 326)

गाँधी जी से निम्न प्रश्न पूछे जाने पर उनका उत्तर :

प्रश्न : आप कहते हैं शादी का एक पक्ष हरिजन हो । आशा है आप अन्य प्रकार की शादियों को वर्जित नहीं मानते हैं।

उत्तर : यह अच्छा प्रश्न है। मैं अन्य प्रकार की शादियों को वर्जित नहीं मानता। मैंने एक आदर्श, एक व्यावहारिक लक्ष्य (सवर्ण-हरिजन विवाहों का) सामने

रखा है जिसे जल्दी से जल्दी प्राप्त करना हमारा कर्त्तव्य है। {पूना, 21 फरवरी, 1946, 'हरिजन' 3.3.1946, गांधी वाङ्मय (अंग्रेजी), खंड 83, पृ. 160}

क्या कोई स्वस्थ मानसिक क्षमताओं वाला व्यक्ति गांधी जी के इन क्रांतिकारी विचारों की तुलना मनुस्मृति के विचारों से कर सकता है ? गांधी जी को मनुवादी कहकर उनकी आलोचना करना कांशीराम और मायावती की मानसिक स्थिति को प्रतिबिंबित करता है। इससे आधुनिक भारत के निर्माण तथा सामाजिक न्याय की उपलब्धि में गांधी जी का महान योगदान कम नहीं होगा।

अत्यंत धार्मिक प्रवृत्ति के व्यक्ति होने के कारण गांधी ने हिंदुओं के भीतर छिपी इस बुराई को मन की गांठ नहीं, पाप कहा। दोनों का अर्थ एक ही है। वे जानते थे कि इस बुराई का उन्मूलन सिर्फ कुछ संवैधानिक और सामाजिक-आर्थिक उपायों से नहीं होगा। इसके लिए हिंदुओं के विकृत मन को बदलना होगा। गांधी और अंबेडकर दोनों का विश्लेषण और समाधान एक जैसा था। यह गांधी के निकट बौद्धिक सहयोगी जवाहरलाल के मत से भिन्न था जिन पर आर्थिक संबंधों और उन पर खड़े ढांचे की मार्क्सवादी कल्पना हावी थी। जवाहरलाल ने न केवल स्वतंत्रता के पहले बल्कि 5 साल स्वतंत्र भारत के प्रधानमंत्री रहने के बाद भी 1952 में अंहकारपूर्वक घोषणा की थी : "मैं नहीं मानता कि हमारे यहां अस्पृश्यों की पृथक कोई समस्या है। आम समस्या आर्थिक दृष्टि से गरीबों की है और अछूतों की समस्या उसी का एक हिस्सा है। इसे अन्य समस्याओं के साथ रखा और देखा जाएगा। इनकी तरफ विशेष ध्यान देने का न तो अवसर है और न प्रयोजन।"

मार्क्सवादी बुद्धिजीवियों और नेताओं की इस अनर्गल प्रस्थापना को न तो गांधी स्वीकार कर सकते थे और न अंबेडकर। हममें से अधिकांश समाजवादी डॉ. राममनोहर लोहिया और अन्य नेताओं के मार्गदर्शन में महात्मा फुले, महात्मा गांधी और डॉ. अंबेडकर के शिविर में शामिल हुए। अतः मैं अनुसूचित जातियों, जनजातियों और अन्य पिछड़े वर्गों के भाई-बहनों से कहना चाहूंगा कि वे नकली अंबेडकरवादियों से सावधान रहें। उन्हें असली अंबेडकर को गले लगाना चाहिए जो गांधी जी की अंतरात्मा के एक मायने में रक्षक थे।

अध्याय दो

गैट-विरोधी अभियान

भूमंडलीकरण और पश्चिम के गैर-आर्थिक हथियार

बारहवीं सदी के किसी समय में विस्टुला के पश्चिम के देशों में यह बोध जाग्रत हुआ कि वे न केवल ईसाई होने के नाते एक समुदाय हैं बल्कि एक विशिष्ट पश्चिमी ईसाई कामनवेल्थ के सदस्य भी हैं जो रोम की कैथोलिक चर्च के एक सूत्र में बंधे हुए हैं । उन्होंने गोथिक कैथेड्रल का आविष्कार किया–पेरिस के निकट सेंट डेनिस पहली वास्तुकला-रचना थी, जो उनकी आकाशोन्मुख जिज्ञासा तथा आकांक्षा का प्रतीक था। पश्चिमी ईसाई संसार तब बर्बरता के युग को पार कर चुका था और गतिशील समाज बन गया था। सभ्यता रूपी ऊर्जा के अभूतपूर्व विस्फोट ने पश्चिमी देशों के लोगों को पृथ्वी के चारों कोनों में पहुंचा दिया। मानव-इतिहास में पश्चिम के वर्चस्व का प्रभाव अरबों के वर्चस्व से भी अधिक था, जो इस्लाम के अंतर्गत अरब कबीलों की एकता के बाद स्थापित हुआ।

शोधक प्रवृत्ति और आक्रामकता इस नई पश्चिमी शक्ति की विशेषताएं थीं। पश्चिमी देशों के धर्मयुद्धों ने दो सभ्यताओं के विशाल भूभाग को तहस-नहस किया–एक तो आर्थोडाक्स ईसाई सभ्यता को जिसकी राजधानी कस्तुंतूनिया थी और दूसरे मुस्लिम-तुर्की शासन के अंतर्गत सीरिया, फिलिस्तीन, लेबनान आदि को। धर्मयुद्ध विफल हुए, किंतु इससे पहले पश्चिमी ईसाइयों तथा ग्रीक आर्थोडाक्स चर्च के ईसाइयों के संबंध तथा ईसाइयों और मुसलमानों के संबंध बहुत कटु हो गये। ईसाई शासन के अंतर्गत आइवेरियन प्रायद्वीप के एक भाग को बलपूर्वक पुनः ईसाई बनाया गया।

अब तक पश्चिमी देशों ने टेक्नालाजी के क्षेत्र में बहुत प्रगति कर ली थी। जहाज-निर्माण और नौचालन में वे तेजी से आगे बढ़े और इसके बल पर उन्होंने नई-नई खोजें कीं। व्यापार का विस्तार किया और अमरीका के बड़े भूभाग में अपने उपनिवेश बना लिये। आग्नेयास्त्रों के आविष्कार तथा तोपखाने और सैनिक संगठन के सुधारों के कारण पश्चिमी देश जमीनी लड़ाई में भी अपनी श्रेष्ठता स्थापित करने में सफल हुए। 1529 ईस्वी में आटोमन तुर्कों के वियना-मुहासिरे की असफलता इस्लामी सभ्यता के सतत ह्रास और पश्चिम के विश्वव्यापी वर्चस्व के प्रारंभ का प्रतीक थी।

विश्व में अपना वर्चस्व स्थापित करने से लेकर पश्चिम ने अपने प्रभुत्व को बनाये रखने के लिए कई प्रकार के आर्थिक और गैरआर्थिक प्रमेयों-सिद्धांतों और युक्तियों का इस्तेमाल किया है (जो अंततः श्रेष्ठ सैनिक बल पर आधारित थीं), जैसे क्रास, मर्केंटिलिस्ट अर्थव्यवस्था (वाणिज्यवाद), मुक्त बाजार, संरक्षणवाद, मानव अधिकार, बाल श्रम के खिलाफ अभियान, स्वच्छता-स्वास्थ्य, सामाजिक औचित्य और पर्यावरण। स्पेन और पुर्तगाल के लोगों ने धर्मयोद्धाओं की तरह सलीब उठाया और ईसा–शांति के सम्राट–के नाम पर हिंसा व कपट के जरिये समुद्री साम्राज्य स्थापित किया।

मुक्त व्यापार का सिद्धांत ब्रिटेन की देन है, किंतु ब्रिटेन ने हमेशा मुक्त व्यापार का समर्थन नहीं किया। पहले वह वाणिज्यवादी सिद्धांत और व्यवहार का समर्थक था और अपनी स्थिति मजबूत करने के लिए राज्य के हस्तक्षेप का उपयोग करता रहा। ब्रिटिश कपड़ा उद्योग भारतीय कपड़े के आयात से इतना भयभीत था कि 1696 ईस्वी में हाउस आफ कामंस में भारतीय कपड़े पर रोक लगाने के लिए एक विधेयक लाया गया। भारतीय कपड़ा वहां इतना लोकप्रिय था कि एक समकालीन लोकगीत में भारतीय कपड़ा पहने महिलाओं के लिए कहा गया कि इन कपड़ों के लिए महिलाएं पागल हैं और वे प्रफुल्ल मोरों की तरह गलियों में बड़े गर्व से इनका प्रदर्शन करती फिरती हैं।

जब ब्रिटेन विश्व का कारखाना बन गया तब जाकर वह मुक्त व्यापार की महान खूबियों को देखने लगा। किंतु जर्मनी, अमरीका और जापान मुक्त व्यापार के समर्थक नहीं थे। वे संरक्षणवादी थे और लंबे समय तक संरक्षणवादी बने रहे। लेकिन अरक्षित भारत, जिसकी अर्थव्यवस्था 18वीं शताब्दी तक पूर्णतया स्वावलंबी थी, ब्रिटेन के साथ अपने संबंधों के भंवर में खिंचता गया और वह न तो अपने पुराने उद्योगों को सुरक्षित रख सका और न राज्य की सहायता से नये उद्योग शुरू कर सका।

मुक्त व्यापार के सिद्धांत को दो युद्धों के बीच की अवधि में आघात लगा।

भयानक मंदी (1929-32) के बाद अधिकांश देश संरक्षणवादी हो गये। नाज़ी जर्मनी की तानाशाही और स्टालिन का समाजवाद राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था को विश्व के आर्थिक संकट के प्रभाव से बचाने के आत्यंतिक प्रयास थे।

संरक्षणवादी नीतियां विश्वयुद्ध के बाद भी अपनाई जाती रहीं। साझा बाजार (अब यूरोपीय संघ) एक संरक्षणवादी गठजोड़ है। प्लास्टिक, फाइबर आदि नये पदार्थों और प्रतिवस्तुओं तथा सूचना और ज्ञान की नई क्रांति के साथ मुक्त व्यापार अब फिर लोकप्रिय होने लगा है। किंतु वास्तव में न अमरीका, न यूरोपीय संघ और न ही जापान अपनी अर्थव्यवस्था को खुला बनाना चाहते हैं। वे उरूग्वे के अंतिम दौर के प्रस्ताव (डंकल प्रस्ताव) को, जिस पर 15 अप्रैल 1994 को हस्ताक्षर होने हैं, दबाव के रूप में इस्तेमाल करना चाहते हैं ताकि विभिन्न रूपों में संरक्षणवाद का उपयोग करनेवाले तीसरी दुनिया के देशों को अपनी अर्थव्यवस्थाएं खोलने के लिए मजबूर किया जा सके (जैसे चीन में राज्य समाजवाद, भारत और अन्य देशों में भारी तटकर वाली मिलीजुली अर्थव्यवस्था)।

जहां तक शक्तिशाली और औद्योगिक दृष्टि से उन्नत देशों का सवाल है, इसकी जरा भी संभावना नहीं है कि वे ईमानदारी के साथ मुक्त व्यापार नीतियों को अपनायेंगे और विकासशील देशों के लिए बाजार खोलेंगे। इसके लिए उनके पास कई हथियार, प्रमेय, सिद्धांत और साधन हैं। अंतरराष्ट्रीय व्यापार संबंधों में भेदभावपूर्ण व्यवहार के लिए पश्चिमी देशों को कभी भी कठघरे में नहीं खड़ा किया जा सकता क्योंकि वे परंपरागत व्यापारिक हथियारों का इस्तेमाल नहीं करेंगे बल्कि अधिक प्रभावपूर्ण व्यापारेतर हथकंडों का इस्तेमाल करेंगे। उदाहरण के लिए, वे मानव-अधिकारों के सिद्धांत का इस्तेमाल करेंगे। इस बात से कौन इनकार कर सकता है कि यह संकल्पना सुंदर और महान है। इसके इस्तेमाल से आप मानव अधिकारों का उल्लंघन करनेवाले देशों के निर्यात पर प्रतिबंध लगा सकते हैं। पश्चिमी देशों ने तो कभी मानव-अधिकारों का दमन किया ही नहीं ! अमरीका में कभी दासप्रथा नहीं रही और न ही वहां अश्वेतों के साथ भेदभाव करने और उन्हें बेरहमी से मारने की घटनाएं हुईं ! हमें यह भी मानना होगा कि पश्चिमी सभ्यता ने नाज़ीवाद, फ़ासीवाद और रंगभेद को कभी जन्म नहीं दिया ! यह एक बुरा सपना मात्र था।

इसी तरह जबरन मजदूरी या बाल मजदूरी के खिलाफ मानवतावादी आंदोलन हैं। इनकी बात उठाने पर कौन मानवतावादी या नागरिक-स्वतंत्रतावादी आपत्ति कर सकता है ? शक्तिशाली चीनी गणतंत्र को भी अमरीका की यह अपमानजनक शर्त माननी पड़ी कि अमरीकी दल उन पांच जेलों का मुआयना करे जहां, अमरीका के आरोप के अनुसार, अमरीका के बाजार में डाला गया सामान बना है।

फ्रांस और यूरोपीय संघ के देश भारत के कालीनों को अपने यहां आने से रोकेंगे, जिनमें बाल-मजदूरी का उपयोग किया जाता हैं–निस्संदेह यह एक घृणित काम है। ब्रिटेन और फ्रांस ने तो कभी अपने कारखानों में बाल-मजदूरों का उपयोग किया ही नहीं ! कोई पूछ सकता है कि चार्ल्स डिकेंस और एचजी वेल्स ने बच्चों की जिन दर्दनाक स्थितियों का वर्णन किया है, वह क्या है ? जवाब मिलेगा कि यह सब कहानी-उपन्यासों की बातें हैं और वे नीली पुस्तकें, जिन पर मार्क्स अत्यधिक निर्भर रहे, काल्पनिक साहित्य हैं, न कि वास्तविक औद्योगिक स्थितियों का प्रतिबिंब। बहरहाल पश्चिम ने रहन-सहन का सभ्य स्तर बहुत पहले प्राप्त कर लिया था और क्या दूसरों को इन मानकों के अनुसार बनाना अब उनका पवित्र कर्तव्य नहीं है ? यह सिखाने का सबसे अच्छा तरीका यह है कि बाल-श्रमिकों द्वारा बनाये गये कालीनों को यूरोपीय बाजार से बाहर रखा जाये।

इसके अतिरिक्त स्वच्छता और स्वास्थ्य का न्यूनतम स्तर है। इनकी दुहाई देकर विकासशील देशों के गंदे और अस्वास्थ्यकर माल को दूर रखा जा सकता है क्योंकि इस माल के निर्माण में आवश्यक सफाई और स्वास्थ्य के नियमों का पालन नहीं किया जाता। डंकल प्रस्ताव में भी सैनिटरी और फाइटो-सैनिटरी विनियमों के प्रावधान हैं जिन्हें विकासशील देशों के खिलाफ इस्तेमाल किया जा सकता है। क्या विकासशील देशों के किसान कीटनाशक रसायनों का इस्तेमाल नहीं करते ? ठीक है, ये रसायन पश्चिमी देशों ने ही बनाये, लेकिन क्या अब इन्हें नुकसानदेह घोषित नहीं किया जा चुका है? अब हम अपने बाजार में इन प्रदूषित उत्पादों को कैसे आने दे सकते हैं ? गैट समझौते के दो अनुलग्नकों में इसका विस्तार से वर्णन हुआ है। इसमें कोई संदेह नहीं कर सकता कि यह मजबूत कारण है, क्योंकि सारा डाक्टरी विज्ञान इसका अनुमोदन कर सकता है।

हाल ही में यूरोप के देशों ने सामाजिक औचित्य के बहाने एक नये प्रगतिशील सिद्धांत का आविष्कार किया है। इसका प्रमुख नियम है कि जिन देशों के मजदूरों को सामाजिक सुरक्षा की पर्याप्त सुविधा उपलब्ध नहीं है, उन देशों के साथ उदार व्यापारिक संबंध नही बनाये रखे जा सकते। इस प्रकार के देशों के बारे में कहा जाता है कि वे 'सामाजिक शोषण' के द्वारा उत्पादित माल थोपते हैं क्योंकि निम्न श्रम-लागत के कारण वे उचित सामाजिक संरक्षण देनेवाले देशों को आर्थिक प्रतियोगिता में परास्त कर सकते हैं। अतः प्रतियोगियों की उत्पादन-लागत बढ़ाने के लिए सही सामाजिक नीतियोंवाले देश अपनी श्रम-संबंध प्रणाली, कार्यस्थल विनियमावली, नियोजन और वेतन नियमों, सामाजिक सुरक्षा प्रावधानों आदि को दूसरे देशों पर थोपना चाहते हैं–यह मानते हुए कि वे यह सब काम मजदूरों के विश्वजनीन अधिकारों के हित में कर रहे हैं (देखिए बेन स्टाइल का लेख–फारेन

अफेयर्स, खंड 73, संख्या एक, 1994)। क्या हमारे ट्रेड यूनियनों के अंतरराष्ट्रीयतावादी नेता इस सामाजिक औचित्य का विरोध कर सकते हैं ? लेकिन बात यहीं खत्म नहीं होती है। मानव का स्वस्थ आवास, वातावरण और पर्यावरण पश्चिमी देशों की एक और बड़ी चिंता है और इसीलिए यह उन्नत देशों का एक कारगर हथियार भी है। इस बात से क्या फर्क पड़ता है कि पश्चिमी देशों के आर्थिक तथा रक्षा कार्यक्रमों ने विगत काल में मानव की आवास स्थितियों को सबसे ज्यादा नुकसान पहुंचाया ! इससे भी क्या फर्क पड़ता है कि इन देशों ने धरती के सीमित संसाधनों का जो अंधाधुंध अपव्यय किया उसने वातावरण को सबसे अधिक हानि पहुंचायी है ! इससे भी क्या फर्क पड़ता है कि अमरीका सबसे ऊंची उत्सर्जन दर (20 मीट्रिक टन प्रति व्यक्ति) के लिए जिम्मेदार है और सबसे अधिक प्रदूषण फैलाता है ! अब पश्चिमी देश खतरे के प्रति जागरूक हो गये हैं। अगर तीसरी दुनिया के देश हमारी बात नहीं मानेंगे तो हमें घटिया प्रजाति के इन देशों पर प्रतिबंध लगाने पड़ेंगे।

यह है वह दुनिया जिसमें हम आज रह रहे हैं। सोवियत संघ और वारसा संधि के विघटन से ऐसी स्थिति पैदा हो गयी है कि विश्व के नेता (अमरीका) के महान सिद्धांतों, उसूलों और प्रमेयों को नजरअंदाज करना भयानक खतरे को आमंत्रित करना होगा। मैं स्वीकार करता हूं कि भूमंडलीकरण और मुक्त बाजार का स्तुतिगान करनेवालों का हर्षातिरेक और आर्थिक स्वतंत्रता छिनने का रोना रोनेवालों का प्रलाप दोनों ही मुझे हतप्रभ करते हैं।

जो डंकल-समर्थक उदारीकरण को लेकर हर्षोन्माद की स्थिति में हैं, उन्हें यह जान लेना चाहिए कि जहां तक भारतीय नौकरशाही और इंसपेक्टरों की फौज का सवाल है, यहां कुछ भी नहीं बदला है। चार दशकों से अधिक समय से संरक्षित बाजार के अभ्यस्त देशी उद्योगों को इससे बड़ा झटका लगेगा और वे बहुराष्ट्रीय कंपनियों की सहायक संस्थाएं बन कर रह जायेंगी। जिन लोगों ने दीवार पर लिखी इबारत को पढ़ लिया है उन्होंने अच्छी शर्तों पर समझौते कर भी लिये हैं। दूसरों को भी उनका अनुसरण करना पड़ेगा। हां, कुशल और कार्यक्षम उद्यम प्रतियोगिता की प्रेरणा के कारण वे जीवित रह सकते हैं तथा लाभ उठा सकते हैं।

निजी क्षेत्र दोष-मुक्त नहीं हैं। इनके मालिकों ने दक्षता की उपेक्षा की है और लागत को कम करने की कभी कोशिश नहीं की। उन्होंने उपभोक्ताओं को ही लूटा है। उन्होंने लॉबिंग पर ही सारा ध्यान दिया है, उद्योगों के अभिनवीकरण पर नहीं। वे यह भूल गये कि संरक्षण से लापरवाही, अदक्षता और उत्पादक संघवाद की प्रवृत्ति पनपती है और जो रोना रोते हैं, उनके लिए आत्मनिरीक्षण का प्रश्न ही नहीं उठता। वे आत्मदया में ही लौटना चाहते हैं। वे हमारे निजी क्षेत्र की कंपनियों के

बौनेपन का उपहास क्यों करते हैं? क्या हमने तीस साल तक उनकी उत्पादन क्षमताओं पर रोक लगाये रख कर उन्हें पंगु नहीं बनाया? क्या हमने बड़ी व्यापारिक कंपनियों के व्यापार और परिसंपत्तियों की वृद्धि को संदेह की नजर से नहीं देखा ? हमने श्रमिकों में कार्य-कुशलता और कार्य-वातावरण को हतोत्साहित किया। हमने फालतू कर्मचारियों की भर्ती, अनुपस्थितिवाद और कमजोरी को प्रोत्साहित किया और कठिन श्रम को तिरस्कार से देखा। क्या कारखाने के उत्पादन में वृद्धि, मार्क्सवादी मजदूर संघों के नेताओं के लिए जहर की तरह नहीं थीं ? क्या मुनाफे की वृद्धि पाप नहीं था ? क्या उत्पादन से जुड़ी वेतन-वृद्धि ईशद्रोह नहीं था ? हमने कोरे सिद्धांत के आधार पर निजी क्षेत्र का गला घोंटा और हमने प्रबंधकों तथा कर्मचारियों के लोभ और भ्रष्टाचार से सरकारी क्षेत्र और राष्ट्रीयकृत वित्तीय संस्थाओं को बर्बाद होने दिया। हमने उम्मीद की कि सार्वजनिक क्षेत्र लोकभावना और उद्यमशीलता के पूर्ण अभाव तथा लाल फीताशाही व अफसरवाद की अत्यधिक मात्रा के बावजूद सफल होगा। मुझे आशंका है कि सारी जनता उपभोक्तावाद पर बिक गई है। जब पद-प्रतिष्ठा, फैशन, सब के जैसा बनने का दबाव, सामाजिक स्वीकृति अथवा अस्वीकृति आदि कारक काम करने लगते हैं तो धनी तबकों के लिए कीमत का कोई महत्व नहीं रह जाता और जिन्हें कीमत भारी लगती है वे भी अनिवार्य जरूरतों को स्थगित करके इन वस्तुओं को खरीदते हैं। संक्षेप में जहां डंकल के समर्थक अनजान और भोले हैं वहीं विरोध करनेवालों में अधिकांश ढोंगी हैं।

अब समस्या बिल्कुल हमारे सामने है : न तो हम अपने अतीत को झुठला सकते हैं और न अपने भविष्य से मुंह मोड़ सकते हैं। इस बात का प्रतीकात्मक महत्व हे कि कोकाकोला ने अपने अभियान को पुनः शुरू करने के लिए मार्क्सवादियों के महानगरीय स्वर्ग (कलकत्ता) को चुना है। मार्क्सवादियों के वर्तमान पितृदेश चीन और कोकाकोका ने चीनी जनता की प्यास बुझाने का सम्मिलित उद्यम शुरू किया है। चीन में ही कैडबरी कंपनी चाकलेट का उत्पादन करेगी और कैम्बेल कंपनी सूप का उत्पादन। कोई आश्चर्य नहीं कि मार्क्सवादी इस विषय में चुप हैं।

पोथीपंथी कम्युनिस्टों का हठवाद

ब्रेझनेव युग के उत्कर्ष काल में सोवियत नेता सोवियत संघ के आर्थिक विकास के संबंध में असाधारण उत्साह व्यक्त करते थे। वे सोचते थे कि वे न केवल पुराने

पश्चिमी यूरोप के देशों को बल्कि अमरीका को भी पीछे छोड़ देंगे। ख्रुश्चेव युग के शुरू के वर्षों में भी विश्व के कम्युनिस्ट अपने भविष्य के बारे में बहुत आशावान थे। उनके 1960 के घोषणापत्र में कम्युनिस्ट प्रणाली की विश्वव्यापी सफलता की भविष्यवाणी की गयी थी। इसमें कहा गया :

"हमारे युग की यह प्रमुख विशेषता है कि विश्व समाजवादी प्रणाली समाज के विकास का निर्णायक कारक बन रही है।... विश्व पूंजीवादी प्रणाली विघटन और क्षय की तीव्र प्रक्रिया से गुजर रही है। पूंजीवाद सामाजिक प्रक्रिया के हित में आधुनिक विज्ञान और टेक्नालाजी की उपलब्धियों के उपयोग को अधिकाधिक बाधित कर रहा है।... समय दूर नहीं है जब विश्व के उत्पादन में समाजवाद का हिस्सा पूंजीवाद के हिस्से से अधिक हो जायेगा।... अब पूंजीवाद की बहाली न केवल सोवियत संघ में अपितु अन्य समाजवादी देशों में असंभव हो गयी है।"

सोवियत नेता आर्थिक प्रगति को कच्चा लोहा, ढलवां लोहा, इस्पात, कोयला और तेल के सफल उत्पादन के रूप में देखते थे। उनका विचार था कि देश के आर्थिक विकास के स्तर का सबसे उपयुक्त सूचक उसके द्वारा उत्पादित शक्ति है।

सोवियत प्रवक्ताओं ने उत्साहपूर्वक कहा कि सोवियत संघ अब कच्चा लोहा, कोक, कोयला, इस्पात पिंड, अलौह धातुओं, पेट्रोलियम और खनिज उर्वरकों जैसी महत्वपूर्ण औद्योगिक वस्तुओं के उत्पादन में अमरीका से आगे बढ़ गया है। सोवियत नेताओं की नजर में जापान का कोई महत्व नहीं था। सोवियत संघ की तुलना पश्चिमी दुनिया से, विशेषकर अमरीका से है। उन्होंने घमंड के साथ कहा कि पश्चिमी जर्मनी, इंग्लैंड, फ्रांस, और इटली कुल जितना लोहा और इस्पात ढालते हैं, अकेला सोवियत संघ उससे अधिक ढालता है। "1970 तक सोवियत संघ का उत्पादन अमरीका का तीन-चौथाई और 1974 तक उसका चार-बटा पांच हो गया।"

किंतु 1976 तक कोयला, इस्पात, तेल के उत्पादन को आर्थिक क्षमता का एक मात्र अथवा प्रमुख सूचक मानने वाले सोवियत संघ का मानदंड संदेहास्पद बनने लग गया था। डेढ़ दशक में यह औद्योगिक शक्तियों की क्षमता निर्धारित करने के लिए बिलकुल अप्रासंगिक हो गया।

रूस का ज़ार-शासन कभी अनाज का निर्यात करता था। किंतु स्टालिन की सामूहिक खेती की नीति ने सोवियत कृषि को पूरी तरह नष्ट कर दिया। अमरीका की आबादी का बहुत ही छोटा-सा हिस्सा खेती में लगा होने पर भी न सिर्फ अपनी जरूरत को पूरा करता था बल्कि बड़े पैमाने पर कृषि पदार्थों का निर्यात भी करता था। सोवियत संघ वर्षानुवर्ष अधिक अनाज आयात करता रहा, हालांकि उसकी 30 प्रतिशत आबादी कृषि में लगी थी जबकि अमरीका की तीन या चार प्रतिशत आबादी कृषि में लगी थी।

पोथीपंथी मार्क्सवादी और वे जो अपने को पश्चात्तापमुक्त कम्युनिस्ट कहते थे, पुराने दकियानूसी सिद्धांतों और उपर्युक्त कसौटी के साथ चिपके रहे। वे उत्साह के साथ सोवियत संघ के कोयला, इस्पात, तेल के उत्पादन के कीर्तिमानों और अमरीका के साथ परमाणु अस्त्रों की सफल दौड़ का उल्लेख करते रहे। वे पूंजीवाद के बढ़ते हुए बल्कि मरणांतक संकट, पूंजीवाद के अंतर्गत औद्योगिक मजदूरों के अधिकाधिक निर्धनीकरण तथा नया युग लाने वाले सर्वहारा मजदूरों की प्रमुख भूमिका के सिद्धांत को छाती से लगाये रहे।

उनके लिए केंद्रीय रूप से योजनाबद्ध अर्थव्यवस्था, सभी बड़े और मध्यम दर्जे के उद्योगों का राष्ट्रीयकरण, फैलते सरकारी क्षेत्र के माध्यम से अर्थव्यवस्था की ऊंचाइयों को नियंत्रित करने की रणनीति, कृषि का समूहीकरण या सहकारीकरण आदि बातें पवित्र गौएं थीं। कार्य-नैतिकता को भारतीय कम्युनिस्टों ने भयंकर पाप माना। जितनी ज्यादा छुट्टियां होंगी, श्रमिकों और राष्ट्र को उतना ही लाभ होगा; जितने ज्यादा बंद होंगे–चाहे वे शासक मार्क्सवादी पार्टी द्वारा बहुत मामूली मुद्दों पर क्यों न हों–उतना ही वे वर्ग-चेतना को प्रतिबिंबित करेंगे।

जापान इस समय विश्व की दूसरी बड़ी औद्योगिक शक्ति बना हुआ है। उसके पास न तो लौह धातु या अन्य धातुएं अथवा अन्य किस्म का कोयला है और न पेट्रोलियम संसाधन। बाहरी दबावों के कारण वह फ्रांस की तरह परमाणु शक्ति का विकास भी नहीं कर सका। वह लौह धातु, कोयला, तेल आदि कच्चे माल के लिए पूर्णतया आयात पर निर्भर रहा। वह कच्चे माल की कीमतों की तीव्र वृद्धि से हमेशा भयभीत रहा। 1973 में तेल निर्यातक देशों का संघ (ओपेक) बनने और तेल की कीमतों में भारी वृद्धि होने पर आखिर संकट ने उसे घेर लिया। किंतु तब तक जापान ने इस संकट से अपने को सुरक्षित बना लिया था। वस्तुतः इसकी तैयारी साठ के दशक से ही चल रही थी। तांबे के तारों के स्थान पर फाइबर ग्लास के तारों जैसे सस्ते और प्रभावकारी प्रतिपदार्थों के उत्पादन में मैटीरियल विज्ञान की क्रांति, ऊर्जा की बचत करने वाली तरकीबों और ज्ञान तथा सूचना की क्रांति ने जापान को इस संकट को पार करने में सक्षम बनाया। 1965 और 1985 के बीच, विश्वसनीय अनुमानों के अनुसार, जापान ने अपने औद्योगिक उत्पादन में ढाई गुना वृद्धि कर ली जबकि कच्चे माल और तेल की उसकी खपत वही रही जो 1965 में थी। इस दूसरी चमत्कारी क्रांति से सोवियत संघ अछूता ही रहा। वास्तव में इसके नेता इस क्रांति से बेखबर ही नहीं थे, वे इस तथ्य से भी अनजान रहे कि पेट्रोल, इस्पात सहित अपने विशाल कच्चे माल और संसाधनों का अंधाधुंध अपव्यय करके सोवियत संघ अपनी संभावी शक्ति का क्षय कर रहा है और इस तरह गहरे आर्थिक संकट तथा कालांतर में राजनीतिक पतन को आमंत्रित कर रहा है।

भारतीय कम्युनिस्ट भी, जो 'सर्वाधिक वैज्ञानिक सिद्धांत' से सन्नद्ध होने पर गर्व करते हैं और जिन्हें विदेशों के दस्तावेज, वक्तव्य, मोनोग्राफ, पत्र-पुस्तकें आदि उपलब्ध थीं (सोवियत संघ के साधारण कम्युनिस्टों को यह सामग्री उपलब्ध नहीं थी), इन युगांतरकारी घटनाओं से बेखबर रहे। मुझे मार्क्सवादी नेताओं की कोरी सिद्धांतवादिता और अज्ञानता की स्पष्ट झलक 1983 में कार्ल मार्क्स की मृत्यु शताब्दी के दौरान मिली थी। कामरेड श्रीनिवास सरदेसाई मार्क्सवाद की प्रासंगिकता पर एक परिचर्चा आयोजित करना चाहते थे और उन्होंने मुझसे चर्चा में भाग लेने के लिए बार-बार आग्रह किया। अस्वस्थ होने के बावजूद मैंने अपनी सहमति दे दी। बंबई विश्वविद्यालय के क्लब हाउस में संगोष्ठी हुई। वक्ताओं में मेरे अलावा डॉ. वीएम दांडेकर, उषा मेहता, बीटी रणदिवे थे। मैंने देखा कि सरदेसाई मेरे द्वारा सोवियत प्रणाली के खुले विश्लेषण से परेशान हुए। मैंने सोवियत संघ की केंद्रीय योजना, अफसरशाही, रक्षा-व्यवस्था पर भारी खर्च, सामूहिक खेती की विफलता, खाद्यान्नों के भारी मात्रा में आयात, गतिरुद्ध अर्थव्यवस्था और उपभोक्ता जरूरतों को पूरा न कर पाने के पहलुओं की तीखी आलोचना की। इसके बाद मैंने ज्ञान और सूचना की क्रांति और मैटीरियल साइंस की क्रांति की चर्चा की जो जापान, जर्मनी और अमरीका में सक्रिय थी और कहा कि सोवियत संघ की योजना बनाने वाले अपने विशाल संसाधनों का घोर अपव्यय कर रहे हैं। मैंने कहा कि सोवियत संघ के विदेश व्यापार ने औपनिवेशिक अदला-बदली का रूप ले लिया है और वह तेल और कच्चा माल देकर तैयार माल तथा मशीनरी आयात कर रहा है। इस आलोचनात्मक स्वर के साथ मैंने अपना भाषण समाप्त किया। एसजी सरदेसाई ने कुछ अशिष्टता दिखाते हुए बीटी रणदिवे को बोलने के लिए आमंत्रित किया और उनसे कहा कि वे हमारे द्वारा–मार्क्सवाद लेनिनवाद के सुधारवादी आलोचकों द्वारा – की गयी आलोचना का जवाब दें और इसके लिए वे जितना चाहें समय ले सकते हैं। कामरेड रणदिवे ने जोरदार आमसभा वाला भाषण दिया जिसमें उन्होंने मेरी सभी युक्तियों को तिरस्कार से नजरअंदाज किया और अहंकारपूर्वक घोषणा की कि मार्क्सवाद-लेनिनवाद की विश्व में जीत समीप है। मैं भारतीय कम्युनिस्ट आंदोलन के सबसे बड़े मार्क्सवादी-लेनिनवादी की कुंद सैद्धांतिक दलीलें सुन कर दंग रह गया। किंतु रणदिवे बहुत सज्जन व्यक्ति थे। वे समर्पित भावना से काम करने वाले थे और एसए डांगे से भिन्न वे गांधी की तरह सादगी से रहते थे। जब वे मृत्यु-शैया पर थे तो मैं उनसे मिलने गया। उन्होंने मूल्यों तथा आदर्शवाद आदि के ह्रास की बातें लगातार कीं। अतः जब मैंने उनसे विदा ली तो एक पैनी उदासी ने मुझे सुन्न-सा कर दिया। दुर्भाग्य से या सौभाग्य से उनका कुछ समय बाद ही देहांत हो गया और उन्हें सोवियत प्रणाली के संपूर्ण विघटन, चीन द्वारा पश्चिमी देशों के लिए अपनी अर्थव्यवस्था को खोलने, कोकाकोला सहित उसकी संस्कृति

को आमंत्रित करने तथा 'गेट' में शामिल होने की उसकी उत्सुकता जैसे परिवर्तनों को नहीं देखना पड़ा।

मुझे यह देखकर बहुत दुख होता है कि गत दस वर्षों के भीषण परिवर्तनों ने यहां के कम्युनिस्टों और मार्क्सवादियों पर कोई प्रभाव नहीं छोड़ा है। मैंने उनके हाल के प्रकाशनों को ध्यान से पढ़ा है और मुझे यह जानकर आश्चर्य हुआ कि उन्होंने तथाकथित चार मूल विसंगतियों पर अपना विश्वास दुहराया है। आज भी वे सर्वहारा की तानाशाही, पार्टी की प्रमुख भूमिका, लोकतांत्रिक केंद्रवाद और उत्पादन के प्रमुख साधनों के राष्ट्रीयकरण तथा केंद्रीकृत योजना पर पूरा यकीन रखते हैं। इससे पता चलता है कि वे अपने सिद्धांतों की समीक्षा करने को तैयार नहीं हैं। और इधर दुनिया उनके कोरे सिद्धांतों से प्रकाश-गति से दूर जा रही है। इसका परिणाम है उनकी कथनी और करनी में बढ़ती खाई । वस्तुतः उनके शासन और अन्य पार्टियों के शासन में कोई भेद नहीं है। मार्क्सवादी पार्टी का भी माफिया गिरोहों के साथ संबंध है, चुनावी धांधली से वह भी ऊपर नहीं है। और विभिन्न प्रकार के अल्पसंख्यक संप्रदायवाद के साथ प्रेम-अभिसार करने में उन्हें भी नैतिक बोध नहीं कचोटता, विशेषकर केरल में मुस्लिम कट्टरवादियों के साथ प्रत्यक्ष-परोक्ष गठबंधन करने में; वे केवल बहुसंख्यक सांप्रदायिकता को ही खतरनाक कहते हैं। यह विडंबना ही है कि जो आंदोलन न सिर्फ अखिल भारतीय परिप्रेक्ष्य का दावा करता रहा बल्कि विश्व परिप्रेक्ष्य की बातें भी करता रहा, वह भारत के पूर्वी और दक्षिणी दो कोनों में सिमट कर रह गया है। मुझे अब आशा नहीं है कि मार्क्सवादी कभी आत्मनिरीक्षण की ओर उन्मुख होंगे। कम्युनिस्ट अपने विचारों के छीजते भंडार की आपूर्ति करने को तैयार नहीं हैं और वे अपने जंग लगे पुराने सिद्धांतों की ही पूजा करते रहेंगे।

'बासी रोटी मत बेचो' : डॉ. लोहिया

एक समय था जब डॉ. राममनोहर लोहिया इस्पात और कोयले के उत्पादन को आर्थिक विकास का मोटे तौर पर सूचक मानते थे और इनके ऊँचे लक्ष्यों को योजनाबद्ध आर्थिक प्रयासों में केन्द्रीय स्थान देते थे। 1953 मे समाजवादी आंदोलन के इलाहाबाद सम्मेलन के लिए उन्होंने जो नीति वक्तव्य तैयार किया था उसमें समाजवादी सरकार के कार्यक्रम में इस्पात के उत्पादन को गौरव का स्थान दिया गया था। इसमें कहा गया :

'समाजवादी सरकार इस्पात उत्पादन की क्षमता 20 लाख टन बढ़ाएगी। इस समय इस्पात का उत्पादन 12 लाख टन है और यह मानते हुए कि समाजवादियों के सत्ता में आने तक यह 20 लाख टन हो जाएगा, समाजवादी सरकार देश की उत्पादन-क्षमता को 40 लाख टन करेगी। यह लगभग उतना होगा जो आजकल जापान का है। इस्पात का उत्पादन करनेवाले बड़े देशों की तुलना में, जैसे अमेरिका जिसका उत्पादन 3.5 करोड़ टन है, और अपनी विकेन्द्रित अर्थव्यवस्था की जरूरतों को देखते हुए यह उत्पादन बहुत कम होगा किन्तु उसके बाद तेजी से प्रगति का आधार बन चुका होगा।'

किंतु आर्थिक विकास ने जब एक निश्चित अवस्था को पार कर लिया और जब उसने विविधीकरण एवं परिवार के युग में प्रवेश किया तो इस्पात-उत्पादन आर्थिक, औद्योगिक तथा प्राविधिक शक्ति की एकमात्र अथवा प्रमुख कसौटी नहीं रह गया। मुझे यकीन है कि लोहिया इन नये परिवर्तनों की ओर ध्यान देते और वे अपने विचारों में संशोधन करते, विशेषकर मैटीरियल साइंस तथा ज्ञान एवं सूचना टेक्नोलाजी की क्रांति के संदर्भ में।

यह बात ध्यान में रखी जानी चाहिए कि डॉ. लोहिया हमेशा कुछ बातों पर जोर देते थे, जैसे : मानव संसाधनों का विकास जो प्रगति की सबसे बड़ी बाधा को प्रगति तेज करनेवाले कारक में बदल सकता है, प्रशिक्षण, डेस्कटॉप प्रिंटिंग जैसी छोटी इकाई की टेक्नोलाजी का आविष्कार और उपयोगी तथा वास्तविक सम्पत्ति का निर्माण।

डॉ. लोहिया बहुत जागरूक और खुले दिमाग के व्यक्ति थे और वे विश्व में होने वाले नये परिवर्तनों से अपने को सुपरिचित रखते थे। वे इन परिवर्तनों को अपने सिद्धांतों और वैचारिक दृष्टिकोण के संदर्भ में रख कर देखते थे। वे इन घटनाओं के मूल्यांकन के लिए अपनी सैद्धांतिक प्रस्थापनाओं का उपयोग करते थे और बदलती वास्तविकता की रोशनी में अपनी मान्यताओं में संशोधन करने से भी नहीं हिचकते थे। बी.टी. रणदिवे जैसे मार्क्सवादी सैद्धांतिकों की तरह वे नये तथ्यों और साक्ष्यों को अपनी पूर्वनिश्चित सैद्धांतिक चौखट में बिठाने के लिए उन्हें तोड़ते-मरोड़ते नहीं थे। कितनी ही बार मैंने उन्हें अपने अनुयायियों से यह कहते सुना है कि 'बासी रोटी मत बेचो, अपने तथ्यों और विचारों के संग्रह में नये तथ्यों और विचारों को जोड़ते रहो।'

दुर्भाग्य से लोहिया के कुछ अनुयायी फटे-पुराने कपड़े बेचने में कुशल हैं। वे उन विचारों औैर नारों को तोते की तरह दुहराते हैं जो उन्होंने पचास या साठ के दशक में या उससे भी पहले दिए थे। लोहिया उन बातों का उद्धरण देना पसंद नहीं करते थे जो मार्क्स, गाँधी या किसी अन्य व्यक्ति ने या खुद उन्होंने बहुत समय

पहले कहीं थीं। वे अपने मित्रों से कहा करते थे : 'अपने से पूछो कि उन्होंने यह बात किस संदर्भ में कही थी।' लोहिया जी किसी भी विचार या वक्तव्य को उसके ऐतिहासिक संदर्भ में देखते थे।

1965 में पूर्वी जर्मनी के मित्रों के आमंत्रण पर डॉ. लोहिया और मैं जर्मन लोकतांत्रिक गणराज्य देखने गए, जिसे उस समय सोवियत संघ की अर्थव्यवस्था का आदर्श माना जाता था। मुझे सोवियत संघ और पश्चिमी अर्थव्यवस्था की तुलनात्मक क्षमता संबंधी कई चर्चाओं में भाग लेने का अवसर मिला। लोहिया का विचार था कि पश्चिम की आर्थिक उपलब्धियां बेहतर रही हैं। यह स्वतःसिद्ध था किन्तु वे उस क्षय को नहीं देख सके जो सारे सोवियत विश्व में होने लगा था। पूर्वी जर्मनी के बाद मैंने सोवियत संघ का दौरा किया। मुझे साइबेरिया के भ्रमण की स्वीकृति मिल गई। मुझे अंगारा नदी पर स्थित विशाल बिजली परियोजना दिखाई गई और अत्याधुनिक रसायन कारखाने में भी ले जाया गया। वहाँ के सभी कर्मचारी स्त्री और पुरुष, युवावस्था के थे। उन्हें 25 प्रतिशत अधिक वेतन मिल रहा था और वे अपने फालतू समय में, लंच टाइम सहित, उच्च वैज्ञानिक तथा गणितीय अध्ययन करते थे। अंततः यह रासायनिक कारखाना मीठे पानी वाली महान बाइकल झील के लिए पर्यावरण–संकट बन गया। इस यात्रा में मैंने ऐसे कारखानों को भी देखा जो प्रथम विश्वयुद्ध से पहले की मशीनों से काम कर रहे थे। सोवियत अर्थव्यवस्था में अत्याधुनिक कारखानों के साथ-साथ अत्यधिक पुरानी मशीनों वाले कारखानों का विरोधाभास दिखाई दिया। तब भी दोनों प्रकार के कारखाने प्रथम औद्योगिक क्रांति के मानदण्डों के अनुसार काम कर रहे थे।

फिर भी पश्चिमी दुनिया में, विशेषकर अमेरिका, जापान, और जर्मनी में, परिस्थितियों बदल रही थीं; उग्र सामाजिक तथा आर्थिक उथल-पुथल किए बिना, चुपचाप एक नई क्रांति शुरू हो गई थी। ज्ञान और सूचना की क्रांति धीरे-धीरे जोर पकड़ रही थी जो अगले बीस सालों में विश्व-अर्थव्यवस्था में भारी परिवर्तन करने वाली थी।

डॉ. लोहिया का 1967 में निधन हो गया। पश्चिमी देशों, जापान और साम्यवादी अर्थव्यवस्थाओं की उपलब्धियों के संबंध में उनके विचार **'मार्क्स-गाँधी एंड सोशलिज्म'** नामक उनकी पुस्तक के 47 पृष्ठीय प्राक्कथन में व्यक्त हुए हैं। लोहिया के चिंतन पर यूरोप-अमेरिका बनाम एशिया और तीसरी दुनिया की विसंगतियां हावी थीं। ये विसंगतियां विश्व में उपनिवेशों की समाप्ति की प्रगति के बावजूद तीसरे दशक में तीसरी दुनिया के सभी जागरूक व्यक्तियों पर हावी थीं, उसी तरह जैसे यूरोप के कम्युनिस्टों के चिंतन पर महान मंदी का अनुभव, बेरोजगारों की बढ़ती सेना, सोवियत संघ की आश्चर्यजनक सुनियोजित प्रगति और पूंजीपतियों तथा सर्वहारा के बीच संघर्ष की बातें हावी होती थीं।

साठ के दशक के शुरू के वर्षों मे लोहिया सोचते थे कि सापेक्ष घटनाओं की इस दुनिया में दक्षिण वियतनाम और ताइवान की तुलना में उत्तरी कोरिया और क्यूबा की बेहतर सफलताओं को स्वीकार किया जाना चाहिए तथा उनका विश्लेषण किया जाना चाहिए। किंतु उन्होंने कहा कि उनकी तुलना यूरोप से नहीं की जा सकती ! फिर भी उनका विचार था कि ठोस उपलब्धियों के मामले में क्यूबा ताइवान से कहीं आगे है, हालांकि दोनों की जनसंख्या लगभग समान है।

डॉ. लोहिया दो बड़ी शक्तियों के संघर्ष से इतने प्रभावित थे कि वे विश्व की स्थिति में हो रहे उन महान परिवर्तनों का पूर्वानुमान नहीं लगा पाए जो उनकी मृत्यु के बाद प्रकट हुए। वे चीन, भारत या अन्य एशियाई देशों की प्रगति से खास प्रभावित नहीं थे क्योंकि वे समझते थे कि इस प्रगति को यूरोप-अमेरिका की प्रगति की तुलना में देखा जाना चाहिए। यूरोप-अमेरिका समूह में वे सोवियत प्रभाव के यूरोपीय देशों को भी गिनते थे। जापान की उपलब्धियों का वे प्रायः न्यून मूल्यांकन करते थे। **'मार्क्स, गाँधी एंड सोशलिज्म'** की भूमिका में उन्होंने लिखाः

इस दृश्य में उपलब्धियाँ और संभावनाएँ दोनों निराशाजनक हैं। जापान एशियाई देशों में प्रथम है और यूरोप के देशों में अंतिम सौजन्य में ही कहा जा सकता है, साधिकार ऐसा कहलाने में अभी उसे बहुत समय चाहिए। एशिया और यूरो-अमेरिकी देशों का अंतर पहले ही बड़ा है और वह बढ़ता जा रहा है। यूरो-अमेरिकी देशों की उत्पादन क्षमता एशियाई देशों से कम से कम दस गुणा ज्यादा है और प्रति दिन यह अंतर बढ़ता ही जा रहा है। यह बात हथियारों पर भी लागू होती है और दूध-घी पर भी और दोनों क्षेत्रों में यूरो-अमेरिकी देश बहुत आगे हैं। चीन और मार्क्सवाद ने अभी तक ऐसा कुछ नहीं किया है जो इस तस्वीर में जरा भी परिवर्तन कर सके। अलग भविष्य के लक्षण भी नहीं दिखाई दे रहे हैं। यूरोप के कई विकसित देशों की वृद्धि-दर चीन से अधिक है। यदि प्रौढ़ता के साथ-साथ यूरोपीय देशों की वृद्धि-दर कुछ शिथिल भी पड़ती है तो चीनी अर्थव्यवस्था भी अपरिपक्व ऊर्जा से युक्त होने के बावजूद वैसे ही उतार-चढ़ाव प्रदर्शित कर रही है।

डॉ. लोहिया ने समाजवादियों और अन्य वामपंथियों से बार-बार कहा कि भारत में समाजवाद को बुनियादी तौर पर उत्पादन-उन्मुख होना चाहिए, न कि वितरण-उन्मुख। वे समुचित वितरण के प्रति उदासीन नहीं थे। किंतु वे संगठित मजदूरों और मध्यवर्गीय कर्मचारियों के लोभ के बिल्कुल खिलाफ थे जिनकी वेतन-भत्तों की वृद्धि, सार्वजनिक छुट्टियों और अन्य प्रकार की छुट्टियों की मांग अंतहीन है। वे वेतन-श्रेणियों की खाई को घटाना चाहते थे और उन्हें अधिक उदारता से वेतन देना चाहते थे जो कठिन और गंदे कामों में लगे थे, जैसे : गंदी

नालियों का काम करने वाले, सफाई कर्मचारी, खान मजदूर आदि या जिन्हें बड़े तनाव में काम करना पड़ता था जैसे बंबई की बस कंपनी (बेस्ट) के ड्राइवर और कंडक्टर जो विशाल बंबई शहर की भीड़भाड़ भरी बस्तियों में बसें चलाते थे। वे यह सुझाव गंदे कामों और कथित निम्न जातीय हैसियत के संबंध को तोड़ने के लिए और समता तथा सामाजिक न्याय की दिशा में आगे बढ़ने के लिए भी देते थे। लोहिया जी जरूरतों को लगातार बढ़ाते जाने के पक्ष में नहीं थे। उनका आदर्श था रहन-सहन का सम्मानजनक स्तर। उन्होंने भारत की गरीबी के सवाल को जोरदार ढंग से उठाया और इसलिए उन्होंने कड़ी मेहनत पर, एक-डेढ़ दशक तक उपभोग को सीमित करने पर, बचत और निवेश तथा स्वैच्छिक श्रम से (एक घंटा देश को–यह उनका प्रसिद्ध उद्‌बोधन था) पूंजी-संचय और उत्पादन के उपकरणों के निर्माण पर हमेशा जोर दिया। वे खेती के समूहीकरण के समर्थक नहीं थे और वे नेहरू की सहकारी कृषि योजना का उपहास करते थे। अफसरशाही राष्ट्रीयकरण के बारे में उनका दृष्टिकोण पोथीनिष्ठ नहीं था। दुख की बात है कि उनके कुछ अनुयायी उनके संदेश के सार को भूलकर बासी रोटी बेचने में मजा लेते हैं।

गैट समझौता और भारत के वामपंथी

गैट समझौते के अंतर्गत नये विश्व व्यापार संगठन की भूमिका के संबंध में जो अधिकृत घोषणाएं हुई हैं उनमें आशा के अनुरूप उदारीकरण और भूमंडलीकरण का स्तुति-गान हुआ है। लेकिन यह स्तुतिगान मुक्त कंठ से नहीं हुआ है। इसकी वजह है कि अमरीका, यूरोपीय संध और जापान की प्रतिबद्धता इसके लक्ष्यों के प्रति सच्ची नहीं है। एक प्रतिष्ठित आर्थिक पत्र में कहा गया : "पिछली गैट-वार्ता की समाप्ति (1979) से लेकर उरूग्वे वार्ता के प्रारंभ (1986) तक औद्योगिक देश अधिक संरक्षणवाद की ओर ही तेजी से बढ़ रहे थे। ...चिंता इस बात की है कि अब मुक्त व्यापार के लक्ष्य को प्राप्त करना अधिक कठिन होगा।"

तथापि, मुक्त व्यापार और विश्व-बाजार की निश्चित सफलता का सुंदर शब्दों में वर्णन उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य में कम्युनिस्ट मैनिफेस्टो में किया गया था। इसमें कहा गया : "बुर्जुआ वर्ग उत्पादन-साधनों और उनके साथ-साथ समाज के समूचे संबंधों में निरंतर क्रांतिकारी विकास किए बिना नहीं रह सकता। ...अपने उत्पादों के लिए लगातार फैलते बाजार की आवश्यकता उसे सारे विश्व में ले जाती है। सब जगह अपने लिए स्थान बनाना, वहां बसना और संबंध स्थापित करना

उसके लिए अत्यंत आवश्यक है। इस वर्ग ने विश्व बाजार का उपयोग करते हुए प्रत्येक देश में उत्पादन और उपभोग को अंतरराष्ट्रीय स्वरूप दिया है। प्रतिक्रियावादियों को इस पर बहुत खीझ होती है कि इस वर्ग ने उद्योगों के राष्ट्रीय आधार को ही छीन लिया है। सभी पुराने राष्ट्रीय उद्योग या तो नष्ट हो गए हैं या दिन-ब-दिन नष्ट होते जा रहे हैं। इन उद्योगों का स्थान नये उद्योगों ने ले लिया है – ऐसे उद्योगों ने, जिन्हें शुरू करना प्रत्येक सभ्य राष्ट्र के लिए जीवन-मृत्यु का प्रश्न बन गया है तथा जो देश के कच्चे माल का उपयोग न करके सुदूर क्षेत्रों के कच्चे माल का उपयोग करते हैं, जिसके उत्पादों का इस्तेमाल अपने देश में न होकर विश्व के सब कोनों में होता है। अपने देश के उत्पादन से संतुष्ट जरूरतों के स्थान पर हम नई जरूरतें देखते हैं जिनकी तुष्टि सुदूर क्षेत्रों और उनकी जलवायु पर निर्भर है। प्राचीन स्थानीय और राष्ट्रीय एकांत एवं स्वावलंबी जीवन के स्थान पर हर दिशा में आदान-प्रदान तथा राष्ट्रों की परस्पर-निर्भरता दिखाई देती है।··· सभी राष्ट्र इस पूंजीवादी उत्पादन प्रणाली को अपनाने के लिए बाध्य हैं क्योंकि वे ऐसा नहीं करेंगे तो खत्म हो जाएंगे।···" (कम्युनिस्ट मैनिफेस्टो : कार्ल मार्क्स और फ्रेड्रिक ऐंगल्स)।

जब मार्क्स ने पूंजीवाद की प्रशंसा का यह गीत रचा था तो औद्योगिक क्रांति और अंतरराष्ट्रीय बाजार का निर्माण वास्तव में प्रारंभिक अवस्था में था। मार्क्स ने 1848 में जिस स्थिति का उत्साहपूर्ण वर्णन किया वह उस समय की प्रमुख प्रवृत्ति मात्र का वर्णन था, न कि उस लक्ष्य की प्राप्ति का। अतः यह वर्णन लोगों को यथातथ्य न लग कर अतिशयोक्तिपूर्ण लगा होगा। सन् 1914 तक ऐसा दिखाई देने लगा कि विश्व अर्थव्यवस्था के संबंध में मार्क्स की भविष्यवाणी सच होगी। किंतु पहले विश्वयुद्ध और उसके बाद की क्रांतिकारी उथल-पुथल ने विश्व अर्थव्यवस्था तथा उत्पादन एवं विनिमय के भूमंडलीकरण की ओर प्रगति को एकाएक अवरुद्ध कर दिया। विश्वयुद्ध के बाद की अस्थिर स्थितियों तथा आर्थिक कठिनाइयों और फिर 1929-32 की महान मंदी ने औद्योगिक देशों को संरक्षणवाद का सहारा लेने को बाध्य किया। दूसरे विश्वयुद्ध की समाप्ति और उसके बाद बने वातावरण में साम्यवादी शासन पूर्वी और मध्य यूरोप में फैला और चीन में साम्यवादी क्रांति हुई। इसका मतलब था अस्तव्यस्त अंतरराष्ट्रीय अर्थव्यवस्था के बहुत बड़े क्षेत्र का अलग हो जााना।

संयुक्त राष्ट्र संघ, गैट, विश्व बैंक, अंतरराष्ट्रीय मुद्रा कोष और अन्य संस्थाओं के माध्यम से अग्रणी पश्चिमी देशों ने मुक्त व्यापार के माध्यम से तथा तटकर घटाकर विश्व अर्थव्यवस्था के पुनर्निर्माण का आधे मन से प्रयास किया। अब कई नये तत्वों का प्रवेश हुआ जिन्होंने भूमंडलीकरण की प्रक्रिया को आगे बढ़ाने में बड़ी

मदद की। औद्योगिक रूप से अत्यंत शक्तिशाली जापान के उदय और अमरीका के साथ उसके गठबंधन के साथ-साथ कुछ एशियाई देशों की निर्यातोन्मुख अर्थनीतियों ने इस प्रक्रिया को बल प्रदान किया। किंतु मार्क्स की कई अन्य भविष्यवाणियां सच नहीं हुईं, जैसे : समाज दो वर्गों में विभाजित होगा, मध्यवर्ती तबके समाप्त हो जाएंगे और पूंजीवाद की कब्र खोदने वाला सर्वहारा वर्ग पूंजीवाद को उखाड़ फेंकेगा। मेरा विचार है कि सोवियत संघ के विघटन का कारण लोकतंत्र और मानव-अधिकारों के अभाव से उत्पन्न असंतोष उतना नहीं है जितना कि पश्चिम के उपभोक्तावाद का आकर्षण।

पोथीनिष्ठ कम्युनिस्टों ने कामिकान-वारसा समझौता प्रणाली के अचानक और पूर्ण विघटन से कोई सबक नहीं सीखा। वे पुराने फार्मूलों की रट लगाए जा रहे हैं, जैसे : "दुनिया विभिन्न क्षेत्रों में साम्राज्यवादी और समाजवादी ताकतों के बीच तीव्र संघर्ष के दौर में प्रवेश कर रही है। ... विश्व पूंजीवाद और विश्व समाजवाद की अंतरराष्ट्रीय स्थिति के परिवर्तन इस निष्कर्ष पर नहीं ले जाते कि हमारे युग की मूलभूत विसंगतियां अब बदल गई हैं।... अक्तूबर क्रांति से विश्व स्तर पर पूंजीवाद से समाजवाद की ओर जाने की प्रक्रिया चल रही है, यह मुख्य मूल्यांकन हमारे वर्तमान युग में बिल्कुल सही है।" (माकपा की केंद्रीय समिति, मई 29-31, 1980)।

इसके बाद मार्क्सवादियों की उम्मीदें चीन, वियतनाम और अन्य बचे हुए एक-पार्टी कम्युनिस्ट राज्यों पर टिकी थीं।

किंतु चीन और वियतनाम में क्या हो रहा है? चीन ने अपनी अर्थव्यवस्था को विकसित देशों के लिए खोल दिया है। ये विकसित देश यहां केवल अथवा मुख्य रूप से उच्च टेक्नोलॉजी के क्षेत्र में ही पूंजी नहीं लगा रहे हैं। अमरीका पूरे तामझाम और अपने सांस्कृतिक प्रतीकों के साथ आ रहा है। खाद्य वस्तुओं का प्रक्रमण उसका एक मुख्य लक्ष्य है।

इसी प्रकार कोका कोला ने हाल ही में चीनी भागीदारी के सहयोग से चीनी बाजार में प्रवेश किया है। कोका कोला कंपनी का मानना है कि "चीन में संभावनाएं दिमाग चकराने वाली हैं।" कैडबरी और कैम्बेल ने भी वहां चाकलेट और सूप की अनंत संभावनाएं देखी हैं।

जिन बहादुर वियतनामियों ने जापानियों, फ्रांसीसियों और चीनियों के खिलाफ सफल संघर्ष किया और अमरीकियों को सिर पर पांव रखकर भागने को मजबूर किया, वे भी अंततः अमरीकी संस्कृति और अमरीकी अर्थव्यवस्था के मोह में फंस गए। हाल की एक खबर इस संबध में बहुत रोचक है : "फरवरी मास में एक दिन हनोई के केन्द्र में कोका कोला की दो विशाल बोतलें प्रकट हुईं। यह घटना अमरीका

के 30 वर्षीय व्यापार-प्रतिबंध के समाप्त होने के तत्काल बाद हुई और इसके लिए जिस प्रतीक को चुना गया वह सर्वथा उपयुक्त ही था। निपट अमरीकी भोक्तावाद अंततः पूरी निर्लज्जता के साथ, बिना समय नष्ट किए, वियतनामी कम्युनिज्म के केंद्रीय गढ़ की राजधानी में प्रकट हुआ।…''

एक अन्य खबर इस प्रकार थी : ''वियतनाम पर अमरीका के व्यापार-प्रतिबंध की समाप्ति के अगले दिन वियतनामी टेलीविजन के मुख्य समय पर रॉक संगीत के बीच इस वर्ष की मिस वियतनाम को पेप्सी कोला (नई पीढ़ी की पसंद) पीते हुए विज्ञापनों में दिखाया गया। पेप्सी की प्रतिद्वंद्वी कोका कोला का कहना है कि वह अगले दस दिनों में 'आपसे पुनः मिलकर खुशी हुई' अभियान पर 250,000 डालर खर्च करेगी और इस अभियान के मुख्य आकर्षण होंगे संगीत सम्मेलन, बिलबोर्ड और पेप्सी के विज्ञापनों के साथ-साथ चलने वाले टी.वी. कमर्शियल्स।''

और इन सब के ऊपर माकपा ने, जो विश्व की सबसे अधिक पोथीनिष्ठ मार्क्सिस्ट पार्टी है, अमरीकीवाद के सर्वोच्च प्रतीक कोका कोला के कलकत्ता महानगर में प्रवेश का न केवल विरोध नहीं किया बल्कि कोका कोला का रंगीन एक पृष्ठ का विज्ञापन छापकर उसका स्वागत भी किया। क्या इन महाशयों-कामरेडों के गैट-विरोध को गंभीरता से लिया जा सकता है?

क्या पूंजीवादी प्रतियोगिता से संकेंद्रण होगा ?

गैट समझौते के अंतिम दस्तावेज पर हस्ताक्षर करने और नये विश्व या बहुदेशीय व्यापार संगठन के साथ भारत के संबंध के प्रश्न पर हवा में बहस नहीं की जा सकती। इस पर वर्तमान अंतरराष्ट्रीय स्थिति, हमारी राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था की हालत और देश में राजनीतिक शक्तियों के परस्पर संबंध की पृष्ठभूमि में ही चर्चा हो सकती है।

यह बात ध्यान में रखी जानी चाहिए कि असाधारण प्रतिभाशाली तथा दूरदर्शी व्यक्तियों की भी सभी भविष्यवाणियां सही साबित नहीं होती हैं। कार्ल मार्क्स भी एक असाधारण प्रतिभाशाली व्यक्ति थे। बहुत छोटी अवस्था में ही उन्होंने भविष्य की उस मुख्य प्रवृत्ति को देख लिया था जो साधारण विद्वानों को दिखायी नहीं दी थी। फ्रांस में हुई 1848 की क्रांति से कुछ सप्ताह पूर्व प्रकाशित कम्युनिस्ट पार्टी के घोषणापत्र में युवा मार्क्स ने इलहाम की-सी भाषा में बुर्जुआ उत्पादन-पद्धति के ('पूंजीवाद' और 'पूंजीवादी' जैसे शब्द उस समय प्रचलित नहीं थे) गतिशील एवं

तीव्र विकासशील चरित्र का जिक्र किया, जिसने मार्क्स के शब्दों में 'विश्व बाजार' की स्थापना कर ली थी। उन्होंने विकासशील उत्पादक शक्तियों, खोजयात्राओं, नौचालन की प्रगति, संचार, वाणिज्य तथा मिश्र पूंजी कंपनियों के परस्पर संबंधों का उल्लेख किया। उन्होंने एकांत राष्ट्रवाद और आत्मनिर्भरता की संकल्पनाओं को हास्यास्पद कहा और उत्पादन के सर्वदेशीय स्वरूप को राष्ट्रों की परस्पर निर्भरता से जोड़ा।

लगभग दो दशक बाद (1871 में) मार्क्स ने 'कैपिटल' का पहला खंड जर्मन भाषा में प्रकाशित किया। इसमें वे घोषणापत्र की प्रमुख स्थापनाओं से मूलतः नहीं हटे थे। पुस्तक के 32वें अध्याय में संकेंद्रण और केंद्रीकरण के प्रसिद्ध प्रसंग में उन्होंने लिखा :

"अब अपने लिए श्रम करनेवालों को संपत्ति से वंचित नहीं किया जायेगा बल्कि उस पूंजीपति वर्ग को संपत्ति से वंचित किया जायेगा जो अनेक मजदूरों का शोषण करता है। संपत्ति से वंचित करने की यह क्रिया पूंजीवादी उत्पादन के अपने नियमों से अर्थात पूंजी के केंद्रीकरण से चलेगी। एक पूंजीपति हमेशा अनेक पूंजीपतियों को निगल जाता है। इस केंद्रीकरण अथवा कुछ पूंजीपतियों द्वारा अनेक पूंजीपतियों को संपत्ति से वंचित किये जाने के साथ-साथ कई परिवर्तन उत्तरोत्तर विस्तार के साथ होने लगते हैं, जैसे : मजदूर सहकारिता प्रणाली का विकास, विज्ञान का सचेत तकनीकी प्रयोग, उन्नत विधि की खेती, श्रम के औजारों का मुश्तरका औजारों में परिवर्तन, संगठित एवं समाजीकृत श्रम के उत्पादन-साधनों के उपयोग द्वारा उत्पादन-साधनों की किफायत, सभी देशों को विश्वबाजार के जाल में फंसाना और इसके साथ-साथ पूंजीवादी शासनों का अंतरराष्ट्रीय स्वरूप लेना। बड़े पूंजीपतियों की, जो इस परिवर्तन-प्रक्रिया के सभी लाभों को दूसरों से छीनकर अपने एकाधिकार में ले लेते हैं, संख्या निरंतर घटने के साथ-साथ विशाल जनता की निर्धनता, गुलामी तथा उसका दमन, पतन और शोषण बढ़ता है। किंतु इसके साथ मजदूर वर्ग का विद्रोह भी तेज होता है। यह वह वर्ग है जिसकी संख्या निरंतर बढ़ रही होती है और जो पूंजीवादी उत्पादन प्रणाली के तंत्र से अनुशासित और संगठित होता है। पूंजी का एकाधिकार उस उत्पादन प्रक्रिया की बाधा बन जाता है जो उसके साथ-साथ बनी और पनपी होती है। उत्पादन-साधनों का केंद्रीकरण और श्रम का समाजीकरण आखिर ऐसे बिंदु पर पहुंच जाता है जहां वह अपने पूंजीवादी कवच में नहीं समा पाता। इस प्रकार कवच टूट जाता है। पूंजीवादी निजी संपत्ति की मृत्यु की घंटी बजने लगती है। शोषकों को संपत्ति से वंचित कर दिया जाता है।"

यह बात देखी जा सकती है कि मार्क्स की यह भविष्यवाणी सच नहीं हुई कि उत्पादन-शक्तियों की विस्फोटक वृद्धि से पूंजीवादी संबंधों का कवच फट जायेगा।

वस्तुतः सोवियत संघ और कॉमिकान देशों ने उत्पादन-साधनों के राज्य-स्वामित्व की जो नयी उत्पादन-संबंध-प्रणाली अपनायी, उसी ने उत्पादन शक्तियों के विकास को अवरुद्ध किया। इतना ही नहीं, पश्चिम के उपभोगपरक पूंजीवाद के प्रबल आकर्षण तथा एकदलीय शासन से जनता के व्यापक मोहभंग ने सोवियत प्रणाली को ही नष्ट कर दिया। ऐसा इसलिए हुआ कि मार्क्स की शब्दावली – जैसे : 'उत्पादन-संबंध', 'उत्पादन शक्तियां' और 'उत्पादन विधियां' आदि – ने भ्रम पैदा किया। मार्क्सवादियों ने उत्पादन शक्तियों और उत्पादन संबंधों के बीच क्या रिश्ता है, न तो इसका विश्लेषण किया और न पूंजीवादी विश्व में हुए उत्पादन संबंधों के उत्तरोत्तर परिवर्तनों का भलीभांति अध्ययन किया।

संकेंद्रण और कंद्रीकरण, एकाधिकार बनाम प्रतियोगिता आदि प्रश्नों पर मार्क्सवादियों में बहुत भ्रम रहा है। कार्ल कौत्सकी ने कहा कि एकाधिकारी पूंजीवाद और प्रतियोगी अर्थव्यवस्था परस्पर-विरोधी हैं। उनका विचार था कि पूंजीवादी समाज में एकाधिकार की प्रक्रिया प्रतियोगिता को बिल्कुल समाप्त कर देगी। मार्क्सवादियों की एक और धारा (बुखारिन) का कहना था कि एकाधिकारी पूंजीवाद अलग-अलग पूंजीवादी देशों में तो प्रतियोगिता को खत्म कर देगा, किंतु विभिन्न पूंजीवादी शक्तियों के बीच, जिनकी राष्ट्रीय अर्थव्यवस्थाएं एकाधिकारी स्वरूप ग्रहण कर चुकी होंगी, भयानक प्रतियोगिता तथा साम्राज्यविरोधी स्पर्धा चलेगी।

इस सिद्धांत को केवल कार्ल मार्क्स के अनुयायी ही नहीं मानते थे कि मुक्त बाजार और प्रतियोगिता से संकेंद्रण होगा जो अंततः कुछ एकाधिकारी कंपनियों के वर्चस्ववाली व्यवस्था का निर्माण करेगा बल्कि वे अर्थशास्त्री और व्यवसाय-विश्लेषक भी मानते थे जिनकी पक्की बुर्जुआ पहचान थी।

कंप्युटर की क्रांति :

पचास के दशक के मध्य में (1956 में) 'हारवर्ड बिजनेस रिव्यू' ने अमरीका में उभर रही नई कंप्यूटर टेक्नोलाजी पर विचार किया और अमरीकी अर्थव्यवस्था पर पड़नेवाले इसके प्रभाव के संबंध में भविष्यवाणी की। पत्रिका ने कहा कि कंप्यूटर के नये आविष्कार से अगले दो या तीन दशकों में अमरीकी व्यवसाय जगत में अभूतपूर्व संकेंद्रण होगा। "अर्थव्यवस्था पर कुछ बड़ी कंपनियों का अधिकार हो जायेगा। प्रत्येक कंपनी में महत्वपूर्ण निर्णय मुट्ठी भर अधिकारियों द्वारा लिये जायेंगे जिन्हें कंपनी के एकमात्र बड़े कंप्यूटर की सेवाएं उपलब्ध होंगी।"

पचास और साठ के दशकों में ऐसी अनेक पुस्तकें प्रकाशित हुईं जिनमें छोटे और मध्यम आकार की फर्मों की मृत्यु की घोषणा की गयी थी। इन लेखकों द्वारा पूंजी और उत्पादन के संपूर्ण केंद्रीकरण की डरावनी तस्वीर पेश की गयी थी।

'हारवर्ड बिजनेस रिव्यू' जिन विचारों का प्रतिनिधित्व करता था उनका लब्बोलुबाब यह पाया गया कि सूचना टेक्नोलाजी निर्णय-प्रक्रिया के केंद्रीकरण को बढ़ायेगी, क्योंकि यह उच्च प्रबंधकों को बेहतर ढंग से सूचनाएं उपलब्ध करायेगी और उन्हें अधिक समझ-बूझ के साथ निर्णय लेने तथा उनके व्यापक संप्रेषण में सहायक होगी।

किंतु ज्ञान और सूचना की क्रांति ने अजीब मोड़ लिया और 'हारवर्ड बिजनेस रिव्यू' की कल्पना का संपूर्ण संकेंद्रण करने के बजाय उसने नयी छोटी और मध्यम इकाइयों को प्रोत्साहन देना शुरू किया। अस्सी के दशक में जब मैं अमरीका गया था तो एपल और आईबीएम् में युद्ध चल रहा था। वास्तविक विश्व बाजार का निर्माण, विनियमित अर्थव्यवस्थाओं का ह्रास, व्यापार प्रतिबंधों को कम करने की प्रक्रिया ओर नयी उपभोक्ता मांगें – इन सबसे उम्मीद की जा रही थी कि बड़ी फर्मों की व्यवस्था का और विकास होगा। किंतु हुआ ठीक इसके विपरीत। बड़ी फर्मों के मध्य नगर में स्थित दफ्तरों और उनके कर्मचारियों का विकेंद्रीकरण हो रहा है। परिष्कृत व्यक्तिगत कंप्यूटर, फैक्स तथा अन्य अत्याधुनिक सुविधाएं उपलब्ध होने के कारण कई कंपनी-अधिकारी और कर्मचारी रोज शहर के दफ्तरों में आना-जाना छोड़कर अपने घरों से ही सारे काम करने लगे हैं। इससे कार्यकुशलता में कोई कमी नहीं आयी है बल्कि इससे परोक्ष रूप से कई लाभ भी हुए हैं।

गैट समझौते का विरोध करनेवालों का एक मुख्य तर्क यह था कि भारतीय कंपनियां जनरल मोटर्स, टोयोटा आदि के मुकाबले में बहुत ही छोटी है और वे उनके साथ प्रतियोगिता नहीं कर पायेंगी, इसलिए या तो वे बंद हो जायेंगी अथवा बड़ी कंपनियों की पिछलग्गू बन जायेंगी। किंतु इसमें डरने या बड़ी कंपनियों का पिछलग्गू बनने की कोई जरूरत नहीं है। जरूरत इस बात की है कि हमारी कंपनियां नयी सूझ-बूझ और फुर्ती दिखायें तथा बाजार की प्रवृत्तियों का पूर्वानुमान करने में सक्षम बनें।

प्रसिद्ध पत्रिका 'इकनोमिस्ट' ने हाल ही में लिखा, "एक समय था जब बड़ी कंपनियां सदी की आश्चर्यजनक आर्थिक समृद्धि के विजेताओं के रूप में सारे विश्व में गर्व से सिर उठाये थीं। प्रत्येक महत्वाकांक्षी कंपनी का लक्ष्य यही होता था कि वह इन बड़ी कंपनियों से जुड़कर इतनी शक्तिशाली बन जायें कि वे छोटे प्रतियोगियों के नियमित सत्ता-पलट की मार से बच जायें।" किंतु वर्तमान समय तो विश्व की बड़ी कंपनियों के लिए परेशानी का समय बन गया है। उनकी अपराजेयता की धारणा अब पूरी तरह ध्वस्त हो गयी है। किसी समय व्यावसायिक सफलता का आदर्श मानी जानेवाली जनरल मोटर्स, आईबीएम और फिलिप्स जैसी कंपनियां अपने बाजार के परिवर्तनों तथा आर्थिक मंदियों के आगे बहुत अधिक कमजोर हैं। सैकड़ों बड़ी कंपनियां जापान की मतसुशिता से लेकर जर्मनी की डैमलर-बेंज तक –

इस प्रकार की नियति से बचने के लिए अपने को नये ढंग से चलाने की जीतोड़ कोशिश कर रही हैं। बड़ी फर्मों की बदहाली का क्रम अभी शुरू ही हुआ है। आर्थिक वातावरण में सुधार से उन्हें कुछ राहत मिलेगी, लेकिन विशेष नहीं। कई उद्योगों में दमदार ताकतें बड़ी कंपनियों के खिलाफ सक्रिय हो रही हैं।

हाल ही में ह्यूस्टन की कोंपाक कंप्यूटर नाम की एक कंपनी ने विश्व बाजार में तहलका मचाया। पर्सनल कंप्यूटरों के बाजार में इसने आईबीएम और एपल दोनों को पीछे छोड़ दिया। अकेले कोंपाक कंप्यूटर का पर्सनल कंप्यूटरों के कुल विश्व-बाजार में 9 प्रतिशत हिस्सा है।

भारत की भूल : हमारे देश में एकाधिकार की कल्पना बहुत धुंधली रही है। किसी उद्यम के कुल उत्पाद-बाजार के हिस्से पर मुख्य रूप में एकाधिकार की कल्पना लागू करने के बजाय हमने इसके साथ कुल परिसंपत्तियों और कुल क्रय-विक्रय आदि की कल्पनाओं को भी इसमें जोड़ दिया। एक प्रकार से हम बड़ी कंपनियों, उच्च उत्पादन और भारी क्रय-विक्रय से भयभीत रहे। हमने चरणबद्ध किंतु सुविचारित ढंग से प्रतियोगिता को प्रोत्साहन देने और लाइसेंस प्रणाली को धीरे-धीरे खत्म करने का प्रयास नहीं किया जिससे कोई भी निजी क्षेत्र की कंपनी 40 से 50 प्रतिशत से अधिक बाजार का हिस्सा अपने पास न रख सके। इसके विपरीत हमने उनकी उत्पादन क्षमता पर तरह-तरह के कठोर प्रतिबंध लगाये। कंपनियों के मालिक उत्पादन की लागत घटाने और गुणवत्ता में सुधार करने की कोशिश में नहीं रहते थे बल्कि अपने प्रतियोगी को बाजार और उत्पादन से बाहर रखने के लिए राजधानी दिल्ली में लॉबिंग करने में लगे रहते थे। जनता पार्टी के आर्थिक-नीति के वक्तव्य में हम लोगों ने छोटे पैमाने के उद्योगों और कुटीर उद्योगों के क्षेत्र का सीमांकन किया था। हमें इसे कानून द्वारा लागू करना चाहिए था और दूसरे क्षेत्रों को, लाइसेंस हटाकर या तटकर प्रतिबंधों को कम करके, प्रतियोगिता के लिए खोलना चाहिए था। संरक्षण प्राप्त बाजार में कंपनियों का चहुंमुखी विकास रुक गया, टेक्नोलाजी के अभिनव प्रयोगों को हतोत्साहित किया गया, गुणवत्ता की उपेक्षा हुई और उपभोक्ताओं के हित को बिल्कुल भुला दिया गया। भारत में बनी वस्तुओं ने यहां भी बदनामी हासिल की है और विदेशों में भी, जैसे जापानी माल ने तीस के दशक में बदनामी हासिल की थी। हमारी जनता ने कभी स्वदेशी के गुण गाये थे। व्यापक अर्थ में इसमें जमशेद टाटा की इस्पात उद्योग के क्षेत्र में अग्रणी भूमिका शामिल है। उसी भारतीय जनता में आयातित विदेशी वस्तुओं की सनक सारी सीमाओं को पार कर गयी है। किंतु इससे हमारे गतिशील उद्यमियों को हतोत्साहित होने की जरूरत नहीं है। ऊपर उद्धृत औद्योगिक देशों का अनुभव दिखाता है कि जरूरत नयी सूझबूझ और सूक्ष्म दृष्टि की है।

आर्थिक विकास और कार्य-नैतिकता

महात्मा गांधी ने हाथ के श्रम और मशीन के संबंध में जो विचार व्यक्त किये हैं उन सबको कोई माने, यह जरूरी नहीं है। उनकी योजना में भी बाइसिकल, चरखा और सिलाई की मशीन जैसी सरल मशीनों के लिए ही जगह थी। किन्तु उन्होंने कड़ी मेहनत करने, जनता के पैसे की लूट और उसके अपव्यय से पूरी तरह बचने पर जो जोर दिया है, वह हमारी भौतिक और नैतिक प्रगति के लिए जरूरी शर्त है।

महात्मा गांधी बहुत काम करते थे और एक पल भी नहीं गंवाते थे। जिन कामों को वे महत्वपूर्ण समझते थे उन पर खूब मेहनत करते थे । उनके जीवन-दर्शन में शारीरिक श्रम का विशेष स्थान था। जवाहरलाल भी बहुत मेहनत करते थे और स्वतंत्रतापूर्व के अपने दिनों में वे प्रायः चरखा भी चलाते थे। किंतु उनका काम मुख्यतया बौद्धिक होता था और शारीरिक श्रम उनके चिंतन को नियंत्रित नहीं करता था। अपनी हत्या के लगभग एक वर्ष पूर्व 6 फरवरी, 1947 को महात्मा गांधी ने लिखा : "बौद्धिक श्रम महत्वपूर्ण है और जीवन में उसका निश्चय ही स्थान है। किंतु मैं शारीरिक श्रम पर जोर देना चाहता हूं। मैं मानता हूं कि किसी भी आदमी को इस कर्तव्य से अपने को बरी नहीं करना चाहिए। इस संदर्भ में मैं ताल्सताय का उदाहरण दूंगा जिन्होंने रूसी किसान बोंडारफ के रोटी-श्रम के सिद्धांत को अपने जीवन में अपनाकर उसे प्रसिद्ध किया था।"

कड़ी मेहनत का मतलब जड़-बुद्धि से काम करना नहीं है। इसका मतलब है फुर्ती से काम करना, किसी काम में कम-से-कम समय और शक्ति लगाकर उसे पूरा करना। इसका मतलब शारीरिक श्रम ही नहीं हैं अपितु इसमें जहां जरूरत हो, वहां हाथ गंदे भी करने पड़ते हैं।

अंग्रेजों ने भारत में जो 'आधुनिक शिक्षा प्रणाली' लागू की उसमें मानविकी विषयों एवं भाषा पर अधिक और विज्ञान पर कम जोर दिया गया। यह शिक्षा पुरानी उपयोग-विरोधी सनातनी व्यवस्था के बिल्कुल अनुकूल थी और वास्तव में उसने श्रम, औजार तथा तकनीक संबधी पुराने पूर्वाग्रहों को मजबूत किया। सनातनी व्यवस्था में, जिसे ब्राह्मणी व्यवस्था भी कहा जाता है, हाथ के श्रम या हाथ गंदे करनेवाले श्रम के प्रति एक अंतर्जात घृणा रही है।

हमारी प्राथमिक, माध्यमिक और हाईस्कूल की शिक्षा में तकनीकी शिक्षा पर जोर नहीं दिया जाता है। जर्मनी, जापान और अमरीका के स्कूलों में स्थिति इसके ठीक विपरीत थी। हाल ही में **इकोनोमिस्ट** ने लिखा है : "ऐतिहासिक रूप से ब्रिटेन प्रतिभाशाली छात्र तैयार करने में प्रसिद्ध रहा है। ट्रिनिटी और कैंब्रिज ने कई

यूरोपीय देशों से अधिक नोबेल पुरस्कार विजेता दिये हैं। पर सर्वोत्तम ब्रिटिश शिक्षा में भी उपयोगिता-विरोधी और व्यवसाय-विरोधी पूर्वाग्रह मौजूद हैं। कैंब्रिज ने एमबीए पाठ्यक्रम की स्वीकृति 1991 में दी–हारवर्ड के 83 वर्ष बाद और स्टेनफोर्ड के 65 वर्ष बाद। ऑक्सफोर्ड तो यह सुविधा 1996 में देगा।" पत्र ने कहा कि ब्रिटेन की वास्तविक ऐतिहासिक कमजोरी यह है कि उसने विशाल जनता को शिक्षित नहीं किया (यद्यपि अब राष्ट्रीय व्यावसायिक योग्यता, नई प्रशिक्षु योजना और प्रशिक्षण तथा उद्यम परिषद आदि योजनाओं के कारण स्थिति में सुधार हो रहा है)।

मैक्स वेबर की प्रोटेस्टेंट नैतिकता और पूंजीवाद की भावना की कल्पना रूढ़िवाद, पुरानी प्रथाओं और विधियों के खिलाफ थी। इसमें तर्कसंगत वातावरण पर जोर था। अतः वेबर की पूंजीवादी भावना वस्तुतः नयी और आवश्यक कार्य-नैतिकता की भावना थी, न कि सिर्फ संग्रह का लोभ या अधिक से अधिक पैसा कमाने का एकचित्त प्रसास, जिस अर्थ की वजह से बाद के वर्षों में वेबर की खूब आलोचना हुई। वेबर की पूंजीवाद की भावना की कल्पना में उद्यमी या श्रमिक द्वारा यथासंभव पूर्ण क्षमता से काम करने को रेखांकित किया गया था। इस नयी कार्य-नैतिकता ने अर्थव्यवस्था के आधुनिकीकरण में और उत्पादन तथा उत्पादकता में वृद्धि करने में योगदान दिया है।

भारतीय मार्क्सवादियों के लिए कार्य-नैतिकता अभिशाप है। चीन की बाजार अर्थव्यवस्था के क्रमिक निर्माण के संबंध में हाल ही प्रकाशित 'डेंग शियाओपिंग एंड चाइनीज रिफार्म' शीर्षक एक लेख में मैंने देखा कि आर्थिक प्रगति में चीनियों की कड़ी मेहनत और आने वाले वर्षों में और भी कड़ी मेहनत की आवश्यकता का बार-बार उल्लेख किया गया था। चीन के अनुसंधानकर्ता ने लिखा : "हमें बहुत मेहनत करनी होगी। हमारा काम कठिन है और हमारे ऊपर बड़ी जिम्मेदारी है।" मुझे इससे आश्चर्य नहीं हुआ। लेकिन हमारे मजदूर संगठनों के नेताओं ने तो सरकारी क्षेत्र के उद्योगों, केंद्र और राज्य सरकारों, पंचायत और म्युनिसिपल सेवाओं और यहां तक कि गैरसरकारी उद्योगों में भी कार्य-नैतिकता को खत्म कर दिया है। पश्चिम बंगाल में हम सत्रह वर्षों से राज्य सरकार द्वारा प्रायोजित बंद देख रहे थे। इस बार ज्योति बसु अड़ गये। किंतु इस कमी को तमिलनाडु की मुख्यमंत्री जयललिता ने बंद का नारा देकर पूरा कर दिया। सरकारी अधिकारी और कर्मचारी काम नहीं करते, उन्हें सिर्फ छुट्टियां चाहिए। वे राज्य और जनता को बड़े मजे से लूटते हैं। उन्होंने अपने भ्रष्टाचार और असीम लोभ से न सिर्फ बिजली बोर्डों को बल्कि कई सरकारी उद्योगों को भी दिवालिया बना दिया है।

कुछ दिन पहले मैं एक प्रसिद्ध गैरसरकारी शोध संस्थान के एक बड़े अधिकारी से बात कर रहा था। मैंने उनसे संस्थान के कार्य-वातावरण के संबंध में पूछा।

उन्होंने कहा कि नियम तो बहुत सख्त हैं लेकिन उनके संस्थान में भी सामान्य ढिलाई का वातावरण, अनुशासन की कमी और कड़ी मेहनत से बचने की प्रवृत्ति का प्रभाव बढ़ रहा है। मैंने केंद्रीय सरकार और संस्थाओं के कुछ अधिकारियों तथा कर्मचारियों से भी बात की और उनसे पूछा कि उनके यहां कितने घंटे वस्तुतः काम होता है। उन्होंने बताया कि सरकारी दफ्तरों और सरकारी संस्थाओं में स्थिति निजी कंपनियों की तुलना में बहुत खराब है। इन कर्मचारियों को मिलनेवाली सरकारी छुट्टियों तथा अन्य छुट्टियों की निम्नलिखित तालिका रोचक होगी :

शनिवार और रविवार	104 दिन
वर्ष की सवेतन छुट्टी	30 दिन
आधे वेतन की मेडिकल छुट्टियां	10 दिन (20 दिन छुट्टी का आधा)
आकस्मिक छुट्टी	12 दिन
सरकारी छुट्टियां	16 दिन
प्रतिबंधित छुट्टियां	2 दिन
	174 दिन

महिलाओं के लिए मातृत्व का अवकाश 80 दिन का होता है। इस छुट्टी के संबंध में मैं कहना चाहता हूं कि यदि महिला कर्मचारी एक संतान के बाद परिवार नियोजन अपनाती है तो मातृत्व अवकाश को 10 दिन बढ़ाए जाने पर भी मुझे आपत्ति नहीं होगी। ऊपर दी गई छुट्टियों में राज्य के किसी बड़े व्यक्ति की प्राकृतिक अथवा अन्य प्रकार हुई मृत्यु पर घोषित छुट्टियां शामिल नहीं हैं।

दिल्ली में साल में कम-से-कम दो या तीन बार सप्ताह के अंत में दो से अधिक छुट्टियां पड़ती हैं जब सारे दफ्तर बंद होते हैं, संसद और उसका पुस्तकालय तथा नेहरू स्मारक संग्रहालय और उसका पुस्तकालय भी। वास्तव में नेहरू स्मारक संग्रहालय उन दिनों भी शोध छात्रों तथा विद्वानों को अपनी सुविधाएं देना बंद कर देता है जब वहां ऐसे समारोह होते हैं जिनमें महत्वपूर्ण व्यक्ति भाग लेते हैं। ऐसे मौके कम नहीं होते। शोध संस्थाओं और पुस्तकालयों का विशेष रूप से कई-कई दिनों तक बंद रहना मेरे मन में बहुत झुंझलाहट पैदा करता है। हमारे देश की तरह दुनिया में कहीं भी सरकार और शिक्षित वर्ग ने आराम को इस तरह सद्गुण नहीं बनाया है और मेहनत एवं कार्य-नैतिकता को इस प्रकार घृणा से नहीं देखा है।

यह सचमुच दुर्भाग्यपूर्ण है कि कम उत्पादकता तथा कम उत्पादन वाले हमारे देश में जहां कर्मचारी या मजदूर वर्ग के कुछ लोगों पर काम का भारी बोझ होता है वहीं बाकी लोगों को सरकारी खर्च पर निठल्लेपन में वक्त गुजारने दिया जाता है। इसका सबसे खराब उदाहरण प्राथमिक स्तर से लेकर विश्वविद्यालय स्तर तक

के अध्यापक पेश करते हैं। वे न पढ़ाते हैं और न शोध-कार्य करते हैं। वे केवल वेतन और फैलोशिप का पैसा जेब में डालते हैं। इसका अपवाद बहुत थोड़े लोग हैं और यह बात मेहनत से बचने तथा कामचोरी के सामान्य वातावरण पर प्रकाश डालती है। कुछ लोग यूरोप-अमरीका के लोगों द्वारा लंबी छुट्टियां अगस्त-सितंबर में मनायी जाने की चर्चा करते हैं। लेकिन उनका उदाहरण यहां बिल्कुल अप्रासंगिक है। वर्तमान समृद्धि और उत्पादकता को उन्होंने लगभग एक सदी या उससे भी अधिक समय तक कड़ी मेहनत करके हासिल किया है। हमारे लिए भी समृद्धि और उत्पादकता का और कोई रास्ता नहीं है।

मेरे मित्र विदेशी बैंकों की घुसपैठ से बहुत चिंतित हैं। वे तीन बड़े जापानी बैंकों की बात करते हैं, जिनमें से प्रत्येक की परिसम्पत्तियां 15 लाख करोड़ रुपये से ऊपर हैं अर्थात् भारत के कुल उत्पादन के एक-तिहाई के लगभग। वे जोश से पूछते हैं कि कौन-सा भारतीय बैंक इन बैंकों के साथ या अमरीकी बैंकों के साथ स्पर्धा कर सकता है। जापान के बैंकों को बड़ा बनाने का श्रेय उसकी आर्थिक नीतियों को जाता है। भारतीय नागरिक विदेशी बैंकों की तरफ क्यों आकृष्ट हो रहे हैं और क्यों उनमें अपने खाते खोल रहे हैं ? इसलिए, क्योंकि हमारे राष्ट्रीयकृत बैंकों तथा वित्तसंस्थाओं के मजदूर संघों (कर्मचारियों) और संस्थाओं (अधिकारियों) की मान्यता है कि उन्हें अपने ग्राहकों को सड़ी हुई सुविधाएं देने का हक हासिल है। मैं कर्मचारियों की कठिनाइयों तथा उच्च-प्रबंधकों की खामियों से बेखबर नहीं हूं। किंतु सभी स्तर के बैंक कर्मचारियों को यह बात समझनी चाहिए कि जनता अपना पैसा बैंक में जमा करती है और फिर भी उसे भिखारियों से बदतर सुलूक मिलता है। अपना चैक भुनाने या जमा करने के लिए या पासबुक भरवाने, नकद पैसा जमा करने या सावधि जमा प्रमाणपत्र प्राप्त करने के लिए लोगों को तीन बार, और कभी-कभी पांच बार, बैंक आना पड़ता है। निस्संदेह मेरे साथ ऐसा नहीं हुआ है। व्यक्तिगत रूप से मेरे साथ बैंक कर्मचारियों ने बड़ी नम्रता से व्यवहार किया है। लेकिन मैं व्यक्तिगत अनुभव की बात नहीं कर रहा हूं। मेरा अनुभव आम जनता का अनुभव नहीं है। इन साधारण नागरिकों की दयनीय दशा के संबंध में आत्म-निरीक्षण के लक्षण मजदूर-नेताओं में नहीं दिखायी देते। क्या हमने इसीलिए बैंकों के राष्ट्रीयकरण का समर्थन किया था ? क्या हमने यह सोचकर समर्थन नहीं दिया था कि बैंक मझोले और सीमांत किसानों, कारीगरों तथा अन्य स्वनियोजित लोगों की मदद करेंगे?

राज्यों की सरकारें इतनी भारी-भरकम हो गयी हैं कि वेतन, भत्तों, अधिकारियों और कर्मचारियों की विशेष सुविधाओं और प्रशासनिक खर्चों की राशि राज्य की कुल आमदनी से बहुत अधिक हो जाती है। ऐसी स्थिति में वास्तविक विकास कैसे हो

सकता है ? वह दिन दूर नहीं जब संगठित क्षेत्र के कर्मचारी और मजदूर, जिनमें सभी स्तरों के सरकारी कर्मचारी शामिल हैं, यह मांग करेंगे कि सरकार तथा अन्य नियोक्ता सिर्फ काम के दिन निश्चित करें, जैसे 100 और बाकी दिन छुट्टियों के मान लिये जायें यानी बिना काम के वेतन दिया जाये और साल भर मुफ्त नाश्ता, लंच भी। उच्च स्तर के प्रबंधक और कंपनी अफसर भी कंपनियों से भारी-भरकम सुविधाएं प्राप्त करने में कर्मचारियों और मजदूरों के कान कतरते हैं। कुछ उच्च प्रबंधकों को डेढ़-दो करोड़ रुपए वार्षिक वेतन मिलता है। देश के उत्पादनशील फार्मों अथवा नासिक और दक्षिण महाराष्ट्र के आधुनिक अंगूरी बागों के निरीक्षण से पता चलता है कि छोटे और मध्यम दर्जे के किसान तथा खेत-मजदूर कितनी कड़ी मेहनत करते हैं। उनके काम के घंटे निश्चित नहीं हैं और न ही वर्ष में 174 छुट्टियां उन्हें मिलती हैं। सरकारी अफसर और कर्मचारी, संगठित क्षेत्र के अफसर, कर्मचारी और मजदूर कभी इस बात पर विचार नहीं करते कि उनके वेतन-भत्तों, विशेष सुविधाओं और अनगिनत छुट्टियों का क़ीमतों पर क्या प्रभाव पड़ता है। मार्क्सवादियों को भी इससे कोई परेशानी नहीं होती जो सर्वहारा के नेतृत्व के अपने सिद्धांत के साथ चिपके हुए हैं। दुर्भाग्यपूर्ण स्थिति यह है कि कोई भी राजनीतिक दल देश को गरीबी के दलदल से उठाने के लिए सादगी, मेहनत और उत्पादन की तीव्र वृद्धि का नया युग लाने के लिए उत्सुक नहीं है। किंतु हमें यह बात नहीं भूलनी चाहिए कि वास्तविक सामाजिक सुरक्षा प्रणाली का निर्माण उच्च उत्पादकता की नींव पर ही किया जा सकता है।

अध्याय तीन

आर. वेंकटरामन और संविधान

राष्ट्रीय सरकार की कल्पना

हमारे समाचारपत्र कई सप्ताह तक इस महत्वहीन मुद्दे पर बहस करते रहे कि उच्च पदस्थ व्यक्तियों द्वारा सेवानिवृत्ति के तुरंत बाद अपने संस्मरण प्रकाशित करना 'उचित' या 'वांछनीय' है अथवा नहीं। यह हमारी सार्वजनिक बहस के स्तर पर शोचनीय टिप्पणी है। गांधी-नेहरू परिवार के कांग्रेसी समर्थकों ने पूर्व राष्ट्रपति आर. वेंकटरामन की इस बात के लिए कटु आलोचना की कि उन्होंने राजीव गांधी को संसद के संदर्भ में अनुभवहीन कह दिया। यह चापलूसी की पराकाष्ठा है। यदि पूर्व राष्ट्रपति की आलोचना हो सकती है तो वह इस निरापद वक्तव्य के लिए नहीं; इस बात के लिए हो सकती है कि उन्होंने राजीव गांधी को 'भारतरत्न' देने का प्रस्ताव किया था। राजीव गांधी निस्संदेह बहुत सज्जन व्यक्ति थे। लेकिन क्या वेंकटरामन सचमुच मानते थे कि राष्ट्रनिर्माण में राजीव गांधी का योगदान उसी श्रेणी का है जो जवाहरलाल नेहरू, सरदार पटेल, चक्रवर्ती राजगोपालाचारी आदि का है? इसका उत्तर स्वतः स्पष्ट है। पूर्व-राष्ट्रपति ने संभवतः यह सुझाव उस परिवार के जख्मों पर मरहम लगाने के लिए दिया था जिसे एक दशक से कम अर्से में दो क्रूर हत्याओं का सदमा सहना पड़ा था। मैं यह कहना चाहता हूं कि स्पष्ट और खुली बहस वेंकटरामन के संस्मरणों के लिखे जाने के औचित्य पर नहीं, उनमें उठाए गए प्रश्नों पर होनी चाहिए थी। मैंने इनमें कुछ प्रश्नों पर जैसे संयुक्त सरकार, प्रधानमंत्री की नियुक्ति और बर्खास्तगी के राष्ट्रपति के अधिकार आदि की चर्चा अन्यत्र की है। इस लेख में मै राष्ट्रीय सरकार के प्रश्न पर विचार प्रकट कर रहा हूं।

चूंकि हमने राजनैतिक दलों के विरोधी रिश्तों पर आधारित वेस्टमिंस्टर टाइप की संसदीय सरकार की प्रणाली अपनाई है, अतः राष्ट्रीय सरकारों के संबंध में ब्रिटिश अनुभव पर विचार करना उपयोगी होगा। राष्ट्रीय सरकार का पहला उदाहरण, जिसमें सभी प्रमुख पार्टियां शामिल हों, प्रथम विश्वयुद्ध के दौरान लिबरल पार्टी के नेता एच. एच. एस्क्विथ के नेतृत्व में बनी संयुक्त सरकार थी। 26 मई, 1915 को बनी इस सरकार में टोरी पार्टी शामिल हुई। इस पार्टी के प्रमुख नेता जैसे बोनर लॉ, आर्थर बाल्फोर, जार्ज कर्जन और आस्टेन चैंबरलेन इस सरकार में मंत्री बने। दूसरी राष्ट्रीय सरकार एस्क्विथ की युद्ध नीति से उत्पन्न व्यापक असंतोष और प्रेस महाधिपति बीवर ब्रुक आदि द्वारा रचे षड्यंत्र के फलस्वरूप बनी। नए लिबरल पार्टी के प्रधानमंत्री लॉयड जार्ज ने 7 दिस्म्बर, 1916 को शपथ ग्रहण की। वह एस्क्विथ ग्रुप का समर्थन प्राप्त नहीं कर सका, किन्तु उसने टोरी पार्टी का और नई उभर रही लेबर पार्टी के नेता आर्थर हेंडरसन का समर्थन प्राप्त कर लिया। इस सरकार ने युद्ध की समाप्ति पर हुए आम चुनाव में महान सफलता हासिल की–इस चुनाव को कूपन चुनाव कहा गया है–और यह सरकार 1922 तक चली जब टोरी पार्टी के पिछली बेंचों पर बैठने वाले अधीर सदस्यों ने इसके खिलाफ विद्रोह किया और इसे तोड़ दिया। किन्तु ये दोनों राष्ट्रीय सरकारें मूलतः युद्धकालीन प्रयोग थे। जैसाकि ऊपर कहा गया, लॉयड जार्ज की सरकार को लंबे समय तक बनाए रखने के प्रयास सफल नहीं हुए। पार्टी के कार्यकर्त्ता एक-पार्टी सरकार में ही संतोष प्राप्त कर सकते थे।

1929-30 में विश्व अर्थव्यवस्था में अचानक भयानक संकट उपस्थित हुआ। इस महामंदी के दिनों में रैम्से मैक्डोनाल्ड अल्पमत लेबर सरकार के प्रधानमंत्री थे। इस अभूतपूर्व संकट का सामना करने के लिए ताज की प्रेरणा से लेबर प्रधानमंत्री ने 1931 में राष्ट्रीय सरकार बनाने का निश्चय किया, जिसमें टोरी पार्टी और लिबरल पार्टी को शामिल किया गया। किन्तु लेबर पार्टी के एक छोटे-से तबके ने ही मैक्डोनाल्ड का साथ दिया। अधिकांश लेबर सदस्यों ने इसे अपने साथ हुआ विश्वासघात माना और वे आर्थर हेंडरसन के नेतृत्व में सरकार से बाहर रहे। 1931 के आम चुनावों में राष्ट्रीय सरकार को विशाल बहुमत मिला और लेबर पार्टी का, जिसका मनोबल पहले ही टूट चुका था, लगभग सफाया हो गया। यह सरकार नाम की राष्ट्रीय सरकार थी, वास्तव में यह कंजर्वेटिव सरकार थी। बाद में मैक्डोनाल्ड सेवानिवृत्त हो गए और राष्ट्रीय सरकार का मुखौटा हट गया।

दूसरे विश्वयुद्ध में नेविल चैंबरलेन के नेतृत्व में टोरी सरकार सत्ता में थी और उसे हाउस आफ कामंस में भारी बहुमत हासिल था। चैंबरलेन में युद्ध के प्रति जरा भी उत्साह नहीं था। स्कैंडेनेवियन देशों पर हिटलर के तूफानी हमले और ब्रिटिश

सेनाओं की असफलता के फलस्वरूप पिछली बेंच के सदस्यों ने चैंबरलेन सरकार के खिलाफ विद्रोह कर दिया। अब राष्ट्रीय सरकार आवश्यक हो गई। लेबर पार्टी ने चैंबरलेन के अधीन काम करने से इंकार कर दिया। लार्ड हैलीफैक्स हाउस आफ कामंस के सदस्य नहीं थे, अतः जिम्मेदारी विंस्टन चर्चिल के कंधों पर आ पड़ी। चर्चिल ने जो सरकार बनाई वह वस्तुतः राष्ट्रीय सरकार थी। यूरोप में युद्ध की समाप्ति के तुरंत बाद यह सरकार खत्म हो गई। लेबर पार्टी परंपरागत विरोधी पक्ष-युक्त राजनीति को बहाल करने के लिए उत्सुक थी और उसे चुनाव में स्पष्ट बहुमत की आशा थी। वह राष्ट्रीय सरकार के प्रयोग से अघा चुकी थी। लेबर पार्टी के फैसले ने पुनः इस सिद्धांत को स्थापित किया कि पार्टी की सरकार से अलविदा यानी राष्ट्रीय सरकार महायुद्ध जैसी वास्तविक संकटकालीन स्थिति में ही सहनीय हो सकती है।

इतिहास के अवलोकन से यह बात जाहिर होती है कि शांति के दिनों में राष्ट्रीय सरकार को चलाना कितना कठिन होता है। भारत में स्वाधीनता-प्राप्ति के बाद तीन बार युद्धकालीन आपातस्थितियां बनीं। 1962 में भारत-चीन सीमा-युद्ध के समय, 1965 में भारत-पाक युद्ध के समय और 1971 में बांग्लादेश युद्ध के समय। इन सभी मौकों पर युद्ध की आपातस्थिति एक महीने से ज्यादा नहीं रही। ये लंबे पूर्ण युद्ध की स्थितियां नहीं थीं जैसे 1914 और 1939 में विश्वयुद्ध की स्थितियां थीं। कांग्रेस मजबूत स्थिति में थी और लोकसभा में उसे दो-तिहाई बहुमत हासिल था। प्रमुख विपक्षी दलों ने सरकार को बिना शर्त पूर्ण समर्थन दिया था। यदि इनमें से कोई युद्ध लंबे समय तक चलता तो शायद एक राष्ट्रीय सरकार बन सकती थी। किन्तु यह मात्र 'यदि' है। वास्तविकता यह है कि अलग-अलग ये विपक्षी ग्रुप उन दिनों बहुत छोटे थे। हमारे यहां अब भी एक-पार्टी वर्चस्व प्रणाली थी, जिसके कारण अल्पकालीन संकट के समय राष्ट्रीय सरकार अनावश्यक थी।

1989 में राजनैतिक स्थिति में परिवर्तन आया। राजीव गांधी की सरकार ने अपना बहुमत खो दिया। दूसरे सबसे बड़े ग्रुप जनता दल और राष्ट्रीय मोर्चे के अन्य सहयोगियों को वामपंथी मोर्चे और भाजपा ने बाहर से समर्थन देने का वायदा किया था। इस प्रकार जनता दल एक कामचलाऊ संसदीय बहुमत पर निर्भर कर सकता था। वामपंथी मोर्चा न तो विश्वनाथ प्रताप सिंह के नेतृत्व वाली संयुक्त सरकार में शामिल होने के लिए तैयार था और न भाजपा को इसमें शामिल होने देना चाहता था। यह विश्वनाथ प्रताप सिंह के मनोनुकूल था जो संयुक्त सरकार नहीं बनाना चाहते थे और दूसरी पार्टियों के साथ सत्ता नहीं बांटना चाहते थे। (उन्होंने अपने पूर्व कांग्रेसी सहयोगियों – अरुण नेहरू और आरिफ मोहम्मद खान को दो-दो विभाग दिए, जिन्होंने सबसे पहले उनका साथ छोड़ा।) आपसी

सलाह-मशविरे और तालमेल के अभाव के कारण राष्ट्रीय मोर्चे के आंतरिक विरोधाभास तीव्रता से प्रकट हुए और यह सरकार टूट गई।

चंद्रशेखर सरकार की विदाई और 1991 के नए लोकसभा चुनाव के बीच के संक्षिप्त धुंधलके के दिनों में (अपने संस्मरणों के संबंध में दिए गए एक इंटरव्यू में वेंकटरामन के कथनानुसार) भाजपा के नेता अटल बिहारी वाजपेयी ने वेंकटरामन से राष्ट्रीय सरकार का प्रसंग छेड़ा और उनसे पूछा कि क्या वे ऐसी सरकार का नेतृत्व करने के लिए तैयार होंगे। वाजपेयी ने इसका प्रतिवाद किया है और कहा है : "राष्ट्रीय सरकार बनाने का विचार वेंकटरामन ने रखा था और उन्होंने मेरे सामने प्रस्ताव रखा था। मैंने पूछा कि क्या वे अपना पद छोड़ कर प्रधानमंत्री बनने को तैयार हैं । इसका जवाब उन्होंने 'न' में दिया। वास्तव में वेंकटरामन का इरादा डा. शंकरदयाल शर्मा को राष्ट्रीय सरकार का प्रधानमंत्री बनाने का था।" (हिन्दुस्तान, टाइम्स आफ इंडिया, हिन्दू–1 अगस्त, 1994)

डा. शर्मा ने इस प्रस्ताव को नापसंद किया। वे वेंकटरामन की जगह राष्ट्रपति बनने की उम्मीद लगाए बैठै थे। वे जानते थे कि राष्ट्रीय सरकार नौ दिन का आश्चर्य होगी। वे राष्ट्रपति बनने का अवसर खो देंगे और तथाकथित राष्ट्रीय सरकार की संक्षिप्त अवधि में वेंकटरामन को राष्ट्रपति का एक और कार्यकाल निश्चित रूप से मिल जाएगा। अतः डा. शर्मा ने इस प्रस्ताव से अपने को अलग कर लिया। वेंकटरामन के प्रस्ताव का कोई परिणाम नहीं निकला।

मैं उस अविश्वसनीय प्रसंग की चर्चा नहीं करूंगा जिसमें यह कहा गया कि जब वेंकटरामन उपराष्ट्रपति थे तो कोई व्यक्ति उनके पास गया और उसने 1987 में, काग्रेस संसदीय पार्टी के बहुमत की ओर से प्रधानमंत्री बनने के लिए उनसे निवेदन किया था। मेरे लिए यह पहेली ही है कि वेंकटरामन ने उस व्यक्ति से बार-बार बात ही क्यों की, जिसकी योजना नितांत मूर्खतापूर्ण थी। कहा गया कि उस व्यक्ति के पास बिना हस्ताक्षरों के नामों की सूची थी। बहरहाल, यह प्रसंग वेंकटरामन की राष्ट्रीय सरकार की योजना से संबंधित नहीं है जिसका ऊपर जिक्र किया गया है। 'उस व्यक्ति' की योजना राजमहल के तख्तापलट जैसी थी और उसमें ज्ञानी जैल सिंह की मुख्य भूमिका थी। ज्ञानी जैल सिंह का यह विचार कि वह संवैधानिक प्रमुख के नाते लोकसभा में भारी बहुमत के समर्थन वाले प्रधानमंत्री को बर्खास्त कर सकते हैं, यह दिखाता है कि ज्ञानी जी परीकथाओं की दुनिया में जी रहे थे।

कई लोग राष्ट्रीय सरकार के निहितार्थों को समझे बगैर उसकी बात करते हैं। भाजपा अब बड़ी ताकत है और कोई भी सरकार उसके बिना राष्ट्रीय सरकार नहीं बन सकती। जाहिर है कि वेंकटरामन ने, जिन्होंने वाजपेयी से बात की थी, अपनी कल्पना की सरकार में सभी प्रमुख दलों को शामिल किया था जो सही भी है। लेकिन

सवाल है कि क्या ऐसी राष्ट्रीय सरकार के, जिसमें सभी प्रमुख पार्टियां शामिल हों, बनने की कोई संभावना है? मैं नहीं समझता कि राष्ट्रीय सरकार का प्रस्ताव इस समय व्यावहारिक है। पार्टियों में एक-दूसरे से तीव्र मतभेद हैं। उनका परस्पर द्वेष और अलगाव इतना अधिक है कि केन्द्र में कोई राष्ट्रीय सरकार बन ही नहीं सकती। समान विचार की पार्टियों की संयुक्त सरकार भी हवाई कल्पना है। अपने गौरवपूर्ण अतीत के कारण कांग्रेस अन्य पार्टियों के साथ ससम्मान सत्ता की साझेदारी कर ही नहीं सकती। वह हमेशा उन्हें अपने में जज्ब करने की कोशिश करेगी।

प्रधानमंत्री का लोकसभा भंग करने का अधिकार

पूर्व राष्ट्रपति आर. वेंकटरामन ने 'हिन्दू' को दिए गए साक्षात्कार में मंत्रिमंडल के निर्माण और लोकसभा भंग करने के राष्ट्रपति के अधिकार पर एक महत्वपूर्ण बात कही है। संविधान के पाठ में केवल इतना ही कहा गया है कि राष्ट्रपति को मंत्रणा देने के लिए एक मंत्रि-परिषद होगी जिसका प्रमुख प्रधानमंत्री होगा (अनुच्छेद-74); प्रधानमंत्री की नियुक्ति राष्ट्रपति करेगा, मंत्री राष्ट्रपति के प्रसाद पर्यंत अपने पद धारण करेंगे और मंत्रि-परिषद लोकसभा के प्रति सामूहिक रूप से उत्तरदायी होगी (अनुच्छेदं-75)। संविधान में यह भी कहा गया है कि राष्ट्रपति समय-समय पर लोकसभा का विघटन कर सकेगा (अनुच्छेद-85)।

संविधान में यह नहीं कहा गया है कि यदि लोकसभा में किसी एक दल को स्पष्ट बहुमत नही मिलता है तो राष्ट्रपति किसे प्रधानमंत्री नियुक्त करें। पूर्व-राष्ट्रपति आर. वेंकटरामन को इस तरह की स्थिति का 1989 में सामना करना पड़ा था। एक अन्य राष्ट्रपति संजीव रेड्डी के सामने भी ऐसी ही स्थिति आई थी जब जनता पार्टी के टूटने के बाद जुलाई 1979 में मोरारजी देसाई ने त्यागपत्र दे दिया था। त्रिशंकु लोकसभा में (अर्थात जब किसी एक पार्टी को स्पष्ट बहुमत न मिले) राष्ट्रपति क्या करें ? दोनों राष्ट्रपतियों ने इन मौकों पर अपने द्वारा की गई कार्रवाई को स्पष्ट किया है। श्री वेंकटरामन के वक्तव्य का संबंधित अंश इस प्रकार है : "1989 में जब राजीव गांधी चुनाव हार गए तो सवाल उठा कि सरकार बनाने के लिए किसे आमंत्रित किया जाए? कांग्रेस अब भी सबसे बड़ी पार्टी थी। सदस्य-संख्या की दृष्टि से दूसरे नंबर पर जनता दल-राष्ट्रीय मोर्चा था। तीसरे नंबर पर भाजपा और चौथे पर वामपंथी मोर्चा था। अब ब्रिटिश परंपरा के अनुसार मैं सबसे बड़ी पार्टी के नेता राजीव गांधी को आमंत्रित कर सकता था। कुछ ब्रिटिश

लेखकों ने कहा है कि यदि कोई सरकार आम चुनावों में पराजित हुई तो उसे पुनः सरकार बनाने के लिए आमंत्रित नहीं करना चाहिए क्योंकि उसने जनता का विश्वास खो दिया था। लेकिन यह सिर्फ सैद्धांतिक दृष्टिकोण लगता है क्योंकि 1933 में जब कंजर्वेटिव सरकार संरक्षणवाद बनाम मुक्त व्यापार के मुद्दे पर हार गई तो बाल्डविन सबसे बड़ी पार्टी के नेता थे और ताज ने कहा कि सबसे बड़ी पार्टी के नेता होने के कारण वे वाल्डविन को ही सरकार बनाने के लिए आमंत्रित करेंगे। अतः ब्रिटिश परंपरा के अनुसार सबसे बड़ी पार्टी के नेता को ही सरकार बनाने के लिए आमंत्रित किया जाना चाहिए।

श्री वेंकटरामन ने स्टेनली बाल्डविन का उदाहरण दिया है। इस घटना की तारीख और परिस्थिति के संबंध में कुछ भ्रम है। इंग्लैंड में दिसंबर, 1923 में संरक्षणवाद बनाम मुक्त व्यापार के मुद्दे पर आम चुनाव हुए थे। कंजर्वेटिव पार्टी इसमें हार गई थी। उसे 258 सीटें मिलीं जबकि लेबर पार्टी को 191 और लिबरल पार्टी को 158 सीटें। बाल्डविन ने लिबरल पार्टी के साथ मिलकर अपने नेतृत्व में संयुक्त सरकार बनाने की कोशिश नहीं की। वे सिद्धांत पर खड़े रहे। वे त्यागपत्र देना चाहते थे। उन्होंने लिबरल-कंजर्वेटिव संयुक्त सरकार के नेतृत्व के लिए एस्क्विथ के नाम का सुझाव दिया। अंत में बाल्डविन की पार्टी ने उन्हें हाउस ऑफ कामन्स में पराजय का सामना करने के लिए तैयार कर लिया। बाद में उन्होंने कहा कि लेबर पार्टी को सरकार बनाने का मौका दिया जाना चाहिए। इससे लेबर पार्टी अपनी लोकतांत्रिक जिम्मेदारी को महसूस करने लगेगी और संविधान की तोड़फोड़ नहीं करेगी। लिबरल पार्टी भी लेबर सरकार को सहन करने के लिए तैयार थी। अतः बाल्डविन ने 22 जनवरी, 1923 को त्यागपत्र दे दिया। अगले दिन रैम्से मैक्डोनाल्ड के नेतृत्व में प्रथम अल्पसंख्यक लेबर सरकार बनी।

1989 में भारत की स्थिति बिल्कुल साफ थी। उसमें कोई अस्पष्टता नहीं थी। न जाने क्यों राष्ट्रपति को इसमें गुत्थी दिखाई दी। जनता दल ने 144 क्षेत्रों में जीत हासिल की थी। वाम मोर्चे ने विश्वनाथ प्रताप सिंह को अपना समर्थन दिया था। भाजपा ने भी उनका समर्थन किया था। ये सारे ग्रुप न सिर्फ कांग्रेस के विरुद्ध चुनाव लड़े थे, इन्होंने आपस में चुनावी तालमेल भी किया था और इस तालमेल का अधिकांश चुनाव क्षेत्रों में असर भी हुआ था। 1923 में इंग्लैंड में चुनावी तालमेल नहीं हुआ था, न तो टोरी पार्टी और लिबरल में और न लिबरल और लेबर में। यद्यपि, 1989 में यहां किसी एक पार्टी को बहुमत नहीं मिला था किंतु उन पार्टियों को संसदीय बहुमत मिला था जो सरकार बनाए रखने के लिए तैयार थीं। राजीव गांधी ने सरकार बनाने का दावा न करके ठीक ही किया। अगर उन्होंने दावा किया भी होता तो राष्ट्रपति के लिए उचित यही होता कि नई लोकसभा में विभिन्न पार्टियों के संबंधों को देखते

हुए वे उनके दावे को अस्वीकार करते। राजीव गांधी को प्रधानमंत्री नियुक्त करना न केवल 'अलोकप्रिय' काम होता जैसाकि श्री वेंकटरामन ने स्वीकार किया है, बल्कि यह तमाशा भी बनता क्योंकि राजीव गांधी की सरकार लोकसभा में तुरंत परास्त हो जाती और राष्ट्रपति की गरिमा को बड़ा धक्का लगता।

अतः वेंकटरामन का यह वक्तव्य कि उन्होंने सबसे बड़ी पार्टी को सरकार बनाने के लिए आमंत्रित करने के सिद्धांत को स्थापित किया, इस शर्त के साथ ही स्वीकार किया जा सकता है कि उन्होंने ऐसी स्थिति में यह सिद्धांत लागू किया जहां स्पष्ट वैकल्पिक संसदीय बहुमत नहीं था। जून, 1991 में राष्ट्रपति के सामने ऐसी स्थिति थी जिसमें सबसे बड़ी पार्टी के नेता को आमंत्रित करने का उनका काम सर्वथा उचित था। 1991 के लोकसभा चुनावों में न केवल राष्ट्रीय मोर्चा-वाम मोर्चा और भाजपा के बीच चुनावी तालमेल नहीं था, इन दो ग्रुपों ने पक्की दुश्मनी के साथ चुनाव लड़ा था। इस सूरत में कांग्रेस के नए नेता को सरकार बनाने के लिए आमंत्रित करना उतना ही उचित था जितना दिसंबर, 1989 में राजीव गांधी को आमंत्रित करना अनुचित होता।

श्री वेंकटरामन ने जिस एक और महत्वपूर्ण सिद्धांत की प्रस्थापना की है उसका संबंध लोकसभा को भंग करने से है। इस मुद्दे पर वे मेरी राय में मजबूत आधार पर खड़े हैं। निम्नलिखित प्रश्नोत्तर इसे स्पष्ट करेंगे :

प्रश्न : एक बार फिर आप एक मुश्किल फैसला करने की परेशानी से बच गए – इस बार विश्वनाथ प्रताप सिंह के द्वारा। क्या उन्होंने लोकसभा का सामना करने और परास्त होने के बजाय लोकसभा भंग करने का सुझाव दिया था ?

उत्तर : उन्होंने ऐसा किया होता तो मैंने तुरंत उसे स्वीकार कर लिया होता, क्योंकि मैंने हमेशा ब्रिटिश परंपरा का अनुसरण किया है।

प्रश्न : क्या यह सिद्धांत चंद्रशेखर के लिए भी लागू होता ? यह जानते हुए भी कि चंद्रशेखर अल्पमत वाले प्रधानमंत्री हैं ?

उत्तर : जो भी हों, वे प्रधानमंत्री हैं। वे लोकसभा में परास्त नहीं हुए थे। अगर परास्त हुए भी होते तो भी उन्हें लोकसभा भंग कराने का अधिकार था, यह कहते हुए कि मैं जनता के समक्ष जाना चाहता हूं। इस बात को ब्रिटिश ताज ने भी गत 100 सालों के दौरान हर मौके पर स्वीकार किया है। एकमात्र मौका, जब ताज ने ऐसी सिफारिश को स्वीकार नहीं किया, तब आया था जब फ्रीमैन प्रधानमंत्री थे। अतः जब चंद्रशेखर ने लोकसभा भंग करने की सिफारिश की और चूंकि किसी और पार्टी ने सरकार बनाने का दावा नहीं किया था, तो मैंने दोनों आधारों पर उनकी सिफारिश को मंजूर कर लिया।

लोकसभा भंग करने के सिद्धांत की इस सही व्याख्या का अनुसरण आगे के

सभी राष्ट्रपतियों द्वारा किया जाना चाहिए, क्योंकि जब सबको मालूम हो जाएगा कि लोकसभा भंग करने की प्रधानमंत्री द्वारा की गई सिफारिश को अनिवार्य रूप से मान लिया जाएगा तो पार्टियां हल्के-फुल्के ढंग से वर्तमान सरकार से समर्थन वापस लेकर सदन भंग होने की सजा आमंत्रित नहीं करेंगी। यदि विश्वनाथ प्रताप सिंह ने आडवाणी की गिरफ्तारी से पहले लोकसभा भंग करने की सिफारिश की होती तो दंगे-फसाद भी न होते और जनता दल भी न टूटता। उसकी उत्तर प्रदेश सरकार भी बची रहती। किंतु विश्वनाथ प्रताप सिंह नए चुनाव करांने से डर गए। श्री वेंकटरामन ने एक और महत्वपूर्ण सवाल संविधान के अंतर्गत राज्यपाल की स्थिति का उठाया है। उनका कहना है कि राज्यपाल की स्थिति अस्पष्ट है। राज्यपाल को बिना नोटिस, बिना कोई कारण दिए हटाया जा सकता है। राष्ट्रपति के लिए कोई विकल्प नहीं है, उसे मात्र हस्ताक्षर करने पड़ते हैं। श्रीमती इंदिरा गांधी ने एक-दो राज्यपालों को ही हटाया था किंतु विश्वनाथ प्रताप सिंह के शासन काल में राज्यपालों को थोक में हटाया गया। पी. वी. नरसिंह राव ने इस मामले में कुछ अधिक सोच-समझकर कदम उठाया। कम से कम विश्वनाथ प्रताप सिंह की तरह उन्होंने थोक में राज्यपालों की बर्खास्तगी नहीं की। वेंकटरामन इस मामले में राष्ट्रपति को विवेकाधिकार देने के पक्ष में नहीं हैं, जो सही ही है, क्योंकि इससे राष्ट्रपति और प्रधानमंत्री के बीच विरोध की स्थिति पैदा हो सकती है। किंतु वे न्यायपालिका का कुछ हस्तक्षेप इस बारे में चाहते हैं। मेरा विचार है कि इस संबंध में यह व्यवस्था की जा सकती है कि राज्यपाल के खिलाफ कार्रवाई करने से पहले राज्यपाल को दिए गए सरकार के पत्र और राज्यपाल के उत्तर को मुख्य न्यायाधीश के पास अनौपचारिक मत के लिए भेजा जाए। लेकिन इस संबंध में कोई औपचारिक प्रावधान करने से, मुझे डर है, और समस्याएं खड़ी होंगी।

मैं श्री वेंकटरामन के साक्षात्कार की और बातों की चर्चा नहीं करूंगा सिवाय उसके जो उन्होंने राज्य-प्रायोजित गैरजिम्मेदारीपूर्ण बंदों के बारे में कही है। मैंने इसके बारे में लिखा भी है और मैं समझता हूं कि औद्योगिक और सार्वजनिक जीवन की वर्तमान मंद गति को देखते हुए पूर्व-राष्ट्रपति ने जो तीव्र भावना व्यक्त की है वह बिल्कुल उचित है। उन्होंने कहा है कि राज्य सरकारों का कर्तव्य जीवन की समगति में बाधा डालना नहीं, उसे बनाए रखना है। राज्य सरकार द्वारा बंद प्रायोजित करने का मतलब है कि वह संविधान के अनुसार काम नही कर रही है। शायद पूर्व-राष्ट्रपति का यह कहना बहुत दूर तक जाना है कि राज्य द्वारा जानबूझकर प्रायोजित बंद संवैधानिक व्यवस्था भंग होने के समान है। किंतु कार्य-संस्कृति के पूर्ण अभाव के संदर्भ में इस बात से इंकार नहीं किया जा सकता कि जो संदेश वे देना चाह रहे हैं वह उचित भी है और प्रासंगिक भी।

क्या प्रधानमंत्री की बर्खास्तगी संभव है ?

क्या राष्ट्रपति ऐसे प्रधानमंत्री को वर्खास्त कर सकता है जिसे लोकसभा में स्पष्ट बहुमत हासिल हो और यदि वह कर सकता है तो किन परिस्थितियों में ?

इस प्रश्न पर 1987 में काफी बहस हुई थी जब ऐसी अफवाहें उड़ने लगी थीं कि ज्ञानी जैलसिंह राजीव गांधी को बर्खास्त करने वाले हैं। श्री वेंकटरामन के 'रहस्योद्घाटनों' के संदर्भ में यह सवाल फिर चर्चा का विषय बना है। इस कहानी का लब्बोलुवाब यह है कि कांग्रेस के वरिष्ठ सांसद ने, जो बाद में विपक्ष का नेता बना, कांग्रेस और गैर-कांग्रेसी पार्टियों के 240 सांसदों की ओर से उपराष्ट्रपति श्री वेंकटरामन से भेंट की और उनसे निवेदन किया कि वे प्रधानमंत्री बनने के लिए सहमत हो जाएं। पूर्व-उपराष्ट्रपति का कहना है कि प्रस्ताव लाने वाले व्यक्तियों ने उन्हें बताया कि राष्ट्रपति ज्ञानी जैलसिंह का इस सुझाव के प्रति अनुकूल रवैया था।

यह संकट बोफोर्स तोपों और पनडुब्बियों के घोटाले के प्रकाश में आने से तीव्र हुआ था। यह नहीं कहा जा सकता कि राजीव गांधी को हटाकर वेंकटरामन को प्रधानमंत्री बनाने का यह षड्यंत्र कितना गंभीर था, किन्तु ज्ञानी जैलसिंह की दूसरी बार राष्ट्रपति बनने की इच्छा ने सारे मामले को उलझा दिया। वेंकटरामन ने चतुर और अनुभवी राजनेता होने के कारण यह समझ लिया कि सारी योजना बचकानी है और अगर वे इसमें शामिल हुए तो ज्ञानी जैलसिंह के बाद राष्ट्रपति बनने की उनकी सारी संभावनाएं नष्ट हो जाएंगी। फिर भी इस विषय पर वे लोगों से मुलाकातें करते रहे। कांग्रेस के वरिष्ठ सांसद ने सुझाव रखा कि वेंकटरामन ज्ञानी जैलसिंह से मिलें। वास्तव में ज्ञानी जैलसिंह अगले दिन उपराष्ट्रपति से मिले। राष्ट्रपति ने वेंकटरामन से सीधा सवाल किया कि कांग्रेस के वरिष्ठ सांसद के प्रस्ताव के संबंध में उनकी क्या प्रतिक्रिया है। वेंकटरामन ने उन्हें स्पष्ट रूप से कहा कि वे षड्यंत्र में शामिल नहीं होंगे। श्री वेंकटरामन को यह बात साफ दिखाई दे रही थी कि उन्हें राष्ट्रपति पद के लिए कांग्रेस का उम्मीदवार चुन लिया जाएगा और कांग्रेस के भीतर विद्रोह की बहुत कम संभावना है। वेंकटरामन विपक्ष के उन नेताओं के नाम नहीं बताते जो उनसे 13 जून, 1987 को मिले थे। यह स्पष्ट है कि वामपंथी पार्टियां इस षड्यंत्र में शामिल नहीं थीं। बहरहाल, गैर-कांग्रेसी और गैर-वामपंथी दलों की लोकसभा में सदस्य-संख्या नगण्य थी। यद्यपि प्रधानमंत्री का पद दूर की चीज थी, राष्ट्रपति का पद वेंकटरामन की मुट्ठी में था। अतः उन्होंने प्रस्ताव रखने वालों को दुत्कार दिया।

जहां तक ज्ञानी जैलसिंह की बात है, उनकी सबसे ज्यादा रुचि दूसरी बार

राष्ट्रपति बनने में थी। उनके गंभीर प्रतिद्वंद्वी वेंकटरामन थे, कृष्णा अय्यर नहीं। वे दूसरी बार तभी राष्ट्रपति बन सकते थे जब (क) कांग्रेस का विभाजन हो जाता; और (ख) उनका एकमात्र प्रतिद्वंद्वी प्रधानमंत्री बन जाता। राष्ट्रपति का विचार था कि राजीव गांधी को बर्खास्त करके वेंकटरामन को प्रधानमंत्री बना देने से उनकी राष्ट्रपति पद के लिए दोबारा नामजदगी निश्चित है। सारा षड्यंत्र ज्ञानी जैलसिंह की रुग्ण महत्वाकांक्षा और उन विपक्षी राजनेताओं की तिकड़म की उपज था, जो वोट के द्वारा सत्ता न प्राप्त कर पाने से हताश थे।

ज्ञानी जैलसिंह उन दिनों अपने एक विश्वासपात्र के माध्यम से मुझसे सम्पर्क बनाए हुए थे। मैंने उन्हें लिखा कि उनका इरादा संदेह से ऊपर होना चाहिए। उनकी चिंता मुख्य रूप से सार्वजनिक जीवन का भ्रष्टाचार है, उनकी इस बात पर जनता तभी विश्वास करेगी जब वे घोषणा करेंगे कि वे दूसरी बार राष्ट्रपति बनने के इच्छुक नहीं हैं। यह घोषणा करने से उन्होंने इनकार किया। प्रधानमंत्री को बर्खास्त करने की उनकी धमकी सार्वजनिक जीवन की स्वच्छता की चिंता से प्रेरित नहीं थी। उनकी मुख्य चिंता दोबारा राष्ट्रपति बनने की थी।

लेकिन यहां सवाल उठता है कि अगर वेंकटरामन ने यह प्रस्ताव मान लिया होता जिसे मानने से उन्होंने साफ इंकार किया, तो क्या ज्ञानी जैलसिंह प्रधानमंत्री राजीव गांधी को संविधान के अनुसार बर्खास्त कर सकते थे? मेरा विचार है कि भारतीय संविधान राष्ट्रपति को इस तरह का इकतरफा अधिकार नहीं देता है। ब्रिटिश पार्लियामेंट के इतिहास में उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य से लेकर कोई उदाहरण नहीं मिलता जिसमें राज्य के प्रमुख ने प्रधानमंत्री को बर्खास्त किया हो।

यह सही है कि संविधान में कहा गया कि प्रधानमंत्री और अन्य मंत्री राष्ट्रपति के प्रसाद की अवधि में पद पर बने रहते हैं। किंतु इसमें यह भी कहा गया है कि मंत्रि-परिषद सामूहिक रूप से लोकसभा के आगे उत्तरदायी होगी। यदि इन दोनों उपबंधों को एक साथ पढ़ा जाए तो यह साफ हो जाएगा कि राष्ट्रपति उस प्रधानमंत्री को, जिसे लोकसभा में बहुमत का समर्थन प्राप्त है, सामान्य स्थितियों में बर्खास्त नहीं कर सकता है। शासक दल में विभाजन होने और बहुमत वाली पार्टी का बहुमत न रहने की स्थिति में भी–जो स्थिति 1969 में बनी थी–राष्ट्रपति के लिए उचित रास्ता यह है कि वह प्रधानमंत्री को सदन में अपना बहुमत सिद्ध करने के लिए कहे और उससे पहले वह प्रधानमंत्री को बर्खास्त न करे।

मैंने ऊपर 'सामान्य स्थितियों' पदबंध का प्रयोग इसलिए किया है कि यदि राष्ट्रपति को इस बात का पूरा सबूत मिल जाए कि प्रधानमंत्री देश के शत्रुओं से मिला हुआ है और वह राष्ट्रीय हितों के खिलाफ काम कर रहा है तो राष्ट्रपति का यह स्पष्ट कर्तव्य होगा कि वह प्रधानमंत्री को बर्खास्त करे और नया प्रधानमंत्री

नियुक्त करे तथा जरूरत हो तो नए मंत्रिमंडल की सलाह पर लोकसभा को भंग करके नये चुनाव कराए; अथवा, राष्ट्रपति के पास प्रधानमंत्री द्वारा घूस लेने का पक्का सबूत हो तो भी वह प्रशासन की नैतिकता तथा स्वच्छता की रक्षा के लिए यह कदम उठा सकता है। 1987 में इनमें से कोई भी स्थिति नहीं बनी थी। राजीव गांधी देश के शत्रुओं के साथ मिले हुए नहीं थे, न ही बोफोर्स और पनडुब्बियों के घोटालों में उनके द्वारा घूस लिए जाने के विश्वसनीय प्रमाण उपलब्ध थे। विश्वनाथ प्रताप सिंह, जो 1987 में राजीव गांधी के खिलाफ ये आरोप लगा रहे थे, कुछ भी सिद्ध नहीं कर सके हालांकि वे 11 महीने प्रधानमंत्री रहे। राजीव गांधी की तरफ संदेह की अंगुली उठाने वाली बोफोर्स सम्बन्धी खबरों के प्रथम प्रकाशन के पूरे सात साल बाद भी हम नहीं जानते हैं कि बोफोर्स द्वारा कमीशन के भुगतान और इसमें राजीव गांधी की भूमिका के संबंध में सच क्या है? ऐसी स्थिति में राष्ट्रपति केवल संदेह के आधार पर प्रधानमंत्री को कैसे बर्खास्त कर सकते थे ?

यह सही है कि बोफोर्स के मामले में राजीव गांधी साफगोई नहीं कर रहे थे। राष्ट्रपति संभवतः उनसे कह सकते थे कि वे सचाई का पता लगाने के लिए तत्काल जरूरी कदम उठाएं। किंतु महज भ्रष्टाचार के आरोपों के आधार पर और राजीव गांधी के टाल-मटोल करने के आधार पर राष्ट्रपति द्वारा उन्हें बर्खास्त करना उचित नहीं होता। इसके लिए पक्के सबूत की ज़रूरत होती। किसी ने भी यह सबूत पेश नहीं किया।

1975 में आस्ट्रेलिया में एक स्थिति पैदा हुई थी। संसद के दोनों सदनों के बीच टकराव की स्थिति बनी और सीनेट द्वारा विनियोग विधेयकों पर विचार स्थगित करने से आपूर्ति बंद हो जाती। प्रशासन के बिल्कुल ठप होने की संभावना बन गई। गवर्नर जनरल सर जॉन केर ने लेबर पार्टी के प्रधानमंत्री को बर्खास्त किया और उनकी जगह बनाए गए नए प्रधानमंत्री ने चुनाव कराए। लेबर पार्टी की चुनावों में हार हुई। संविधान के एक विशेषज्ञ ने इस पर निम्नलिखित टिप्पणी की है :

"मंत्रिमंडल की सलाह के बिना संसद को भंग करने और प्रधानमंत्री तथा उसकी सरकार को बर्खास्त करने में शाही विशेषाधिकार के उपयोग का वर्तमान में एक ही उदाहरण मिलता है और वह है 1975 में आस्ट्रेलिया का। यहां यह शाही विशेषाधिकार गवर्नर जनरल को प्राप्त है और उसका इंग्लैंड के बादशाह से वस्तुतः कोई संबंध नहीं है। इस विशेषाधिकर का प्रयोग तब किया गया जब संघीय सरकार संघीय संसद से दो कानून पास नहीं करा सकी और इस पर भी न तो उसने त्यागपत्र दिया और न ही नये चुनाव कराने के उद्देश्य से संसद को भंग करने के लिए गवर्नर जनरल को सलाह दी। विशेषाधिकार के इस प्रकार के प्रयोग की

स्थितियां बिरले ही आएंगी किंतु यह राज-प्रमुख की अवशिष्ट शक्ति का उदाहरण है जो संविधान का महत्वपूर्ण सुरक्षोपाय है।"

इस प्रकार हर संविधान में एक अस्पष्टता होती है जो संविधान को लचीला बनाती है, किंतु साथ ही उच्चपदस्थ सिद्धांतहीन व्यक्तियों द्वारा उसके दुरुपयोग का खतरा भी पैदा करती है।

संयुक्त सरकारों की व्यावहारिकता

नौवीं और दसवीं लोकसभा के चुनावों में किसी एक पार्टी को लोकसभा में स्पष्ट बहुमत नहीं मिला था। विश्वनाथ प्रताप सिंह की सरकार मूलतः जनता दल की सरकार थी हालांकि उसमें असम गण परिषद, तेलगूदेशम और द्रविड़ मुन्नेत्र कषगम को भी प्रतिनिधित्व दिया गया था। वामपंथी मोर्चा सरकार में शामिल नहीं होना चाहता था और न ही वह चाहता था कि भाजपा राष्ट्रीय मोर्चा सरकार में शामिल हो। भाजपा और वाममोर्चे की इस फूट का लाभ उठाकर विश्वनाथ प्रताप सिंह ने नए संसदीय बहुमत के घटक तत्वों के बीच, जिन पर सरकार टिकी थी, सलाह-मशविरा करने का औपचारिक तंत्र भी नहीं बनाया। प्रधानमंत्री 'विसंगतियों का अच्छा प्रबंधक' बनने पर गर्व महसूस करने लगे और वे संगठित दलों की वास्तविक संयुक्त सरकार बनाने या उनकी तालमेल समिति गठित करने के विचार से कतराते रहे। इसके परिणामस्वरूप 11 महीनों के अंदर उनकी सरकार टूट गई।

1991 के चुनावों में कांग्रेस को भी लोकसभा में बहुमत नहीं मिला। राजीव गांधी की हत्या के बाद बनी तथाकथित सहानुभूति की लहर 1984-85 के तूफान से भिन्न थी। यह वस्तुतः लहर ही नहीं थी। भाजपा 119 सीटों के साथ दूसरे नबंर पर आई। जनता दल उससे बहुत पीछे रहा और चौथे नबंर पर रहा वामपंथी मोर्चा। पी. वी. नरसिंह राव ने स्थिर बहुमत की जगह छलांगमार बहुमत बना लिया और भाजपा तथा वामपंथियों का बारी-बारी समर्थन प्राप्त किया। भाजपा को लोकसभा के उपाध्यक्ष का पद देकर फुसलाया गया। वामपंथियों के साथ उपराष्ट्रपति पद के उम्मीदवार पर समझौता किया गया और राष्ट्रपति के चुनाव में उनका समर्थन प्राप्त किया गया। संघ परिवार चुनाव के बाद हवा में उड़ने लगा। भाजपा ने न केवल संसद में नई औद्योगिक नीति का समर्थन किया बल्कि लालकृष्ण आडवाणी इसके उत्साही अधिवक्ता भी बन गए। राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ प्रमुख के भाई भाऊराव देवरस, जो संघ के संयुक्त सरकार्यवाह भी थे, कांग्रेस के साथ संयुक्त

सरकार की बात करने लगे। संभवतः राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ प्रमुख विपक्षी ग्रुपों और पत्रकारों के इन आरोपों से प्रभावित हुए कि कांग्रेस 1983 से हिंदू कार्ड खेलने लगी है।

कांग्रेस के प्रधानमंत्री ने पहले दो कठिन वर्षों में भाजपा और वामपंथियों का एक-दूसरे के खिलाफ इस्तेमाल करके बड़ी चतुराई से काम चलाया। विश्वनाथ प्रताप सिंह चुनाव के तुरंत बाद भाजपा-विरोधी मोर्चा बनाना चाहते थे किंतु उनकी पार्टी ने उनका सुझाव रद्द कर दिया। उसके बाद जनता दल और उसके नेता दोनों दिग्भ्रमित हो गए और कोई सुसंगत नीति नहीं अपना सके। नरसिंह राव ने जनता दल में फैली अफरा-तफरी का लाभ उठाकर रामलखन सिंह यादव और अजित सिंह के नेतृत्व में जनता दल में विभाजन कराया। इससे संसद में कांग्रेस की ताकत बढ़ी। फिर दूसरी छोटी पार्टियों में भी विभाजन कराया गया और इस तरह नरसिंह राव लोकसभा में अपना बहुमत बनाने में सफल हो गए। किंतु राज्यसभा में उनका बहुमत नहीं बन सका जहां प्रधानमंत्री को अब भी एक-एक मुद्दे पर छलांग मारकर बहुमत बनाने का खेल खेलना पड़ रहा है।

कुछ राजनैतिक प्रेक्षकों और चिंतकों को लगता है कि यह खेल हमेशा नहीं चल सकता और देर-सवेर देश को तथा राजनैतिक पार्टियों को संयुक्त सरकार का विचार अपनाना पड़ेगा। संयुक्त सरकार के विकल्प को राष्ट्रीय सरकार की उस कल्पना से गड्डमड्ड नहीं किया जाना चाहिए जिसका सुझाव कुछ शुभचिंतक समय-समय पर देते रहे हैं। राष्ट्रीय सरकार एक बड़े राष्ट्रीय संकट के समय ही बन सकती है जब दो छोरों की विरोधी ताकतें खतरे की गंभीरता को समझें तथा राष्ट्र की रक्षा और अपनी भलाई के लिए साथ मिलकर काम करने की जरूरत महसूस करें।

संयुक्त सरकार का नवीनतम उल्लेखनीय वक्तव्य आर. वेंकटरामन का है जो राज्य के कई बड़े पदों पर काम कर चुके हैं। उन्होंने कहा : "सभी देशों में बहुदलीय प्रणाली है। सारे यूरोप को ही लें। वहां के सारे देशों में बहुदलीय प्रणाली है। सारे यूरोप में संयुक्त सरकारें ही हैं। मेरा कहना है कि भविष्य में किसी एक पार्टी को हमारे देश में पूर्ण बहुमत नहीं मिलेगा। अतः उन्हें संयुक्त सरकारें बनाने के संदर्भ में सोचना चाहिए और यह आप तब कर सकते हैं जब चुनावों से पहले कुछ पार्टियां राष्ट्रीय समस्याओं के संबंध में सामान्य नीति अपनाने को तैयार हों। चुनावों में कटुतापूर्वक आपस में भिड़ने के बाद संयुक्त सरकार बनाना कठिन हो जाता है, अतः भविष्य में संयुक्त सरकारों के लिए जनता को अपने आपको तैयार करना चाहिए। दुर्भाग्य से हम ब्रिटिश-प्रणाली के अभ्यस्त रहे हैं और हम सोचते हैं कि हम इसी प्रणाली को अपना सकते हैं।... जब तक हम राजनैतिक दलों की

संख्या नहीं घटाएंगे, तब तक संयुक्त सरकार ही एकमात्र समाधान है। हमें संयुक्त सरकारें बनाने तथा अन्य दलों से सत्ता की साझेदारी के लिए अपने को मानसिक रूप से तैयार करना होगा।"

मेरे विचार से विभिन्न दलों की संयुंक्त सरकारें बनाने और सुचारु रूप से प्रशासन चलाने के मार्ग में जो बाधाएं हमारे सामने आती हैं उनकी जड़ें हमारे प्राचीन और आधुनिक इतिहास में हैं। हमने श्रेणीबद्ध वर्ण-व्यवस्था बनाई और शूद्रों तथा अतिशूद्रों के साथ दुर्व्यवहार किया। हमारी चेतना में श्रेष्ठता और हीनता की कल्पनाएं इतनी गहरी धंसी हैं कि निष्पक्षता की कल्पना ही हमारे मन में नहीं बनी। समान व्यवहार का विचार भारतीय स्वभाव के अनुरूप नहीं है। यह वक्तव्य कुछ कड़ुवा लग सकता है। किंतु मतदान केंद्रों पर कब्जा करने का मतलब यही तो है कि यह काम करने वाले दूसरों को वोट के पवित्र अधिकर से वंचित करना चाहते हैं। संयुक्त सरकारों और सत्ता की साझेदारी का सारा विचार औचित्य और निष्पक्षता पर आधारित है। यहां न तो बहुसंख्यक राजनैतिक ग्रुप औचित्य को मानते हैं और न अल्पसंख्यक ग्रुप।

सबसे पहले मै 1953 के नए आंध्र प्रदेश राज्य का उदाहरण दूंगा। कांग्रेस अन्य पार्टियों के सहयोग के बिना सरकार बनाने की स्थिति में नहीं थी। हुआ क्या? सबसे बड़ी पार्टी होने के नाते कांग्रेस को चाहिए था कि वह अपना मुख्यमंत्री बनाती तथा दूसरी पार्टियों को उनकी शक्ति के अनुपात में मंत्रिमंडल में स्थान देती। कितु प्रजा समाजवादी पार्टी के टी. प्रकाशम लोभी थे और वे मुख्यमंत्री बनना चाहते थे। उनकी महत्वाकांक्षा को जानते हुए कांग्रेस ने शर्त रखी कि टी. प्रकाशम प्रसोपा को छोड़कर निर्दलीय सदस्य बन जाएं तो कांग्रेस उन्हें मुख्यमंत्री बना सकती है। यह सब सत्ता की साझेदारी और औचित्य के सिद्धांत के खिलाफ था : यह मांग भी कि अल्पसंख्या वाली पार्टी का मुख्यमंत्री हो और यह शर्त भी कि वह अपनी पार्टी छोड़ निर्दलीय सदस्य बन जाए। 1960 में केरल में भी यही हुआ। कांग्रेस ने पहले पट्टम थानुपिल्लै की महत्वाकांक्षा को बढ़ावा दिया और फिर उसे राज्यपाल बनाकर बाहर कर दिया। संयुक्त सरकार में छोटी पार्टी के नेता को मुख्यमंत्री बनाने की मांग करना ही सत्ता की साझेदारी और औचित्य के खिलाफ है।

अब 1967 का उदाहरण लें । कांग्रेस को कई राज्यों में हार का सामना करना पड़ा था। बिहार, पश्चिम बंगाल और उत्तर प्रदेश की संयुक्त सरकारें इसलिए असफल हुईं क्योंकि सरकार में शामिल ग्रुपों ने निष्पक्षता और न्याय का ध्यान नहीं रखा। छोटे ग्रुपों ने बड़े ग्रुपों को ब्लैकमेल किया और न सिर्फ मुख्यमंत्री की कुर्सी हथिया ली बल्कि सरकारी पदों में भी अनुपात से अधिक हिस्सा प्राप्त कर लिया। बिहार में सबसे वड़े ग्रुप संसोपा के नेता कर्पूरी ठाकुर को नहीं, महामाया प्रसाद

सिन्हा को मुख्यमंत्री बनाया गया। इसी प्रकार पश्चिम बंगाल में अजय मुखर्जी को मुख्यमंत्री बनाया गया, ज्योति बसु को नहीं जो सबसे बड़े ग्रुप के नेता थे। उत्तर प्रदेश में सबसे बड़े ग्रुप जनसंघ के एम.पी. त्रिपाठी को नहीं बल्कि चरण सिंह को मुख्यमंत्री बनाया गया। 1977 में भी छोटे कांग्रेसी ग्रुप के नेता शरद पवार न केवल मुख्यमंत्री बने बल्कि चरण सिंह की तरह उन्होंने अपने ग्रुप के लिए अनुपात से अधिक पद भी हथिया लिए। संकीर्ण स्वार्थ के लिए स्थिति का दुरुपयोग करने की छोटे ग्रुपों की यह प्रवृत्ति और बाजारू लेन-देन स्थायी संयुक्त सरकारों के अनुकूल नहीं है। केरल की अच्युत मेनन सरकार और पश्चिम बंगाल की ज्योति बसु सरकार इसके अपवाद हैं जो इस नियम की पुष्टि करते हैं।

जहां तक कांग्रेस की बात है, वह 1947 से पहले की कांग्रेस की छाया भी नहीं है, जिसे गांधी ने उभरते राष्ट्र की संसद और समाजवादियों तथा अन्यों ने व्यापक आधार का साम्राज्यविरोधी मंच कहा था। तथापि वर्तमान कांग्रेस का नेतृत्व समझता है कि उसे शासन करने तथा अन्य पार्टियों को तोड़ने का दैवी अधिकार प्राप्त है। कांग्रेस की कुदृष्टि से कोई भी पार्टी नहीं बची है। सभी इसकी लोलुपता का शिकार बनी हैं, संभवतः माकपा को छोड़कर जिसका श्रेय इसके कठोर अनुशासन को जाता है। कांग्रेस कभी भी ईमानदारी से संयुक्त सरकार को स्वीकार नहीं करेगी। यह दूसरों को इसी शर्त पर शामिल करेगी कि बाद में उन्हें निगलने का कांग्रेस को अधिकार प्राप्त हो । भारत के राजनैतिक दलों में आंतरिक लोकतंत्र का पूर्ण अभाव है। उनमें सामान्य औचित्य और निष्पक्षता का भी अभाव है और इसलिए वे सत्ता की साझेदारी और राज्य तथा जनता की सेवा के आधार पर संयुक्त सरकारों को चलाने में असमर्थ हैं। यूरोप की राजनैतिक पार्टियों ने समझौते की कला का विकास किया है। वहां संयुक्त सरकारें इसलिए सफल होती हैं कि न्याय और औचित्य के आधार पर पार्टियां सत्ता की साझेदारी करना जानती हैं। हमें उनसे बहुत कुछ सीखना होगा।

विधानमंडलों का विशेषाधिकार और अतिवाद

मैं संसदीय लोकतंत्र का समर्थक रहा हूं। कोई भी शासन प्रणाली निर्दोष नहीं होती। किंतु मेरा विचार है कि भारतीय परिस्थितियों में संघीय संसदीय लोकतंत्र वाली सरकार सबसे उपयुक्त है। यदि अमरीका या फ्रांस की तरह की राष्ट्रपति प्रणाली यहां लागू हुई, तो जल्दी ही अव्यावहारिक सिद्ध होगी और कई संवैधानिक गतिरोध

पैदा करेगी। संसदीय प्रणाली में राजनीतिक कार्यपालिका (मंत्रिमंडल) के सदस्य विधायिकाओं से आते हैं। यदि बाहर से कोई व्यक्ति मंत्री बनता है, तो उसे विधानमंडल का चुनाव लड़ना पड़ता है। यदि वह छह महीने के अंदर-अंदर चुनाव नहीं जीतता, तो उसका मंत्री-पद स्वतः समाप्त हो जाता है। उस व्यक्ति को एक-दो दिन में यदि फिर मंत्री बनाया जाता है, तो यह संविधान का खुला उल्लंघन होगा। अमरीका में मंत्रिमंडल के सदस्य बाहर से लिये जाते हैं। वस्तुतः यदि अवर सदन (कांग्रेस) और उच्च सदन (सीनेट) के किसी सदस्य को मंत्रिमंडल में लिया जाता है, तो उसे सदन की सदस्यता छोड़नी पड़ती है। विधायिका के सदस्य अपने बीच किसी राष्ट्रपति के एजेंट को नहीं बैठने दे सकते। वे अपनी स्वतंत्रता और विशेषाधिकारों की बड़ी ईर्ष्या के साथ रक्षा करते हैं। विधानमंडल के दोनों सदनों के सदस्यों को कुछ विशेषाधिकार प्राप्त होते हैं जो उनके काम में डाली जानेवाली बाधाओं को रोकते हैं और उसे सजा देते हैं जो उनके सम्मान तथा अधिकार को ठेस पहुंचाता हैं। विधानमंडल का अपमान करनेवाले के लिए दंड की व्यवस्था सबसे पहले ब्रिटिश पार्लियामेंट के उच्च न्यायालय रूपी ऐतिहासिक दर्जे से निष्पन्न हुई है। सभी शक्तियों की तरह इस शक्ति का भी अधिकतर दुरुपयोग हुआ हैं। अतः इसमें सावधानी तथा संयम की आवश्यकता है।

हमारे संविधान में व्यवस्था है कि मंत्रिपरिषद के सदस्य जनता के सदन–लोकसभा–के लिए सीधे चुने गये हों। एक प्रकार से प्रधानमंत्री और मंत्रिपरिषद संसद की निर्मिति होते हैं। किंतु वास्तव में संसद की प्रमुखता अधिकतर काल्पनिक होती है। 'अधिकतर' शब्द मैं साभिप्राय रख रहा हूं, क्योंकि जब तक प्रधानमंत्री को संसद में बहुमतवाली पार्टी का, जिसका वह नेता होता है, विश्वास प्राप्त होता है, तब तक लोकसभा की संवैधानिक सर्वोपरिता का व्यावहारिक महत्व नहीं होता। आधुनिक राजनीतिक पार्टियां अच्छी अनुशासित पार्टियां होती हैं और कांग्रेस इस देश की पहली आधुनिक पार्टी है। इसके शुरू के 50 सालों में आंतरिक अनुशासन काफी ढीला-ढाला था। निस्संदेह, स्वराज्य पार्टी – जो सही मायनों में संसदीय पार्टी थी– कड़े आंतरिक अनुशासन के लिए प्रसिद्ध थी, किंतु यह हमेशा विपक्षी पार्टी रही तथा इसके अनुशासन को परखने का कभी मौका नहीं आया। 1937 में प्रादेशिक स्वायत्तता के लागू होने पर कांग्रेस संसदीय दल में परिवर्तन आया और ब्रिटिश शासकों ने देखा कि इसके मंत्रियों का वैसा उपयोग नहीं किया जा सकता जैसा मांटेग्यु चेम्सफोर्ड सुधारों की दोहरी शासन प्रणाली के अंतर्गत गैरकांग्रेसी मंत्रियों का उपयोग शक्तिशाली गवर्नरों द्वारा किया जाता था। स्वाधीनता के बाद के युग में कांग्रेस पार्टी का अनुंशासन अनुकरणीय रहा है।

इंग्लैंड की कंजर्वेटिव पार्टी में असहमति की लंबी परंपरा रही है। टोरी सदस्य

खुलकर अंतरात्मा से वोट का इस्तेमाल करते हैं, किंतु उन्हें इसके लिए कभी सजा नहीं दी जाती। लेबर पार्टी अपेक्षाकृत कम सहिष्णु है, किंतु इस पार्टी के सदस्यों को काफी छूट मिली है और उन्होंने कई बार असहमति का वोट दिया हैं। कांग्रेस पार्टी की केंद्र में अपने सदस्यों पर पूरी पकड़ होती है। पहली, दूसरी, तीसरी, छठी और सातवीं लोकसभाओं में इसे दो-तिहाई से अधिक बहुमत प्राप्त था। चौथी लोकसभा में इसके पास इतना बड़ा बहुमत नहीं था, किंतु पिछले चार दशकों में ब्रिटिश पार्लियामेंट के बहुमत की तुलना में कांग्रेस के बहुमत को काफी अच्छा कहा जा सकता था–1969 में हुए कांग्रेस के विभाजन तक, जिसमें वह अपना बहुमत खो बैठी। वर्तमान लोकसभा में कांग्रेस अल्पसंख्या में थी। राष्ट्रपति के अभिभाषण, बजट या अविश्वास प्रस्ताव के हर मौके पर समाचारपत्रों ने पीवी नरसिम्हाराव सरकार के पतन की अथवा कम से कम उसकी अत्यंत कठिन स्थिति की भविष्यवाणी की। किंतु इसका परिणाम हमेशा विडंबनापूर्ण प्रहसन रहा। इसमें केवल समाचारपत्रों ने ही विश्वसनीयता खोयी।

इस प्रकार कांग्रेस इस देश की प्रमुख पार्टी है और इसलिए उसे विभिन्न विधानमंडलों की बहुमतवाली पार्टियों का मार्गदर्शन करना चाहिए, ताकि वे सार्थक ढंग से विधानमंडलों की रोजमर्रा की कार्रवाई चला सकें, विशेषकर अनुच्छेद 105 (संघ) और 194 (राज्य) के अंतर्गत विधानमंडलों को दिये गये, एक मायने में भयावह, अधिकारों का संयम से प्रयोग कर सकें। जब मैं लोकसभा में था, तो मैंने कितनी बार मानहानि और विशेषाधिकार हनन के हथियार का प्रभावकारी ढंग से प्रयोग किया था। विशेषाधिकार हनन के मामलों के विशाल संग्रह में इसकी कम से कम कुछ झलक मिल सकती है। लेकिन मैंने इस हथियार का उपयोग प्रेस और लेखकों की वाणी की स्वतंत्रता के खिलाफ न के बराबर किया। जहां मैंने हमेशा कार्यपालिका, विधायिका और न्यायपालिका के आत्म-संयम पर जोर दिया है वहां प्रेस से भी मैं यही अनुरोध करूंगा, क्योंकि प्रेस भी लोकतंत्र का एक खंभा है। इसे चौथी सत्ता कहा जाता है। मुझे यह देखकर दुख होता है कि पत्रकारों की नयी पीढ़ी के कई सदस्य न तो तथ्यों को सही-सही प्रस्तुत करने को महत्व देते हैं– मैं राजनीतिक विचारों की बात नहीं करता – न ही वे भाषा के संयम की तरफ ध्यान देते हैं। उच्च न्यायपालिका और विधानमंडलों के संबंध में बात करते समय, विशेषकर, कुछ आदर का भाव रखा जाना चाहिए। मैंने खुद विधायिका और न्यायपालिका की कठोर आलोचना की है। किंतु क्या हम हमेशा उन पर गलत और अप्रत्यक्ष अभिप्राय का दोष लगा सकते हैं और उनके निजी चरित्र पर आक्षेप कर सकते हैं ? मेरे विशेषाधिकार प्रस्ताव अधिकतर संसद और जनता के प्रति सरकार की जवाबदेही लागू करने के लिए होते थे।

अधिकतर समय, मंत्री तथा उनके नौकरशाह सहायक प्रश्नों को रोकने, टालमटोल और बहाने करने और कभी-कभी तो साफ झूठ बोलने का काम करते हैं। कभी-कभी अफसर संसदीय समितियों के समक्ष गलत साक्ष्य प्रस्तुत करते हैं। कभी सदस्य घूस लेने जैसे गलत काम करते हैं–मुद्गल का मामला प्रसिद्ध है। हमने विशेषाधिकार के नियमों का उपयोग झूठ बोलनेवाले मंत्रियों को कठघरे में खड़ा करने के लिए किया, न कि आलोचना करनेवाले पत्रकारों को तंग करने के लिए। कौन नहीं जानता कि कई विधायक और सांसद अपने मकान के कमरों को ऊंचे किराये पर देते हैं या अपने कोटे के गैस कनेक्शन या टेलीफोन कनेक्शन देने के लिए पैसा लेते हैं ? निस्संदेह, इसके कुछ अपवाद हैं। अब लोक-भावना से प्रेरित चौकस विधायक, पत्रकार या जनता के प्रतिनिधि इस भ्रष्टाचार के खिलाफ आवाज क्यों न उठायें ? मैंने कुख्यात स्टील बार्टर कांड में एक अधिकारी को शपथ पर झूठी गवाही देने के लिए कठघरे में खड़ा किया था। उसे सदन की बार में बुलाया गया और उसकी प्रताड़ना की गयी। मैंने इंदिरा गांधी के खिलाफ भी विशेषाधिकार हनन का मामला उठाया जिन्होंने मारुति कंपनी से संबंधित संसदीय प्रश्न के लिए जानकारी इकट्ठी करनेवाले चार अधिकारियों को तंग किया था। लेकिन इंदिरा के मामले में संयम बरतने की मेरी प्रार्थना के बावजूद संयुक्त संसदीय समिति के क्रुद्ध बहुमत – जिसका नेतृत्व राम जेठमलानी, सुब्रह्मण्यम स्वामी और जार्ज फर्नांडिस जैसे लोगों ने किया–और मोरारजी देसाई ने श्रीमती गांधी को जेल भेज दिया। इससे श्रीमती गांधी के पक्ष में सहानुभूति की लहर बन गयी। उन्हें यह सजा देना गलत था। साधारण प्रताड़ना ही इस मामले में काफी होती ।

इन दिनों संसद तो इतनी नहीं, किंतु राज्यों के विधानमंडल अपनी शक्ति तथा अशोभनीय असहिष्णुता का प्रदर्शन कर रहे हैं। तमिलनाडु और महाराष्ट्र की विधानसभाओं ने पत्रकारों और संपादकों के खिलाफ हुक्मनामे जारी किये हैं तथा दंड की धमकी दी हैं। कुछ मामलों में मद्रास के उच्च्य न्यायालय ने हस्तक्षेप किया है, किंतु महाराष्ट्र विधानसभा ने 'महानगर' के संपादक निखिल वाघले को चार दिन की जेल की सजा भी दी। मैं समझ नहीं पाता कि ऐसे उजड्ड कामों से विधानमंडलों की प्रतिष्ठा में क्या वृद्धि होगी। यह बात महत्वपूर्ण है कि शरद पवार जैसे अनुभवी राजनेता ने ही इस खेदजनक प्रस्ताव को स्वयं पेश किया, बजाय इसके कि वे अपने प्रभाव का इस्तेमाल क्रुद्ध सदस्यों को नियंत्रण में रखने के लिए करते। सब जानते हैं कि उनके हर प्रकार के माफिया गिरोहों के साथ गुप्त संबंध हैं और यद्यपि उनकी खाल गैंडे की है, उन्हें हर वक्त अपने किये के पर्दाफाश का डर लगा रहता है। खेद की बात है कि शरद पवार की तरह श्रीमती जयललिता भी लोकप्रियता के बावजूद असहिष्णु होती जा रही हैं। दोनों को यह नहीं भूलना चाहिए

कि वे इंसान हैं, भगवान या देवी नहीं। विधानसभा अध्यक्ष भी उन्माद के विस्फोट को रोकने का अपना फर्ज नहीं निभा रहे हैं। मेरा विचार है कि उन्हें सख्ती से अपने अधिकार का प्रयोग करना चाहिए।

यदि विधानमंडल संयम से बाहर हो जायेंगे– जैसा कि 19वीं शताब्दी में इंग्लैंड के हाउस आफ कामंस में हुआ था जब उसने अनेक व्यक्तियों को लंदन के टावर की जेल में भेजना शुरू कर दिया था–और लोगों को जेल भेजने लगेंगे तो वे मतदाताओं का सम्मान खो देंगे। विधानमंडल के सदस्यों को याद रखना चाहिए कि उनकी सदस्यता नियत समय के लिए होती है; उनका पद स्थायी नहीं होता, जनता इसे समाप्त कर सकती है। नवंबर 1993 के चुनाव परिणामों के प्रकाशित होने के बाद कुछ समाचारपत्रों ने लिखा कि 700 से अधिक हिस्ट्रीशीटरों या आपराधिक रिकार्डवाले व्यक्तियों ने उत्तर प्रदेश में चुनाव लड़ा। इनमें से अधिकांश को मतदाताओं ने अस्वीकार किया किंतु 106 लोग चुने भी गये। सफल उम्मीदवारों में सबसे अधिक 44 विधायक भाजपा के हैं। उसके बाद सपा-बसपा, कांग्रेस, जनता दल और भाकपा के नबंर हैं। क्या उत्तर प्रदेश की विधानसभा हिंदुस्तान टाइम्स के एमए हफीज के खिलाफ मानहानि की कार्रवाई करेगी, जिन्होंने इस कटु सत्य को उद्घाटित किया? क्या वे इसलिए मुझे दंडित करेंगे कि मैंने इस कड़वी बात को दोहराया? यह समय है जब राजनीतिक दलों, विधानमंडलों, सारी न्यायपालिका को, सभी स्तरों पर अफसरशाही और पुलिस को और प्रेस को भी अपने-आपको सुधारना होगा अन्यथा उन्हें जल्दी ही असंतुष्टों की बढ़ती सेना की सिविल नाफरमानी का सामना करना पड़ेगा। ये लोग सच्ची गांधीवादी भावना के अनुसार छाती नहीं पीटेंगे बल्कि अच्छे और नेक काम के लिए चुपचाप कष्ट झेलेंगे। मैं चेतावनी देता हूं कि इससे विधानमंडल ही अंततः जनता का विश्वास खोयेंगे।

प्रतिभूति घोटाला

संसदीय समिति की रिपोर्ट पर निष्फल बहस

वर्ष 1992 में जब देश विदेशी मुद्रा के गंभीर संकट से गुजर रहा था और अर्थव्यवस्था के उदारीकरण की दिशा में कुछ महत्वपूर्ण कदम उठाये गये थे तो शेयर बाज़ार के एक बहुत बड़े घोटाले ने जनता को अप्रत्याशित रूप से झकझोर दिया। वित्तमंत्री मनमोहन सिंह ने इसे प्रणालीगत विफलता कहा और वायदा किया कि

सरकार प्रणाली को चुस्त-दुरुस्त करेगी। आर. जानकीरामन की निगरानी में शेयर बाजार के कार्यों और बैंकिंग प्रणाली के कामकाज की जांच कराने आदि के वायदे किये गये। मार्च-अप्रैल 1992 में दिये गये इन आश्वासनों से संसद को संतोष नहीं हुआ। व्यापक चिंता और आशंकाओं को दूर करने के लिए प्रधानमंत्री पीवी नरसिम्हाराव को 9 जुलाई, 1992 को घोषणा करनी पड़ी, जिसमें और बातों के साथ-साथ कहा गया :

"मेरा विचार है कि संसद के माध्यम से ऐसी व्यापक जांच कराना जरूरी है जो न केवल संसद की सर्वोपरिता को पूर्ण रूप से स्थापित करे, बल्कि देश के हितों को सुरक्षित करने के कारगर उपाय भी करे। अतः मैं माननीय अध्यक्ष से निवेदन करता हूं कि वे संसदीय समिति का गठन करें और मेरा प्रयोजन वही रहेगा जो अब तक रहा है अर्थात सच्चाई बाहर आये तथा देश के व्यापक हित में गतिशील अर्थव्यवस्था की दिशा में सहज ढंग से बदलाव आये।"

बहुत खेद की बात है कि बावजूद इस बात के कि संसदीय समिति द्वारा जांच का सुझाव प्रधानमंत्री ने दिया था, कांग्रेस के प्रवक्ता संसदीय समिति की जांच की संस्था पर हमले करते रहे और उसके निष्कर्षों का मजाक उड़ाते रहे। इस अत्यंत निंदनीय काम की भर्त्सना करने के लिए उपयुक्त शब्द नहीं हैं।

संसद की समितियां भिन्न-भिन्न प्रकार की होती हैं। कुछ समितियां स्थायी समितियां होती हैं। कुछ तदर्थ समितियां होती हैं। वे विशेष विधेयकों पर विचार करने के लिए अथवा संसदीय प्रस्तावों के अतंर्गत विशेष विषयों की जांच करने के लिए गठित की जाती हैं। अगस्त, 1992 में सार्वजनिक महत्व के मामले की जांच करने के लिए जिस तदर्थ संसदीय समिति के गठन का सुझाव दिया गया, वह हमारे देश के संसदीय लोकतंत्र के इतिहास में पहली बार नहीं हुआ था। पहले भी इस तरह की कई समितियां नियुक्त की गयी थीं। इन समितियों को विभिन्न मात्रा में सफलता मिली। कुछ ने अपने लक्ष्य को भली प्रकार पूरा किया, कुछ का बुरा हश्र हुआ। परिणाम शासक दल और विपक्ष के बीच सहयोग की मात्रा पर निर्भर था। संसदीय समिति अथवा जांच आयोग द्वारा छानबीन की उपयोगिता का सीधा संबंध सरकार के असली इरादे से होता है। क्या वह सच्चाई को बाहर लाना चाहती है, संस्थाओं के कार्य में सुधार करना और दोषी को दंड देना चाहती है अथवा वह सिर्फ समय काटना और लीपापोती करना चाहती है? कुछ उदाहरणों से इस बात को समझा जा सकता है।

संसद सदस्य के आचरण की जांच करने के लिए पहली समिति 8 जून, 1951 को गठित की गयी थी। उस समय संविधान लागू हो चुका था, किंतु संसद और राज्य विधानसभाओं के चुनाव अभी नहीं हुए थे। अस्थायी संसद ही संघीय

विधायिका के रूप में काम कर रही थी। समिति के सदस्य थे टीटी कृष्णमाचारी, केटी शाह, सैयद नौशेर अली, दुर्गाबाई और काशीनाथ राव वैद्य। टीटी कृष्णमाचारी समिति के अध्यक्ष थे।

सांसद एच मुद्गल के खिलाफ आरोप था कि उन्होंने बंबई बुलियन एसोसियेशन से 20,000 रुपये के भुगतान के वायदे पर संसद में उसकी ओर से प्रचार करने तथा समर्थन प्राप्त करने का आश्वासन दिया था। जब प्रधानमंत्री जवाहरलाल नेहरू को इस बात की जानकारी मिली, तो उन्होंने मुद्गल से व्यक्तिगत रूप से बात की। किंतु मुद्गल ने इन आरोपों को नहीं माना। अतः यह निर्णय हुआ कि संसद की समिति से जांच करायी जाये। समिति ने 24 व्यक्तियों की गवाही ली। मुद्गल को अपना पक्ष वकील के माध्यम से प्रस्तुत करने की सुविधा दी गयी। महान्यायवादी ने स्वयं सुनवाई की प्रक्रिया की शुरूआत की।

समिति ने पाया कि मुद्गल ने आर्थिक लाभ के बदले में बंबई बुलियन एसोसियेशन के लिए काम करने की सहमति जतायी थी। घूस की बात प्रकट होने तक एसोसियेशन ने वास्तव में 2000 रुपये की राशि मुद्गल को दो किस्तों में दी थी तथापि समिति ने कहा कि मुद्गल को इस स्रोत से बड़े लाभ की आशा थी। समिति मुद्गल के स्पष्टीकरण को स्वीकार करने के लिए तैयार नहीं थी। उसका विचार था कि सदस्य ने प्रधानमंत्री और संसद से महत्वपूर्ण तथ्य छिपाये हैं। समिति ने सांसद को की गयी पेशकश की नैतिकता के विषय में बंबई बुलियन एसोसियेशन के आचरण पर कोई टिप्पणी नहीं की, किंतु उसके द्वारा मुद्गल पब्लिकेशंस और व्यक्ति तथा संसद सदस्य के रूप में मुद्गल में भेद करने के उसके प्रयास को नहीं माना। समिति ने विचार व्यक्त किया कि मुद्गल का आचरण संसद की गरिमा तथा उन मानदंडों के विरुद्ध था, जिसकी अपेक्षा संसद अपने सदस्यों से करती है। समिति ने 25 जुलाई, 1951 को रिपोर्ट दी। मुद्गल ने तुरंत त्यागपत्र दे दिया और फिर रिपोर्ट पर आगे कोई कार्रवाई नहीं हुई।

अब मैं मुद्गल प्रसंग से कहीं बहुत अधिक महत्व वाले प्रसंग का उदाहरण दूंगा। यह एक करोड़ रुपए का मामला था जो उस सस्ती के युग में बहुत बड़ी रकम थी। मूंदड़ा प्रसंग (1957) ने महत्वपूर्ण मुद्दे उठाये, जिनका संबंध स्वायत्त वित्तीय निकायों की शक्तियों, सरकारी अफसरों की भूमिका और सबसे ऊपर संसद के प्रति मंत्रियों की जवाबदेही से था।

संसद के प्रति मंत्रियों की जवाबदेही के सिद्धांत का उत्कृष्ट प्रतिपादन ब्रिटिश लेबर पार्टी के नेता हरबर्ट मारिसन ने किया है। इससे बढ़िया प्रतिपादन कोई हो नहीं सकता। अतः मैं यथासंभव उन्हीं के शब्दों में उनका सार प्रस्तुत करूंगा।

हमारी शासन प्रणाली का एक मूलभूत सिद्धांत यह है कि बादशाह का कोई

मंत्री सरकार के हर काम के लिए संसद के प्रति और संसद के माध्यम से जनता के प्रति जवाबदेह होता है। जवाबदेही मंत्री की ही हो सकती है, क्योंकि न तो संसद का और न जनता का, बल्कि मंत्री का ही सरकारी कर्मचारियों पर आधिकारिक नियंत्रण होता है। हमारी संसदीय शासन प्रणाली का यह मूल आधार है, तथापि ऐसा अवसर आ सकता है जब गलती इतनी गंभीर हो कि मंत्री को उस गलती की स्थितियों और प्रक्रियाओं का स्पष्टीकरण देना पड़े। कई बार सदन उस अधिकारी का नाम जानता चाहता है जो ऐसी गलती के लिए जिम्मेदार है। मंत्री का उचित जवाब यह होना चाहिए कि यदि सदन किसी को सजा देना चाहता है, तो मंत्री को दे, जिसकी जवाबदेही होती है और अधिकारी के खिलाफ कारवाई को संबंधित विभाग पर छोड़ दे। ऐसे सभी मामलों में मंत्री के लिए यही उचित है कि वह संसद के आगे साफगोई का रवैया अपनाये। हाउस आफ कामन्स उस मंत्री के प्रति उदार होता है जिसने सच बताया हो, अपनी गलती मानी हो तथा खेद प्रकट किया हो। किंतु उस मंत्री के प्रति उसका रवैया सख्त होगा जो यह कहेगा कि वह अपना और अपने विभाग का बचाव करेगा, भले ही उनकी गलती हो या न हो और जो भारी गलती या निर्दोष भूल को स्वीकार करने के बजाय टालमटोल करेगा।

हरबर्ट मॉरिसन की पुस्तक (गवर्नमेंट एंड पार्लियामेंट : ए सर्वे फ्राम इनसाइड, लंदन, 1954) के प्रकाशित होने के कुछ ही समय बाद 1957 में राष्ट्रीयकृत बीमा निगम द्वारा मूंदड़ा कंपनियों के शेयर खरीदने का घोटाला प्रकाश में आया और उसने जनता का ध्यान अपनी ओर खींचा। यह मामला सबसे पहले डॉ. रामसुभग सिंह ने प्रश्न के रूप में उठाया। चूंकि प्रश्न अधूरी जानकारी पर आधारित था, अतः उसका हस्बमामूल टालमटोल वाला जवाब दिया गया। एक और यथातथ्य प्रश्न किये जाने पर सरकार को सारे तथ्य बताने पड़े। फिरोज गांधी ने इस पर बहस उठाई और उन्होंने इस घोटाले की संसदीय जांच की मांग की। किंतु प्रधानमंत्री ने जांच आयोग बिठाना बेहतर समझा और इस जांच आयोग का अध्यक्ष बंबई उच्च न्यायालय के मुख्य न्यायाधीश जस्टिस एमसी छागला को बनाया गया। सभी साक्ष्यों पर विचार करने के बाद जस्टिस छागला ने मंत्रालय के मुख्य सचिव एचएम पटेल और कैबिनेट मंत्री टीटी कृष्णमाचारी की जवाबदेही के क्षेत्रों को रेखांकित किया। छागला ने विचार व्यक्त किया कि सचिव द्वारा की गयी काईवाई की जिम्मेदारी संवैधानिक दृष्टि से मंत्री पर आती है।

आयोग के समक्ष प्रस्तुत दस्तावेजों से यह सिद्ध होता था कि शेयर खरीदने का निर्णय एचएम पटेल ने 24 जून, 1957 को लिया। पटेल ने जो किया उसकी जानकारी मंत्री को थी अथवा नहीं, लेकिन तथ्य यह था कि जब मंत्री को बाद में इस बात का पता चला तो उसने पटेल की कार्रवाई का प्रतिवाद नहीं किया। अतः

पटेल द्वारा 24 जून, 1957 को किये गये फैसले में मंत्री की स्पष्ट सहमति थी। इस प्रतिवाद के अभाव से पटेल के इस बयान की पुष्टि होती है कि मंत्री ने 24 जून, 1957 को बंबई में इस सौदे का अनुमोदन किया था। अतः मंत्री को पटेल द्वारा किये गये निर्णय की, भले ही सौदा उचित था या अनुचित, पूरी जिम्मेदारी अपने ऊपर लेनी पड़ेगी और यद्यपि सौदे की वास्तविक जिम्मेदारी पटेल की हो सकती है, संवैधानिक दृष्टि से जिम्मेदारी मंत्री की ही होगी।

स्वाधीनता आंदोलन की स्मृतियों और जनता के पैसे के संबंध में महात्मा गांधी द्वारा निर्धारित ऊंचे मानदंडों से स्वाधीनता के बाद के प्रारंभिक वर्षों में सार्वजनिक आचरण के मानक बनाये रखने में सहायता मिली थी। उस समय महात्मा गांधी के राजनीतिक उत्तराधिकारी के हाथ में देश की बागडोर थी। कुछ स्वेच्छाचारिता और ढिलाई सार्वजनिक जीवन में प्रवेश करने लगी थी, किंतु नेहरू संसद को प्यार करते थे और विभागीय कामों के मामले में संबंधित मंत्रियों की जवाबदेही के सिद्धांतों को हृदय से स्वीकार करते थे। वित्तमंत्री टीटी कृष्णमाचारी के साथ अपने व्यक्तिगत संबंधों के बावजूद उन्होंने छागला आयोग के निष्कर्षों को स्वीकार किया और टीटी कृष्णमाचारी को त्यागपत्र देने दिया। उन्होंने प्रणालीगत विफलता और स्वायत्त निकायों तथा सरकारी विभागों के कर्मचारियों के जटिल संबंधों और मंत्री की जिम्मेदारी की सीमाओं की बातें करके बचकर निकलने की कोशिश नहीं की। 27 मई, 1959 के सरकारी प्रस्ताव में स्वीकार किया गया कि यह मंत्री की संवैधानिक जिम्मेदारी का सवाल है और परिणामस्वरूप उन्होंने त्यागपत्र दे दिया है।

कृष्णमेनन भी नेहरू के बहुत करीबी थे, किंतु 1962 में चीन के हमले के कारण हुए सीमा युद्ध में भारी पराजय के बाद, रक्षा सेनाओं की तैयारी न होने के आरोप पर उन्होंने कृष्णमेनन का इस्तीफा मंजूर किया। नेहरू ने केशवदेव मालवीय के मामले की भी जस्टिस एसके दास से जांच करायी, जिसमें मालवीय को दोषी पाया गया। उन्होंने 1963 में मालवीय को त्यापत्र देने को कहा। उसके बाद स्थितियां बदलने लगीं और श्रीमती इंदिरा गांधी, राजीव गांधी तथा उनके उत्तराधिकारियों के समय में यह प्रथा बन गयी कि जो मंत्री प्रधानमंत्री के चहेते हैं वे कभी किसी घोटाले या गलती के लिए जिम्मेदार नहीं हो सकते।

इसका एक उदाहरण देना काफी होगा। यह उदाहरण है श्रीमती इंदिरा गांधी के शासन में सी. सुब्रह्मण्यम का। दृष्टिकोण का परिवर्तन बिल्कुल स्पष्ट था।

तीसरी लोकसभा में प्रस्तुत लोक लेखा समिति की 50वीं रिपोर्ट में स्टील बार्टर सौदे की समिति द्वारा की गयी जांच के निष्कर्ष दिये गये थे। सी. सुब्रह्मण्यम उस समय इस्पात एवं भारी उद्योग मंत्री थे। उन्होंने संसद में लोक लेखा समिति के संबंध में कहा था कि समिति ने निष्कर्ष निकालते समय सभी तथ्यों पर विचार नहीं

किया है। इस पर मंत्री को समिति के समक्ष अपनी बात कहने का मौका दिया गया, यद्यपि यह निवेदन 'असाधारण' था तथा बहुत विलंब से आया था और समिति को इससे काफी असुविधा हुई। सुब्रह्मण्यम समिति के समक्ष 1 अगस्त 1966 को उपस्थित हुए। समिति उनके स्पष्टीकरण से संतुष्ट नहीं हुई। उसने टिप्पणी की कि समिति के निष्कर्षों के संबंध में मंत्री की टिप्पणी 'दुर्भाग्यपूर्ण' थी। मंत्री के सामने जब समिति में प्रस्तुत साक्ष्य रखे गये तो उन्हें यह मानना पड़ा कि लोक लेखा समिति की 50वीं रिपोर्ट के पैरा 4.128 में की गयी टिप्पणी उचित थी। समिति ने मंत्रालय की इस बात के लिए आलोचना की थी कि उसने काली सूची के आदेश को ऐसी स्पष्ट भाषा में नहीं रखा, जिससे गलत अर्थ लगाने की कोई संभावना न रहे। समिति यह समझने में असमर्थ थी कि मंत्री ने अमीचंद प्यारेलाल ग्रुप की फर्मों के साथ लेनदेन बंद करने वाले अपने पहले के आदेश को क्यों बदला ? लोहा और इस्पात नियंत्रक ने मूल आदेश लागू ही नहीं किया। उसने दो बार मंत्रालय को लिखा और कुछ स्पष्टीकरण करने को कहा। मंत्री के आदेश की जानकारी बाहर चली गयी थी, क्योंकि नियंत्रक के कार्यालय और फर्मों के बीच मिलीभगत थी तथा इस आदेश को बदलने के लिए दबाव डाले जा रहे थे। फर्मों ने मंत्रालय को प्रतिवेदन दिया था और 20 जुलाई, 1963 को मंत्री के साथ मुलाकात की थी। समिति ने कहा कि आदेश के संशोधन के लिए दिये गये कारण 'अस्पष्ट' थे और उसने तत्कालीन इस्पात मंत्री के आचरण के संबंध में प्रतिकूल टिप्पणी की थी। मंत्री का त्यागपत्र दिलाने का मेरा प्रयास विफल हुआ। नेहरू के रवैये और उनकी बेटी के रवैये में बहुत अंतर था। श्रीमती गांधी नैतिकता और औचित्य को ज्यादा महत्व नहीं देती थीं। वे जांच कराने के लिए तैयार हो गयीं लेकिन उन्होंने मुझसे कहा कि मैं मंत्री के त्यागपत्र का आग्रह छोड़ दूं। उन्होंने मुझे साफ बता दिया कि वे इसके लिए तैयार नहीं होंगी।

यहां बोफोर्स के मामले में संयुक्त संसदीय समिति की रिपोर्ट की विस्तार से चर्चा करने की जरूरत नहीं है। इस समिति का प्रमुख विपक्षी दलों ने बहिष्कार किया जो मेरी दृष्टि में बुद्धिमत्ता का काम नहीं था। कांग्रेस के वर्चस्व वाली इस समिति ने पूर्णतया लीपापोती का काम किया। उसके निष्कर्ष थे कि तोप के चुनाव में सही प्रक्रिया का अनुसरण किया गया, ठीक तोप चुनी गयी, उचित गारंटी दी गयी, अधिकारियों अथवा मंत्रिपरिषद के सदस्यों ने घूस नहीं ली, कोई बाहरी प्रभाव इस सौदे में नहीं था, सौदे में कोई बिचौलिया नहीं था, आदि।

प्रस्तुत संयुक्त संसदीय समिति की रिपोर्ट का संबंध कई मूलभूत प्रश्नों से है, जैसे : वित्तीय और बैंकिंग प्रणाली का कार्यचालन, उदार बाजार व्यवस्था में शेयर बाजारों की कार्यपद्धति के विनियमन और नियंत्रण की उपलब्ध व्यवस्था, रिजर्व बैंक

तथा अन्य राष्ट्रीयकृत बैंकों की स्वायत्तता, इन संस्थाओं और मंत्रालय का संबंध और अंत में सरकार के उच्च्व अधिकारियों तथा मंत्रियों के बीच संबंध ।

स्मरणीय है कि भारत सरकार ने अपने 27 मई, 1959 के संकल्प में सरकारी विभागों और स्वायत्त निगमों के क्षेत्र में अपनी स्थिति को स्पष्ट किया था। रिजर्व बैंक पहले से ही स्वायत्त संस्था के रूप में काम कर रहा था। जीवन बीमा कंपनियों का राष्ट्रीयकरण हो गया और संसद द्वारा अनुमोदित चार्टर के अंतर्गत जीवन बीमा निगम के नाम से स्वायत्त निगम बन गया था। उस समय जवाहरलाल नेहरू प्रधानमंत्री तथा गोविंद बल्लभ पंत गृहमंत्री थे। सरकारी संकल्प में कहा गया : भारत सरकार इस बात को पूरी तरह समझती है कि इन निगमों की शक्ति और अधिकार को संबंधित कानून या चार्टर के अंतर्गत स्पष्ट रेखांकित किया जाना और सामान्यतया निगमों को इस सीमा में स्वंतत्र रूप से काम करने देना चाहिए। किंतु चार्टर के अंतर्गत ही कुछ बातों को – मुख्यतः, समग्रतः नहीं, नीति संबंधी मामलों को – सरकार के लिए विशेष रूप से सुरक्षित रखा जाना चाहिए। स्वायत्त कार्य का मतलब होगा चार्टर की सीमा में तथा सरकार द्वारा समय-समय पर निर्धारित नीति एवं दिशा-निर्देश के अनुसार स्वतंत्र रूप से कार्य। निगम ठीक से काम करें, इसके लिए निर्देश, मार्गदर्शन और पर्यवेक्षण की जिम्मेदारी सरकार पर रहेगी। उसे यह जिम्मेदारी इसलिए लेनी पड़ेगी, ताकि वह संसद के प्रति अपने कर्तव्य का निर्वाह कर सके। सरकार की यह जिम्मेदारी होगी कि वह निगम के सुचारु कार्यचालन के लिए आवश्यक हो तो उपयुक्त उपचारात्मक कार्रवाई करे। सरकार और निगमों के पारस्परिक संबंधों का सविस्तार निर्धारण अव्यावहारिक तथा अवांछनीय होगा। अभिप्राय यह है कि निगमों को निर्देश देने की शक्ति के संबंध में कानूनी प्रावधानों का ऐसा अर्थ न लगाया जाये जिससे सरकार पर अनौपचारिक चर्चा, सम्मेलन आदि संवाद के अन्य माध्यमों का उपयोग करने पर रोक लगे। कोई कारण नहीं कि सरकार का निगमों से संबंध केवल कानूनी निर्देश देने तक सीमित रहे। (विवियन बोस जांच बोर्ड की रिपोर्ट)

सवाल उठता है कि जब स्वायत्त निगमों के संबंध में सरकार की आधिकारिक नीति यह थी और बाद की अवधि में निगमों के कार्य में मंत्रालयों के हस्तक्षेप के दर्जनों उदाहरण उपलब्ध हैं, तो मंत्री यह दावा कैसे कर सकते हैं कि निगमों की गंभीर गलतियों के लिए वे जिम्मेदार नहीं हैं? संयुक्त संसदीय समिति ने इस मामले को बहुत सही तरीके से प्रस्तुत किया है। उनकी टिप्पणियां अकाट्य हैं। निम्नलिखित महत्वपूर्ण पैराग्राफ में सरकार के सभी स्तरों पर जवाबदेही के पूर्ण अभाव को रेखांकित किया गया है :

''यह घोटाला मूलतः विभिन्न प्रकार की प्रतिभूतियों के सौदों के माध्यम से सरकारी धन का सोच-समझकर किया गया आपराधिक दुरुपयोग है, जिसका उद्देश्य

बैंकों और सरकारी क्षेत्र के उद्यमों के धन को सट्टे के लाभ के लिए कुछ दलालों के पास अवैध रूप से पहुंचाना था। प्रतिभूतियों और बैंक के सौदों में नवीनतम अनियमितताएं पुरानी अव्यवस्था की अभिव्यक्ति हैं, क्योंकि इनमें न केवल बैंक शामिल हैं बल्कि इनमें शेयर बाजार, वित्तीय संस्थाओं, सरकारी क्षेत्र के उद्यमों, केंद्रीय बैंक–यहां तक कि वित्त और अन्य आर्थिक मंत्रालयों का भी विभिन्न मात्रा में हाथ है। सबसे दुर्भाग्यपूर्ण पहलू यह है कि गैरजवाबदेही की संस्कृति में उभार आया है और यह संस्कृति गत वर्षों में सरकार के सभी क्षेत्रों तथा बैंकिंग प्रणाली में प्रवेश कर गयी है। देश की शासन प्रणाली की स्थिति, नियमों-विनियमों तथा निर्देशों का लगातार पालन न किया जाना, बैंकिग प्रणाली में विगत वर्षों में हुए गंभीर क्षय – इन सबको घोटाले ने अनावृत कर दिया है।... इन तमाम वर्षों में समस्याओं से कारगर ढंग से निपटने की संबंधित अधिकारियों की योग्यता की परीक्षा हुई है और इसमें वे असफल रहे हैं।''

वित्तमंत्री डा. मनमोहन सिंह ने संयुक्त संसदीय समिति को बताया : ''वित्तमंत्री के काम के संबंध में मेरा निवेदन है कि वह मंत्रालय के काम की निगरानी करता है और अधिकारियों को नीति-संबंधी निर्देश देता है। राजस्व और व्यय से संबंधित फैसलों की सीधी जिम्मेदारी वित्त मंत्रालय की होती है। वित्तीय प्रणाली को, जहां वित्त मंत्रलाय का संबंध होता है, प्रभावित करने वाले नीति-निर्णयों के लिए वह जिम्मेदार होता है। तथापि वित्तमंत्री को प्रशासन संबंधी गलतियों के लिए या अलग-अलग बैंकों एवं वित्तीय संस्थाओं के प्रबंधन की कमियों के लिए दोषी नहीं ठहराया जा सकता।''

डा. मनमोहन सिंह का यह बयान, कम से कम कहें तो भी, निर्लज्जतापूर्ण था। उन्होंने उस स्थिति को मानने से इनकार किया जो ब्रिटेन और भारत में सर्वमान्य है। नेहरू सरकार ने 27 मई, 1959 के संकल्प में (जिसका उद्धरण ऊपर दिया गया है) जो उदाहरण दिये थे और जो नीति बनायी थी, वह सही स्थिति को दर्शाती है। समिति द्वारा मनमोहन सिंह के बयान को अस्वीकार करते हुए यह कहना उचित ही था कि उनके द्वारा किये गये भेद को संसदीय सरकार के सिद्धांत एवं व्यवहार के अनुसार मान्य नहीं किया जा सकता।

यहां मैं संयुक्त संसदीय समिति की रिपोर्ट पर विपक्षी दलों की भूमिका के संबंध में सवाल उठाना चाहता हूं। रिपोर्ट सर्वसम्मत थी। कांग्रेस का समिति में बहुमत था। रिपोर्ट पर बहस करने की बिलकुल जरूरत नहीं थी। विपक्षी दलों को इतनी ही मांग करनी चाहिए थी कि समिति की सिफारिशों को शीघ्र लागू किया जाये। जाहिर है कि यह काम एक हफ्ते में नहीं हो सकता था। फिर विपक्षी दलों ने बहस के लिए जोर क्यों डाला? इस पर जोर देकर और इसे डा. मनमोहन सिंह

के इस्तीफे से– और दो अन्य मंत्रियों के इस्तीफे से –जोड़कर उन्होंने रिपोर्ट को वस्तुतः संसद द्वारा अस्वीकृत करा दिया। मंत्री बनने की महत्वाकांक्षा वाले कांग्रेसी सांसदों ने एक तरह से हुड़दंग कर दिया और समिति की रिपोर्ट, समिति के सदस्यों तथा उसके अध्यक्ष रामनिवास मिर्धा की खिल्ली उड़ायी।

अटल बिहारी वाजपेयी ने अत्यंत पुराने और अनुभवी सासंद होने के बावजूद इस सर्वसम्मत रिपोर्ट पर बहस उठाने की पहल की, जिसकी मेरी राय में कोई तुक नहीं थी। बहस नियम 193 के अंतर्गत हुई, जिसमें वोट की व्यवस्था नहीं है। हैरत की बात कि वाजपेयी नियम 184 के अंतर्गत बहस चाहते थे तथा अंत में वोट भी। इंद्रजीत गुप्त का भी संसद में तीन या चार दशकों का अनुभव है। सोमनाथ चटर्जी भी नये नहीं हैं। इसी तरह जनता दल में भी अनुभवी सदस्य हैं। सबसे अच्छा तो यह होता कि रिपोर्ट को जस का तस छोड़ दिया जाता जैसाकि कमल मुरारका ने राज्यसभा में सुझाव दिया था। विपक्षी दलों ने बहस की मांग की और कांग्रेस ने इसे तुरंत स्वीकार करके रिपोर्ट की भर्त्सना करने का मौका छीन लिया। रिपोर्ट को लागू करने के लिए सरकार को सूई चुभाने के कई तरीके थे, किंतु विपक्षी दलों ने इसकी जरूरत नहीं समझी। विपक्ष की हालत सचमुच दयनीय है। वर्तमान स्थिति में गैर-कांग्रेसी दलों के बीच कोई तालमेल नहीं हो सकता। भाजपा ने अतिवादी रास्ता अपनाकर सभी गैर-कांग्रेसी विपक्षी दलों का विरोध मोल ले लिया है। उसने उदारीकरण की नीति का जोरदार समर्थन किया था। लालकृष्ण आडवाणी जब दो साल पूर्व विदेश गये थे, तो उन्होंने सरकार के आर्थिक राजदूत की तरह बातें की थीं। जसवंत सिंह और प्रमोद महाजन बाजार अर्थव्यवस्था और उसके तमाम पहलुओं का जोरदार समर्थन करते रहे हैं।

वित्तमंत्री ने प्रणालीगत विफलता की बात की। चिदंबरम ने संसद के प्रति मंत्रिमंडल की सामूहिक जवाबदेही और व्यक्तिगत मंत्री की प्रधानमंत्री के प्रति जिम्मेदारी की बात की। विद्वान संविधान विशेषज्ञ ने अपने विभाग में हुई घटना के संबंध में व्यक्तिगत कैबिनेट मंत्री की जिम्मेदारी के बारे में शायद सुना ही नहीं है। शायद उन्हें पता ही नहीं कि ब्रिटिश पार्लियामेंट में व्यक्तिगत मंत्रियों के खिलाफ निंदा प्रस्ताव पास होते रहे हैं। उन्हें यह भी पता नहीं है कि हम लोगों ने भारत में भी व्यक्तिगत कैबिनेट मंत्रियों की खिंचाई करने के लिए लोकसभा में निंदा प्रस्ताव की व्यवस्था रखी है।

माकपा के प्रवक्ता ने डा. मनमोहन सिंह की व्यक्तिगत ईमानदारी के लिए उनकी प्रशंसा के पुल बांधे हैं। इसकी कोई जरूरत नहीं थी। इंद्रजीत गुप्त चाहते थे कि वे उच्च नैतिकता की पीठिका पर डटे रहें। किंतु यदि वे वहां न डटे रहना चाहें तो ?

इंद्रजीत गुप्त ने एक खास मानसिकता की बात की और सारी विफलता को इस

मानसिकता के संदर्भ में स्पष्ट किया। उनका विचार था कि वित्तमंत्री उस मानसिकता के बंदी हैं और उन्होंने आंख मूंदकर बाजार प्रणाली की अचूकता पर विश्वास कर लिया। संभवतः इसी कारण 1992 की तेजी आई और लूट हुई। मुझे याद है कि स्वतंत्र पार्टी के लोग भी कम्युनिस्ट देशों की पिछली विफलताओं को एक भिन्न प्रकार की मानसिकता का फल मानते थे।

इस प्रकार प्रणालीगत विफलता, घोटाले के वास्तविक कारण के रूप में विशेष मानसिकता के बारे में शासक पक्ष और विपक्ष के बीच विचित्र आम सहमति थी। आदमियों की इसमें कोई गलती नहीं थी। नहीं, प्रणालियों को आदमी नहीं चलाते ! प्रणालियां तो अपने आप चलती हैं और कभी-कभी उनमें खराबी आ जाती है ! इसके लिए कोई आदमी वस्तुतः जिम्मेदार नहीं होता ! कैबिनेट मंत्री तो बिल्कुल ही नहीं और न ही रिजर्व बैंक के गवर्नर तथा सरकारी विभागों के अवर सचिव से सचिव तक के अधिकारी ! राष्ट्रीयकृत वित्तीय संस्थाओं के अध्यक्ष भी निश्चय ही जिम्मेदार नहीं होते और न ही विदशी बैंकों के प्रमुखों को, जिनके बारे में कहा गया है कि उन्होंने रिजर्व बैंक तथा अन्य नियामक तंत्र के प्रति हिकारत का रवैया अपनाया, दोषी ठहराया जा सकता है !

बहरहाल, यह तो निश्चित ही है कि गलती चपरासियों की थी जो फाइलों को एक कमरे से दूसरे कमरे में और एक दफ्तर से दूसरे दफ्तर में ले जाते थे ! इनमें से कुछ को मुअत्तल कर दो, किंतु डा. मनमोहन सिंह, शंकरानंद या रामेश्वर ठाकुर जैसे अपरिहार्य व्यक्तियों को मत छुओ ! बस, सब कुछ ठीक हो जायेगा ! प्रणाली अपने आप सुधर जायेगी और मानसिकता में भी सुधार हो जाएगा !

कार्रवाई रिपोर्ट में संशोधन

सवाल केन्द्र-सरकार की साख का

प्रतिभूति घोटाले से संबंधित संयुक्त समिति की सिफारिशों पर सरकार द्वारा प्रस्तुत कार्रवाई रिपोर्ट को लेकर संसद में एक पखवाड़े तक जारी गतिरोध 17 अगस्त 1994 को तब समाप्त हुआ जब लोकसभा-अध्यक्ष शिवराज पाटिल ने एक समझौते के तहत विपक्षी सदस्यों की मौजूदगी में ऐलान किया कि सरकार कार्रवाई रपट में संशोधन-परिवर्तन करेगी। पाटिल के अनुसार संयुक्त संसदीय समिति की रपट के जिन मुद्दों पर कार्रवाई नहीं की गयी, दूसरे जिन पर कार्रवाई आंशिक रूप से हुई तथा तीसरे जिन मुद्दों पर सरकार के कार्रवाई करने के दावे से विपक्ष असहमत है

उनके बारे में सरकार पुनर्विचार के बाद एक संशोधित एवं परिवर्तित रपट शीघ्रातिशीघ्र सदन में प्रस्तुत करेगी। राज्यसभा में भी सभापति के.आर. नारायणन ने ऐसी ही घोषणा सदस्यों के बीच की। उल्लेखनीय है कि इसके पूर्व की रिपोर्ट में आक्रामक भाषा के प्रयोग से न केवल विपक्ष क्रुद्ध हुआ था और राव सरकार की भर्त्सना के लिए इसे अच्छे मौके के रूप में देख रहा था, बल्कि प्रायः शांत और प्रसिद्धि से दूर रहनेवाले, संसदीय समिति के अध्यक्ष, रामनिवास मिर्धा भी इससे दुखी थे।

गैरकांग्रेसी पार्टियां यद्यपि नीतियों और कार्यक्रमों के कारण विभाजित थीं, किंतु इस मुद्दे पर वे एक राय बनाने को बाध्य नहीं। भाजपा और शेष विपक्ष ने सभी संसदीय समितियों से त्यागपत्र देने और संसद के सत्र का बहिष्कार करने का फैसला किया था। केवल मुलायम सिंह और कांशीराम के नेतृत्ववाले ग्रुपों ने ही, जिन्हें उत्तर प्रदेश में कांग्रेस के समर्थन की जरूरत है, बहिष्कार में भाग नहीं लिया था।

भाजपा और रामो-वामो के सांसद राष्ट्रपति भवन तक गये और उन्होंने राष्ट्रपति को अपने विचारों से अवगत कराया था। किंतु दोनों अलग-अलग मिले, एक साथ नहीं। भाजपा तो सदन में तालमेल बनाने के पक्ष में बोलने लगी थी, किंतु संसद से बाहर अपनी एकांगी नीतियों तथा लक्ष्यों में कोई त्याग किये बगैर। वह तालमेल की कार्रवाई का क्षेत्र संसद की सीमा से बाहर बिलकुल नहीं बढ़ाना चाहती थी।

भारतीय मतदाताओं के स्वभाव का अध्ययन करनेवाले सभी गंभीर प्रेक्षक जानते हैं कि ये मतदाता आर्थिक मुद्दे पर कभी वोट नहीं देते हैं, जैसेः उदारीकरण बनाम नियंत्रित अर्थव्यवस्था, मुद्रास्फीति, कीमतों की बढ़ोतरी, आदि-आदि। किंतु इस सर्वाधिक भ्रष्ट देश के मतदाता भ्रष्टाचार के मुद्दे पर आश्चर्यनजक रूप से अत्यधिक संवेदनशील हैं। हमारी जनता खुद तो घोर भौतिकवादी है, किंतु अपने नेताओं को वह भ्रष्टाचार से मुक्त देखना चाहती है। मध्य प्रदेश और हिमाचल प्रदेश में सुंदरलाल पटवा और शांता कुमार की पराजय का मुख्य कारण जनता की नजर में उनकी सरकारों का भ्रष्टाचार ही रहा है। 1989 में कांग्रेस की हार मुख्य रूप से इसलिए हुई कि बोफोर्स और पनडुब्बियों के सौदे के खिलाफ विश्वनाथ प्रताप सिंह का अभियान असरदार था और उसने मतदाताओं के महत्वपूर्ण तबके को राजीव गांधी के खिलाफ कर दिया था। 1974-77 में जयप्रकाश के आदोलन को कांग्रेस पार्टी के भ्रष्टाचार और इंदिरा गांधी के पैसा जमा करने के अभियान से उत्पन्न जनता के रोष से शक्ति मिली। 1967 में भी कांग्रेस-विरोधी लहर ज्यादातर कृष्णवल्लभ सहाय (बिहार) और अतुल्य घोष तथा पीसी सेन (पश्चिम बंगाल) द्वारा

नियंत्रित राज्य सरकारों से उत्पन्न जनता के असंतोष से बनी थी।

यह सही है कि भ्रष्टाचार के अतिरिक्त और भी मुद्दे रहे हैं जिन्होंने जनमत को प्रभावित किया है। संयुक्त महाराष्ट्र और पृथक तेलंगाना राज्य की भावनाएं इतनी शक्तिशाली थीं कि 1957 में कांग्रेस का बंबई और पश्चिम भारत में तथा 1971 में तेलंगाना क्षेत्र में सफाया हो गया था। 1991 में लालकृष्ण आडवाणी की रथयात्रा से, विशेषकर अयोध्या की हिंसा से हिंदुओं में ऐसा उन्माद भड़का कि भाजपा को उत्तर प्रदेश और गुजरात में भारी सफलता मिली और कर्नाटक में भी उसे अच्छा जन-समर्थन मिला। भाजपा संसद के दोनों सदनों में मान्य विपक्षी दल बना। किंतु ये मुद्दे प्रायः क्षेत्रीय स्तर पर ही मतदाताओं को गोलबंद करते रहे। राष्ट्रीय स्तर पर मतदाताओं को गोलबंद करने वाला मुद्दा भ्रष्टाचार ही रहा है।

रामजन्मभूमि-बाबरी मस्जिद मुद्दे का उत्साह अब ठंडा पड़ गया है और संघ परिवार द्वारा उसे पुनः उभारने की कोशिश विशेष सफल नहीं हुई है। गुटीय झगड़ों और नीतिगत मतभेदों से परेशान इस पार्टी के लिए कार्रवाई रिपोर्ट की कठोर भाषा के रूप में व्यक्त भ्रष्टाचार का मुद्दा काफी राहत देनेवाला रहा। संभवतः उसे लगता था कि वह मंदिर और हिंदुत्व के मुद्दों में नरमी लाये बिना प्रतिभूति घोटाले से उत्पन्न कांग्रेस-विरोधी भावना से लाभ उठा सकती है। उसकी यह आशा भी पूरी होने वाली नहीं ।

दो कम्युनिस्ट पार्टियां दो राज्यों तथा अन्यत्र कुछ इलाकों में सीमित हो गयी हैं और वे अपना विस्तार नहीं कर पा रही हैं। वे गतिहीन हो गयी हैं। जनता दल की स्थिति दयनीय बन गयी है। उत्तर प्रदेश में इसने अपना आधार खो दिया है और बिहार में इसका विभाजन हो गया है। इस बात से इनकार नहीं किया जा सकता कि लालूप्रसाद यादव का आधार सामाजिक गठबंधन के कारण अब भी मजबूत है और उसका कोई विशेष क्षरण अभी नही हुआ है। पर लालू और नीतीश के धड़ों की संभावनाओं का अनुमान लगाते समय यह बात ध्यान में रखी जानी चाहिए कि जब जनता दल एक था और विश्वनाथ प्रताप सिंह का मध्यवर्ग में कुछ असर था (1990 के प्रांरभिक महीनों में) तो भी उसे 324 सदस्यों की विधानसभा में 120 सीटें ही मिली थीं। सरकार चलाने के लिए लालूप्रसाद यादव को अपने सहयोगियों – भाकपा, माकपा, झारखंड ग्रुपों और यहां तक कि आईपीएफ से भी दलबदल कराना पड़ा। बिहार में यादव सबसे अधिक संख्या में हैं और जब तक यादवों तथा मुसलमानों का गठबंधन बना रहता है तब तक लालू अन्य पार्टियों से आगे रहेंगे। लेकिन अपहरण, धन-वसूली और भ्रष्टाचार में हाथ होने के उन पर जो आरोप लग रहे हैं वे उनकी सत्ता का अंत कर सकते हैं और कृष्णवल्लभ सहाय (बिहार), पटवा (मप्र) तथा शांता कुमार (हिप्र) की कहानी दुहराई जा सकती है।

बीजू पटनायक की छवि भी काफी दूषित हो गयी है।

पीवी नरसिम्हाराव अपनी सरकार के कबाड़खाने की सफाई करने में असमर्थ रहे। पार्टी के भीतर विद्रोह के डर से वे किसी भी मंत्री को हाथ लगाने के लिए तैयार नहीं हुए। वे 10 जनपथ से भी चौकन्ने थे। श्रीमती सोनिया गांधी के न्यास सुनियोजित ढंग से लालूप्रसाद यादव, मुलायम सिंह और बंगरप्पा जैसे लोगों को मंच प्रदान करने लगे हैं। क्या सोनिया गांधी कांग्रेस, भाजपा या जनता दल आदि के नेताओं की विश्वसनीयता के ह्रास को देखते हुए, पिछड़े वर्गों के मतदाता समूह को लुभाने की कोशिश कर रही हैं जिसकी इंदिरा गांधी ने उपेक्षा की थी ?

यदि प्रधानमंत्री नैतिक पहलू की अनिवार्यता को इसी तरह नजरअंदाज करते रहेंगे, तो वे मुश्किल में पड़ जायेंगे। आखिर, वे संसदीय सरकार के बुनियादी सिद्धांतों से बेखबर नहीं हो सकते। जवाहरलाल नेहरू ने विभागीय गलतियों के लिए संबंधित मंत्री की नैतिक जिम्मेदारी का सिद्धांत स्वीकार किया था। इस सिद्धांत को बदनाम मूंदड़ा केस में एम.सी. छागला के न्यायिक आयोग ने वैध ठहराया था। टीटी कृष्णमाचारी पर घूस लेने का आरोप नहीं था तथापि तत्कालीन गृहमंत्रालय के, जो गोविंदबल्लभ पंत के अधीन था, प्रस्ताव में कहा गया कि कृष्णमाचारी ने नैतिक जिम्मेदारी को स्वीकार किया है और शालीनता से त्यागपत्र दे दिया है (1959)।

विपक्षी मुहिम और उससे निकले सकारात्मक नतीजे से यह सिद्ध हुआ कि लोकतंत्र में कोई भी सरकार अपना नैतिक आधार खोकर बची नहीं रह सकती है। राव सरकार अपनी वैधता खोने के कगार पर खड़ी है। यदि वे सख्त कार्रवाई नहीं करेंगे और कुछ मंत्रियों से पीछा नहीं छुड़ायेंगे, तो वे इससे होनेवाले नुकसान को नहीं रोक पायेंगे। विपक्ष की भागीदारी के बिना संसद की कार्रवाई तमाशा है। इसकी कोई वैधता नहीं है।

उदारीकरण की सरकारी नीति की सबसे बड़ी खामी यह थी कि यह न तो सोच-समझ कर तैयार की गयी थी और न ही देश की ज़रूरतों की ओर मुखातिब थी। मुख्य बात यह कि यह उत्पादन तथा उत्पादिता-अभिमुख नहीं थी। इसके विपरीत साम्यवादी चीन के सुधार अधिक सार्थक थे। चीन की भी अपनी समस्याएं हैं, किंतु कुल मिलाकर इसकी नयी आर्थिक नीति के अच्छे परिणाम निकले हैं। हमारे सुधारों ने सूझ-बूझ के प्रयोग और गुणवत्ता के सुधार को प्रोत्साहित नहीं किया। उपभोक्ता वस्तुओं के निर्यात के क्षेत्र में चीन भारत से आगे क्यों निकल गया ? कम कीमतों पर काबू और अच्छी गुणवत्ता के कारण। हमारे तथाकथित उदारीकरण और बाजार अभिमुखता ने वित्तीय क्षेत्र तथा शेयर बाजार में तबाही मचा दी और सट्टाखोरी को प्रोत्साहित किया। सरकार की कार्रवाई रिपोर्ट के पृष्ठ 46-47 और 52-53 में सरकार के निद्रामग्न निदेशकों तथा वित्त मंत्रालय की

भूमिका के संबंध में जो निर्लज्ज विचार निश्चिंत भाव से तथा अपने को साफ-सुथरा बताने के ढंग से दिये गये हैं, उन्हें पढ़कर तो मैं दंग रह गया। यही बात उन सरकारी टिप्पणियों के बारे में भी सही है जो संयुक्त संसदीय समिति द्वारा अन्य मुद्दों पर व्यक्त विचारों के संबंध में की गयी हैं।

परिवर्तन के उस छोटे-से दौर में ठगों और बदमाशों की चांदी हो गयी थी। हर आदमी जल्दी से जल्दी पैसा बनाना चाहता था। मंत्री भी जाल में फंस गये। वे जल्दी-जल्दी पैसा बनाने के प्रलोभन से नहीं बच सके। क्या राव समझते हैं कि उनके मंत्री अपरिहार्य हैं? अपरिहार्य कोई नहीं होता। वित्तमंत्री की ईमानदारी पर किसी ने संदेह प्रकट नहीं किया है। किंतु अन्य मंत्रियों के बारे में राव का क्या कहना है? उन्हें कुछ लोगों की बलि देनी होगी और सफाई की प्रक्रिया पूरी ईमानदारी के साथ शुरू करनी होगी। जो उन्हें मजबूती से अड़े रहने की सलाह दे रहे हैं वे न तो राव के हितैषी हैं और न ही उनकी सरकार के। इस संवेदनशील मुद्दे पर, और चीनी घोटाले पर भी, राव का गैरलचीला रुख उन्हें ले डूबेगा। उन्हें समय से पहले अपनी गहरी खतरनाक नींद से जाग जाना चाहिए, इसका कदाचित नरसिम्हाराव को अहसास हो गया। तभी संयुक्त संसदीय समिति की रपट संबंधी समझौता संभव हुआ।

न्यायिक फैसलों की भूलभूलैया

हमारे सर्वोच्च न्यायालय के निर्णय अधिकाधिक पहेली बनते जा रहे हैं। जजों की अलग-अलग राय का बाहुल्य – अधिकतर ये अलग फैसले असहमति के नहीं, सहमति के होते हैं – भ्रांतियों का स्रोत है। मुख्य फैसला सुनाने वाले सहयोगी के साथ मतैक्य व्यक्त करना दूसरे जजों को अपनी गरिमा से नीचे लगता है, भले ही वे मूलतः उससे सहमत हों। कागज की ऊंची कीमतों के इन दिनों में न्यायिक फैंसलों की शब्द-भरमार डराने वाली है। इनसे यह समझना कठिन हो जाता है कि मुख्य निर्णय और उसकी चिंतनधारा क्या है और आनुषंगिक मत क्या है।

जज उन मामलों में राय व्यक्त करते हैं जो अदालत के समक्ष न्याय के लिए नहीं होते और जिन पर प्रतिवादी अधिवक्ता ने सावधानी से पूरी बहस नहीं की होती है। जज संविधान के स्पष्ट शब्दों की अनदेखी करने के लिए भी अपने को स्वतंत्र मानते हैं और इन शब्दों के स्थान पर अपने शब्द रख देते हैं। यदि संविधान कहता है कि अमुक नियुक्तियां, अमुक प्राधिकारी से परामर्श करके की जाएं, तो

जज 'परामर्श' शब्द के स्थान पर 'सहमति' शब्द जोड़ देते हैं। 'परामर्श' शब्द में वीटो की शक्ति ढूंढ ली जाती है। जहां बिना किसी विशेषण के बहुवचन में 'जजों' शब्द आया है वहां अर्थ-निर्णय की गूढ़ प्रक्रिया से उसका अर्थ 'मुख्य न्यायाधीश' कर दिया जाता है।

'वादे-वादे जायते तत्वबोधः' ऐसा संस्कृत में एक वचन है। यह न्याय प्रक्रिया पर लागू होता है। अतः न्यायांलय के सामने दो पक्षों में जब प्रखर बहस हो तभी सत्य का फैसला करना संभव होता है। न्यायिक कार्रवाई के लिए आमतौर पर स्वीकृत इस पूर्व शर्त की उपेक्षा की जाती है। ठोस प्रश्नों और वादों की सीमा में काम करने और फैसला करने के बजाय अमूर्त प्रश्नों पर न्यायिक घोषणाएं की जाती हैं। हमारा संविधान सीमित अधिकारों की संकल्पना पर आधारित है। सर्वोपरि सत्ता संविधान और जनता में है। लेकिन हम अक्सर इसे भूल जाते हैं। नाथ पै के विधेयक के दिनों से लेकर संसद की सर्वोपरिता का सिद्धांत अपनाया जाता रहा। इस तथाकथित उच्च सिद्धांत और उसके पीछे निहित सारे विचार की भयानक परिणति 19 महीने के आपातकाल शासन में हुई। अब हम पींग के दूसरे सिरे पर आ गये हैं और हम न्यायालयों की सर्वोपरिता के सिद्धांत को स्थापित करने जा रहे हैं। न्यायिक समीक्षा के अधिकारों का सावधानी और संयम से प्रयोग करने के बजाय हम दिन-प्रतिदिन उसके क्षेत्र का विस्तार कर रहे हैं।

प्रायः उच्चतम न्यायालय के जज परस्पर-विरोधी फैसले देते हैं क्योंकि या तो जज यह नहीं जानते कि दूसरी पीठों ने क्या फैसला दिया है या वे समझते हैं कि उन फैसलों की अनदेखी करना बेहतर है। हमारे संविधान ने निष्पक्ष और स्वतंत्र चुनाव कराने के लिए चुनाव आयोग का गठन किया है। बहुसदस्यीय चुनाव आयोग को लेकर जो विवाद उत्पन्न हुए, वे सर्वोच्च न्यायालय के पास अंतिम निर्णय के लिए आये। दुख की बात है कि सर्वोच्च न्यायालय के दो निर्णयों में कोई मेल नहीं है। दिमाग को चकराने वाले इन फैसलों ने अनचाहे मुख्य चुनाव आयुक्त को खतरनाक दुःसाहसी कामों के लिए प्रेरित किया है।

यहां मैं अनुच्छेद 356 के अंतर्गत राष्ट्रपति के अधिकारों के संबंध में उच्चतम न्यायालय के नवीनतम फैसले का जिक्र करना चाहता हूं। सबसे पहले मैं कह दूं कि इस अनुच्छेद के अंतर्गत न्यायिक समीक्षा के क्षेत्र के प्रश्न पर सात जजों की विशेष बेंच ने सुविचारपूर्ण फैसला किया था। इसके लिए नये सिरे से बड़ा बेंच बनाने की बिल्कुल जरूरत नहीं थी। कर्नाटक, मेघालय और मध्यप्रदेश, हिमाचलप्रदेश, राजस्थान के तीनों मामले सुप्रसिद्ध राजस्थान केस (1977) के आधार पर संतोषजनक ढंग से निपटाये जा सकते हैं। किंतु अधिवक्ता के दबाव पर बड़ा बेंच बिठाया गया। कर्नाटक और मेघालय के फैसले में कोई कठिनाई नहीं

थी। ये फैसले राजस्थान केस के फैसले की सीमाओं में हैं। मध्यप्रदेश, हिमाचल प्रदेश, राजस्थान का मामला इस आधार पर निपटाया गया कि धर्मनिरपेक्ष व्यवस्था संविधान की मूल विशेषता है। व्यक्तिगत तौर पर मैं चाहता था कि यह मामला संवैधानिक व्यवस्था के उल्लंघन के आधार पर निपटाया जाता। आखिर उत्तरप्रदेश सरकार ने जो काम किया था और जिसमें अन्य तीन राज्य सरकारों ने सहयोग दिया, वह कानून के शासन को खत्म करना था और इसमें उच्चतम न्यायालय के समक्ष दिये गये शपथपत्रों का जानबूझकर उल्लंघन निहित था। सुंदरलाल पटवा ने इसकी जिम्मेदारी स्वीकार की थी और संघ परिवार की 6 दिसंबर की कार्य-योजना पर मतदाताओं के फैसले का आह्वान किया था।

लेकिन यह बड़ी बात नहीं है। मुझे बहुमत निर्णय के उस अंश से बहुत तकलीफ हुई, जिसमें उस प्रश्न पर फैसला दिया गया, जो महान अदालत के सामने निर्णय के लिए पेश नहीं था। कर्नाटक और मेघालय में नयी विधानसभाएं चुनी जा चुकी थीं और काम कर रही थीं। पुरानी भंग विधानसभा को नयी निर्वाचित विधानसभा के स्थान पर बहाल करने की शक्ति संविधान ने किसी प्राधिकारी को नहीं दी है; न ही संविधान ने किसी प्राधिकारी को यह अधिकार दिया है कि वह पुरानी विधासभा भंग होने के बाद शुरू हुई चुनाव प्रक्रिया में हस्तक्षेप करे। राष्ट्रपति के शासन की अवधि शुरू में केवल दो महीने होती है और फिर संसद के दोनों सदनों के अनुमोदन से इसे अधिक से अधिक एक साल तक बढ़ाया जा सकता है (खंड (5), अनुच्छेद 356)।

उच्चतम न्यायालय के नवीनतम फैसले में न्यायालय ने यह दावा किया है कि उसे पुरानी भंग विधानसभा को पुनर्जीवित करने और नये चुनाव न कराने का सरकार को आदेश देने का अधिकार है। यह मानते हुए कि न्यायलय को यदि लगता है कि राष्ट्रपति शासन लागू करने और विधानसभा भंग करने में अप्रासंगिक और बाह्य कारणों का हाथ रहा है, तो वह तत्काल चुनाव कराने का निर्देश दे सकता है, बजाय एक साल में किसी समय पर। किंतु नौ जजों के बहुमत्त ने राष्ट्रपति द्वारा राज्य विधानसभाओं को भंग करने के अधिकार की सीमा देखी है। यद्यपि संविधान के शब्दों में कहा गया है कि राष्ट्रपति 'राज्यपाल में निहित या तद्द्वारा प्रयोक्तव्य सब या कोई शक्तियां अपने हाथ में ले सकेगा।' {अनुच्छेद 356, खंड 1(क)}

राज्यपाल की शक्तियों में विधानसभा को भंग करने की शक्ति शामिल है। यह सही है कि इस शक्ति का प्रयोग मंत्रिमंडलीय सरकार में जनता द्वारा चुने गये मंत्रिमंडल की सिफारिश पर किया जाता है, किंतु राष्ट्रपति शासन के अंतर्गत यह सिफारिश राज्य के मंत्रिमंडल को नहीं (जो बर्खास्त होता है), केंद्र के मंत्रिमंडल को करनी होती है। विधानसभा को भंग करने की शक्ति का संसद के दोनों सदनों द्वारा

उद्घोषणा के अनुमोदन से कोई संबंध नहीं है। इसका मतलब होगा, केंद्रीय मंत्रिमंडल की सलाह के स्थान पर केंद्रीय विधानमंडल की सलाह से राष्ट्रपति निर्णय करेगा। क्या उच्चतम न्यायालय संविधान में तब्दीली करने के लिए स्वतंत्र है ?

न्यायालय पहले तो अनुच्छेद 356 में मृत विधानसभा को पुनर्जीवित करने का अधिकार पढ़ता है, किंतु जब देखता है कि इसका अनुच्छेद की योजना से मेल नहीं बैठता, तो वह पाकिस्तान का संदेहास्पद उदाहरण देकर कहता है कि संसद द्वारा राष्ट्रपति की उद्घोषणा के अनुमोदन से पहले किसी विधानसभा को भंग नहीं किया जा सकता। (पाकिस्तान में सेनाध्यक्ष ने राष्ट्रपति, प्रधानमंत्री, संसद के अध्यक्ष और मुख्यमंत्री सबको लात मारकर बाहर निकाल दिया था और सर्वोच्च न्यायालय को भी धमका कर चुप रहने को कहा था)। तथापि हमारे न्यायालय के अधिकांश जजों ने कहा कि न्यायालय अनुच्छेद 356 के अंतर्गत कार्रवाई की वैधता का निर्णय करने के लिए चुनाव स्थगित भी कर सकता है। यह बात जनता द्वारा सरकार को चुनने के सर्वोच्च अधिकार के खिलाफ जाती है। यदि केन्द्र ने कोई गलती की है तो उसे जनता ठीक कर सकती है। हेगड़े-बोम्मई-देवगौडा ने 1978 में देवराज अर्स की सरकार को गलत बर्खास्त कराया था (नवीनतम फैसले के अनुसार इसे अवैध कहा जाएगा), किंतु मतदाताओं ने कर्नाटक में गलती करने वालों को दंड दे दिया ।

1977 का मामला ही लें। यदि विधानसभाएं भंग न की जातीं और चुनाव दो महीने की अवधि समाप्त होने से पहले अर्थात जून 1977 से पहले न करा लिये जाते तो राष्ट्रपति की उद्घोषणा व्यंग हो जाती और इसका संसद में अनुमोदन नहीं हो पाता, क्योंकि लोकसभा में तो जनता पार्टी का बहुमत था, किन्तु राज्यसभा ने इसको नामंजूर कर दिया होता, क्योंकि उसमें कांग्रेस पार्टी का भारी बहुमत था। दुख की बात है कि कुछ लोग राजनेता के रूप में एक मत का समर्थन करते हैं और वकील की हैसियत से अदालत में उसके विपरीत तर्क करते हैं। यह बेईमानी है। महात्मा गांधी वकील के रूप में इसे सख्त नापसंद करते थे।

1977 में उच्चतम न्यायालय ने राजस्थान केस में आठ विधानसभाओं के भंग किये जाने को वैध ठहराया था। नौ जजों की पीठ के बहुमत फैसले से – चार जजों ने उससे असहमति व्यक्त की थी – निश्चय ही अनेक समस्याएं पैदा होंगी। 1977 की नजीर को नजरअंदाज करने, अमूर्त फैसले देने और संवैधानिक प्रावधानों को सामने रखे बगैर बल्कि उनके विपरीत पूर्वनिश्चय एवं पूर्वाग्रह से तर्क करने के, मुझे डर है, बहुत हानिकारक परिणाम होंगे।

अध्याय पांच

चुनाव-प्रक्रिया की शुद्धता

प्रत्यक्ष चुनाव : लोकेच्छा की अभिव्यक्ति का साधन

दूसरे विश्वयुद्ध के बाद, ब्रिटेन की लेबर सरकार ने, जो भारत की आजादी के लिए वचनबद्ध थी, प्रादेशिक विधानसभाओं के लिए चुनाव कराने का फैसला किया, ताकि जनमत का अंदाजा लगाया जा सके। 1935 के अधिनियम के अंतर्गत प्रादेशिक विधानसभाओं के लिए मताधिकार केंद्रीय सभा से अधिक विस्तृत था। अतः यह सोचा गया कि प्रादेशिक चुनावों के परिणाम, केंद्रीय सभा के चुनाव की तुलना में पार्टियों की शक्ति को बेहतर ढंग से दिखायेंगे। चुनाव परिणामों (1946) से दिखायी दिया कि देश पूरी तरह दो ध्रुवों में विभाजित है। मुस्लिम निर्वाचनक्षेत्रों और मुस्लिम बहुल इलाकों में–खानबंधुओं के उत्तर-पश्चिम सीमांत प्रांत को छोड़कर – लोगों ने मुस्लिम लीग को वोट दिया और शेष इलाकों में कांग्रेस को। ब्रिटिश सरकार ने तीन सदस्यीय कैबिनेट मिशन भारतीय नेताओं के साथ सत्ता-हस्तांतरण पर बातचीत करने के लिए भेजा। कैबिनेट मिशन ने समझौते की तीन सदस्यीय योजना बनायी, जिसकी तफसील संविधान सभा द्वारा अंतिम रूप से तय की जानी थी। उसने तीन खंड भी बनाये, जिनमें संविधान सभा में ग्रुप और प्रादेशिक संविधानों पर विचार करना था। कांग्रेस वयस्क मताधिकार द्वारा प्रत्यक्ष चुनाव से बनी संविधान सभा चाहती थी, किंतु इससे कई वर्षों की देरी हो जाती। अतः यह मान लिया गया कि प्रादेशिक विधानसभाएं संविधान सभा के लिए निर्वाचकमंडल बनें तथा उसके सदस्यों का चुनाव जनसंख्या के अनुपात में अल्पसंख्यकों के लिए किए गए विशेष आरक्षण संबंधी प्रावधानों आदि को छोड़कर करें। त्रिस्तरीय योजना सफल नहीं हुई और

अंत में मुख्य पार्टियां विभाजन के लिए सहमत हो गयीं। संविधान सभा भी दो हिस्सों में बंट गयी–एक पाकिस्तान के लिए और एक भारत के लिए।

यद्यपि संविधान सभा परोक्ष चुनाव से बनी थी, उसने निम्नलिखित व्यवस्था को अपनाया : (क) संसदीय सरकार, (ख) वयस्क मताधिकार, (ग) निम्न सदन के लिए प्रत्यक्ष चुनाव और, अमरीका की सेनेट से भिन्न, राज्यसभा के लिए परोक्ष चुनाव।

संविधान ने लोकसभा (तथा राज्य विधानसभाओं) में अनुसूचित जातियों तथा जनजातियों के लिए उनकी जनसंख्या के अनुपात में सीटों के आरक्षण की व्यवस्था की (अनुच्छेद 330 और 331)। शुरू में आरक्षण एकल-सदस्य चुनाव-क्षेत्रों के आधार पर नहीं किया गया। दो-सदस्यीय चुनाव-क्षेत्र बनाये गये, जिनमें एक सीट आरक्षित और दूसरी सामान्य थी। इन चुनाव-क्षेत्रों में वितरक वोट की प्रणाली अपनायी गयी, जिसका प्रस्ताव संविधान सभा में सरदार पटेल ने रखा था (पश्चिम बंगाल में एक तीन-सदस्यीय चुनाव-क्षेत्र भी था)। इन दो-सदस्यीय चुनाव-क्षेत्रों का आकार बहुत बड़ा था। अतः इस व्यवस्था पर कुछ लोगों ने आपत्ति की। तीसरे चुनाव में दो-सदस्यीय चुनाव-क्षेत्रों को समाप्त किया गया और कुछ एक-सदस्यीय चुनाव-क्षेत्रों को आरक्षित चुनाव-क्षेत्र घोषित किया गया।

इस प्रकार संसदीय चुनाव-क्षेत्रों के विशाल आकार से उत्पन्न कठिनाइयों को दूर किया गया। एक और कारण जो लाभकारी सिद्ध हुआ, वह था संसद और विधानसभाओं के चुनाव एक साथ कराना। इस तरह उम्मीदवारों द्वारा किया गया खर्च वितरित होता था। चूंकि शुरू के वर्षों (1952-62) में मुख्य जोर और दिलचस्पी विधानसभाओं की सीटों पर केन्द्रित थी, (जिनका आकार छोटा होता था) लोकसभा के उम्मीदवारों का बोझ काफी कम हो जाता था।

1967 में लोकसभा और विधानसभाओं के चुनावों के लिए कड़ा मुकाबला हुआ। मतदाताओं ने अपने वोट का इस्तेमाल बड़ी समझबूझ के साथ किया और कई क्षेत्रों में कांग्रेस पार्टी के विधानसभा उम्मीदवार हार गये, किंतु लोकसभा के उम्मीदवार विजयी हुए। मतदाताओं ने केंद्र की स्थिरता को महत्व दिया। 1971 में लोकसभा और विधानसभाओं के चुनाव अलग-अलग कराने से पार्टी तथा उम्मीदवार द्वारा किया गया खर्च और प्रशासनिक खर्च भी बहुत बढ़ गया । एक न एक राज्य में पूरे वर्ष ही चुनाव होने लगे। इससे न केवल सरकार का ध्यान विकास कार्यों से हटा अपितु पार्टी संगठन, राजनैतिक शिक्षा और रचनात्मक कार्यों जैसी महत्वपूर्ण गतिविधियों का स्थान अपनी सारी बुराइयों के साथ स्थायी चुनावबाजी ने ले लिया।

एक और महत्वपूर्ण बात हुई जिस पर विचार किया जाना चाहिए। आजादी के बाद की अवधि में भारत की आबादी दुगुनी हो गयी है। मताधिकर की आयु-सीमा घटने से – अब यह 18 वर्ष है–मतदाता समूह का आकार और बढ़ा है।

जनसंख्या विस्फोट से उत्पन्न हमारी कठिनाइयों का कारण रहा है शैक्षिक, सांस्कृतिक, सामाजिक तथा आर्थिक क्षेत्र में हमारी असफलताएं। ये कठिनाइयां प्रत्यक्ष चुनाव प्रणाली की असफलता से नहीं बनी हैं। अनियंत्रित जनसंख्या वृद्धि के दुष्परिणामों को चुनाव प्रणाली का कोई भी सुधार दूर नहीं कर सकता है।

परोक्ष चुनाव प्रणाली में धन की शक्ति की भूमिका अधिक होगी। मतदाता समूह जितना छोटा होगा, भ्रष्टाचार और घूस की उतनी ही गुंजाइश होगी। राज्यसभा के चुनावों में प्रत्येक राज्य के विधायक मतदाता होते हैं। इन चुनावों में आनुपातिक प्रतिनिधित्व की प्रणाली लागू है। जो व्यक्ति 30 से 40 वोट खरीद सकता है–राज्य के आकार तथा उम्मीदवारों की संख्या को देखते हुए–वह आसानी से राज्यसभा के लिए चुना जा सकता है। भौतिक सुखवाद, उपभोगवाद, भ्रष्टाचार तथा पार्टी निष्ठा के ह्रास के कारण सिद्धांतहीन धनी व्यक्ति राज्यसभा तथा राज्य विधान परिषदों में दाखिल हो जाते हैं। एमआर जयकर ने 'अरुचिकर तत्वों' और 'दबाव' की बुराई की जो भविष्यवाणी की थी, वह साकार हो चुकी है। यदि सभी स्तरों पर परोक्ष चुनाव प्रणाली लागू हुई, तो धन की शक्ति सर्वप्रमुख बनेगी, मतदाताओं के प्रति प्रतिनिधियों की जवाबदेही के स्थान पर पूर्ण गैर-जवाबदेही आयेगी। यह सही है कि हमारे वर्तमान चुनाव धन शक्ति और बाहुबल से काफी दूषित हुए हैं। किंतु ये बुरे तत्व फिलहाल व्यष्टि-स्तर पर ही सक्रिय हैं। सारे देश को लें तो लोकसभा के चुनावों ने अलग-अलग निर्वाचन क्षेत्रों की विकृतियों के बावजूद जो परिणाम दिये हैं वे लोकमत की सही स्थिति को बताते हैं।

कांग्रेस का तीन दशकों तक केंद्र में सम्पूर्ण वर्चस्व रहा। किंतु 1975-77 की घटनाओं से आहत जनता ने उसे उखाड़ फेंका। जब गैर कांग्रेसी संयुक्त सरकार – जिसे जनता पार्टी कहा जाता है–अपने अंतर्कलह को बंद नहीं कर पायी और टूट गयी तो मतदाताओं ने 1980 में दोनों धड़ों को सजा दी। राजीव सरकार की निस्तेज उपलब्धियों तथा बोफोर्स एवं पनडुब्बी घोटालों के कारण 1989 में भाजपा समर्थित जनता दल (राष्ट्रीय मोर्चा) की जीत हुई। विश्वनाथ प्रताप सिंह की सरकार के कामों ने मध्यम वर्ग को उससे दूर कर दिया; भाजपा द्वारा समर्थन वापस लेने से वह सरकार टूट गयी और पार्टी के विभाजन से जनता दल कमजोर हुआ। लाभ किसे मिला? मुख्य रूप से लाभ कांग्रेस को मिला–राजीव गांधी की हत्या की प्रतिक्रिया से भी उसे लाभ हुआ–और दूसरे स्थान पर इसका लाभ भाजपा को मिला। मतदाताओं ने चार बार केन्द्रीय सरकारों की जवाबदेही को लागू कराया है। निस्संदेह, वह इसे फिर लागू करेगा। लोकसभा और विधानसभाओं के चुनाव एक साथ कराने की प्रक्रिया बहाल करने से ख़तरे के बादल काफी हद तक छंट जायेंगे। यदि पंचायत चुनाव भी साथ साथ कराये जाते हैं और दूसरे सुधारों को लागू किया जाता है तो स्थिति में और

सुधार होगा। राज्यसभा के चुनावों में पार्टी के प्रिय पात्रों को प्रश्रय देने, चुनाव-क्षेत्रों को हथियाने और सीटों की खरीद-फरोख्त की बुराइयों से बचा जा सकता है, बशर्ते कि राज्यसभा के लिए प्रत्यक्ष चुनाव हों। वर्तमान रोटेशन प्रणाली के स्थान पर राज्यसभा और लोकसभा दोनों का कार्यकाल पांच साल किया जाये। विभिन्न चुनाव एक ही समय कराने से चुनाव-खर्च में कमी आयेगी। उत्तरप्रदेश, बिहार, महाराष्ट्र, पश्चिम बंगाल, आंध्रप्रदेश, मध्यप्रदेश और तमिलनाडु आदि बड़े राज्यों को राज्यसभा के चुनावों के लिए तीन या चार-सदस्यीय चुनाव-क्षेत्रों में बांटा जा सकता है। अमरीका की सेनेट के अलास्का, टेक्सास और कैलीफोर्निया जैसे चुनाव-क्षेत्र भौगोलिक रूप में अत्यधिक विस्तृत हैं और अनुभव बताता है कि घनी आबादी वाले चुनाव-क्षेत्रों में चुनाव-खर्च बिखरी आबादी वाले विस्तृत निर्वाचन क्षेत्रों की तुलना में कम होता है।

बड़ा मतदाता समूह यह सुनिश्चित करेगा कि राज्य के सुविख्यात राजनेता ही राज्यसभा का चुनाव जीतें ओर चुनाव-क्षेत्र हथियाने वाले—मनमोहन सिंह, बोम्मई ओर सिकंदर बख्त जैसे लोग– न चुने जाएं, ताकि राज्य के हितों का कारगर ढंग से बचाव हो सके। प्रत्यक्ष चुनाव प्रणाली लोकेच्छा की अभिव्यक्ति का सशक्त माध्यम है। यह अभिशाप नहीं, वरदान है।

राज्यसभा चुनावों में संविधान की हत्या

भारत संघ के लिए द्विसदनीय विधायिका का मूल प्रस्ताव जवाहरलाल नेहरू के नेतृत्व में संघीय संविधान समिति ने तैयार किया था। इस प्रस्ताव की मुख्य विशेषताएं थीं : दो सदनों को राज्यसभा और लोकसभा कहा जाए; इन नामों में इस बात का संकेत था कि इन सदनों का गठन किस प्रकार से होगा; लोकसभा के सदस्य भौगोलिक निर्वाचन-क्षेत्रों से वयस्क मताधिकार के आधार पर सीधे चुने जाएंगें; राज्यसभा के 250 सदस्य होंगे; भारत के उपराष्ट्रपति राज्यसभा के पदेन सदस्य तथा सभापति होंगे; दोनों सदनों के, वित्त संबंधी विधेयकों को छोड़कर, समान अधिकार होंगे और गत्यवरोधों को सम्मिलित बैठकों में सुलझाया जाएगा; वित्त विधेयक लोकसभा में रखे जा सकेंगे और राज्यसभा केवल उनमें संशोधन के सुझाव दे सकेगी जिन्हें लोकसभा स्वीकार अथवा अस्वीकार कर सकती है; राज्यसभा कभी भंग नहीं होगी, उसके एक-तिहाई सदस्य हर दो साल बाद सेवानिवृत्त होते रहेंगे।

जैसा कि देखा जा सकता है, जब संविधान को अंतिम रूप से अंगीकृत किया

गया तो इन प्रस्तावों में कोई बड़ा परिवर्तन नहीं हुआ, सिवाय एक के जिसके अनुसार साहित्य, विज्ञान, कला ओर सामाजिक सेवा के क्षेत्र में विशेष ज्ञान या व्यावहारिक अनुभव रखने वाले 12 व्यक्तियों को राज्यसभा का सदस्य नामजद करने की व्यवस्था हुई। राज्यसभा की अन्य सीटों को राज्य विधानमंडलों द्वारा चुनकर भरने की व्यवस्था हुई।

संविधान सभा में इस बात पर तीव्र मतभेद था कि दूसरा सदन हो या नहीं। कुछ सदस्यों का विचार था कि यह सदन विलंब और अवरोध का ही काम करेगा। एक आलोचक का कहना था कि यह विधायी तंत्र को अपंग कर देगा और विधि-निर्माण के काम में अड़ंगा लगाएगा या उसमें बिलंब मात्र करेगा जिसके लिए जनता ने वोट दिया है और जिसमें काफी खर्चा होता है। उस सदस्य का यह भी कहना था कि उच्च सदन राजाश्रय बांटने में पार्टी के उच्च पदाधिकारी की ही मदद करेगा। किंतु इस मुखर आलोचक ने भी यह स्वीकार किया कि जहां संघ की घटक इकाइयों (राज्यों) में दूसरे सदन की बिल्कुल जरूरत नहीं है वहां केंद्र में दूसरे सदन की व्यवस्था करना उचित होगा ताकि वह घटक राज्यों के हितों का प्रतिनिधित्व कर सके।

दूसरे सदन के समर्थकों ने विलंब के तर्क को स्वीकार नहीं किया और कहा कि 1947 में सत्ता हस्तांतरण के बाद केंद्र में एक ही सदन होने पर भी हिन्दू कोड बिल पास करने में विलंब हुआ है। इस विधेयक को अंततः छोड़ना पड़ा और इसे नये संविधान के अंतर्गत चुनी गई पहली लोकसभा में किस्तों में ही पास कराया जा सका। कुछ सदस्यों ने उच्च सदन के निर्माण का इस आधार पर समर्थन किया कि यह जल्दबाजी में बनाए गए कानूनों में आवश्यक सुधार का काम करेगा; यह सदन संशोधन और सुधार के काम की दृष्टि से उपयोगी होगा। वयस्क मताधिकार के आधार पर सीधे चुने गए सदन से कानूनों के जो विभिन्न प्रस्ताव आएंगे, उन पर दूसरे सदन में ही सावधानी से तथा धैर्य के वातावरण में विचार हो सकता है, लोकसभा के ऊपर तो वित्तीय कार्य का ही बहुत बड़ा बोझ होता है। कुछ का कहना था कि दूसरे सदन के होने से विभिन्न प्रकार के अल्पसंख्यक समूहों को विधायिका में प्रतिनिधित्व मिल सकेगा। अंत में समझौते का फार्मूला बना। राज्यों को संसद की अनुमति से दूसरे सदन को समाप्त करने का अधिकार दिया गया। किंतु केंद्र में उच्च सदन को बना रहने दिया गया, मुख्य रूप से राज्यों के कार्यात्मक हितों के प्रतिनिधित्व के लिए।

प्रश्न उठता है कि क्या राज्यसभा ने अपने चार दशकों के कार्यकाल में संविधान-निर्माताओं की उम्मीदों को पूरा किया है ? क्या उसने उन राज्यों के हितों को कारगर ढंग से आगे बढ़ाया है जो राज्यसभा के सदस्यों को चुनते हैं? यह

स्वीकार करना होगा कि राज्यसभा सदन के समक्ष आने वाले मामलों में राज्यों के विशेष दृष्टिकोण को कारगर ढंग से प्रतिबिंबित करने में और राज्यों के हितों का जोरदार बचाव करने में असमर्थ रही है। इसका कारण जानने के लिए दूर नहीं जाना पड़ेगा। राज्यसभा की सदस्यता पार्टी के नेताओं के हाथ में राज्यों के हितों का खयाल किए बिना राजाश्रय के वितरण का माध्यम बन गई है। चूंकि राज्यसभा के सदस्य राज्य विधानसभाओं द्वारा आनुपातिक प्रतिनिधित्व के आधार पर परोक्ष रीति से चुने जाते हैं, सभी पार्टियों के नेताओं के लिए अपने मनपसंद व्यक्तियों का चयन करना आसान हो जाता है, जिसमें उम्मीदवारों के ज्ञान तथा राज्यों का प्रतिनिधित्व करने की उनकी क्षमता की ओर जरा भी ध्यान नहीं जाता।

यदि राज्यसभा के लिए प्रत्यक्ष चुनावों की व्यवस्था होती, जैसी कि अमरीका में संघीय सीनेट के लिए है, तो पार्टी-नेता अपने उम्मीदवारों के रूप में चुनाव-क्षेत्र हथियाने वालों को नहीं चुनते बल्कि संबंधित राज्य में व्यापक स्वीकृति प्राप्त करने वाले वरिष्ठ एवं प्रसिद्ध व्यक्तियों को चुनते। परोक्ष चुनाव के सिद्धांत के दुर्भाग्यपूर्ण समावेश से ही राज्यसभा राजाश्रय बांटने वाला सदन बन गई है। इसने पार्टी-नेताओं, धनाढ्य लोगों और लॉबी चलाने वालों के हाथ में बहुत बड़ी शक्ति दे दी है। पार्टी के नेताओं ने पार्टी-तंत्र पर अपने नियंत्रण का उपयोग पिछले दरवाजे से संसद में प्रवेश के लिए किया है। प्रत्यक्ष चुनाव में हार या प्रत्यक्ष चुनाव जीतने की अक्षमता ने अटल बिहारी वाजपेयी, लालकृष्ण आडवाणी, सिंकदर बख्त, राजगोपाल, विष्णुकांत शास्त्री, (जनसंघ-भापजा), भूपेश गुप्ता (भाकपा) या एस. आर. बोम्मई और इंद्रकुमार गुजराल (जनता दल) को राज्यसभा में आसानी से प्रवेश दिलाया है। शासक दल और अन्य पार्टियां लोकसभा या विधानसभा के चुनावों में हारे हुए उम्मीदवारों को और अपने चहेतों को राज्यसभा के लिए जितवाती रही हैं और बाद में मंत्रिमंडल में भी शामिल करती रही हैं। उदाहरण हैं: दिनेश सिंह (हरियाणा), प्रणव मुखर्जी (गुजरात) और मनमोहन सिंह (असम)। इन 'अपरिहार्य' व्यक्तियों को किसी भी ऐसे राज्य से जितवाया जा सकता है जहां इन पार्टियों का वर्चस्व है और जहां विधानसभा में उनके सदस्यों की संख्या इतनी है कि राज्यसभा के लिए उम्मीदवारों को जिताया जा सके।

यह सारा काम संविधान तथा कानून के खिलाफ होता रहा है। लोक-प्रतिनिधित्व अधिनियम, 1950 में मतदाताओं के पंजीकरण की शर्तें दी गई हैं। ये दो शर्तें हैं : (क) व्यक्ति 18 वर्ष की अवस्था का हो, और (ख) वह उस चुनाव क्षेत्र का 'सामान्यतया निवासी' हो जिसमें वह पंजीकरण चाहता है। धारा 19(1) के अनुसार, उस क्षेत्र का कोई पता मात्र होना या वहां मकान होना इसके लिए काफी नहीं है। यह पूछा जा सकता है कि उन लोगों का क्या होगा जो सरकारी नौकरी,

सेना की ड्यूटी, निर्वाचित पदों या अन्य सार्वजनिक पदों से जुड़े उत्तरदायित्व के कारण लंबे समय तक अपने सामान्य निवास-स्थान से दूर रहते हैं ? उपर्युक्त कानून की धारा 19 की उपधारा (3) और (4) में इन व्यक्तियों के संबंध में अपवाद स्वरूप व्यवस्था की गई है। उनके निवास-स्थान से दूर रहने से उस क्षेत्र की मतदाता-सूची में नाम दर्ज कराने की योग्यता प्रभावित नहीं होगी।

राष्ट्रपति द्वारा चुनाव आयोग से परामर्श के बाद धारा 19 की उपधारा (4) के अंतर्गत अधिसूचना जारी की जाती है, जिसमें उन पदों की सूची दी जाती है जिन्हें इस कानून में छूट दी गई हो। ये सार्वजनिक पद हैं : भारत के राष्ट्रपति, उपराष्ट्रपति, राज्यों के राज्यपाल, संघ या किसी राज्य के कैबिनेट मंत्री, योजना आयोग के उपाध्यक्ष और सदस्य, संघ अथवा किसी राज्य के मंत्री, लोकसभा या किसी राज्य-विधानसभा के अध्यक्ष, किसी राज्य की विधान परिषद के सभापति, संघ-शासित क्षेत्रों के उप-राज्यपाल, लोकसभा या किसी राज्य-विधानसभा के उपाध्यक्ष, किसी राज्य की विधान परिषद के उपसभापति और संघ तथा किसी राज्य के संसदीय सचिव।

वे सब उम्मीदवार, जो ऊपर दी गई दो श्रेणियों में नहीं आते, यदि उन राज्यों तथा संघ-शासित क्षेत्रों से चुनाव लड़ते हैं जो उनका अपना राज्य या संघ-शासित क्षेत्र नहीं है, तो वे संविधान और कानून का उल्लंघन करने के दोषी हैं। राजनेताओं के निहित स्वार्थ और स्वेच्छाचारिता को सत्ताधारियों ने बर्दाश्त किया है और कभी-कभी तो प्रोत्साहित भी किया है। इससे ऐसी स्थिति पैदा हो गई है कि एक विचित्र मांग होने लगी है। मांग यह नहीं कि इस स्वेच्छाचारिता को खत्म किया जाए और कानून को कड़ाई से लागू किया जाए बल्कि यह कि कानून को ही राजाश्रयदाताओं, राजाश्रयकामियों, थैलीशाहों तथा दलालों की सुविधा के लिए बदला जाए।

मैं व्यक्तिगत तौर पर टी. एन. शेषन से पूरी तरह सहमत हूं। मैंने उनके चिड़चिड़ेपन की कई बार आलोचना की है। मैंने उनके कुछ ऐसे कामों को पसंद नहीं किया था, जिनके कारण पश्चिम बंगाल के चुनावों के मामले में और महाराष्ट्र विधान परिषद के उपचुनाव के मामले में अदालतों को हस्तक्षेप करना पड़ा था। पश्चिम बंगाल में राज्यसभा का चुनाव न कराने का निर्णय भी उनकी तानाशाही प्रवृत्ति का द्योतक है। किंतु मैं इस बात के लिए उनकी सराहना करता हूं कि उन्होंने नवम्बर, 1993 में जो चुनाव कराए वे 1990 के चुनावों के बाद सबसे अच्छे और निष्पक्ष थे। मैं यह भी मानता हूं कि उनका नया आदेश पूर्णयता कानून की सीमा में है। यद्यपि उनकी सूची में आए सभी राज्यसभा सदस्य (जैसे भुवनेश चतुर्वेदी) कानून का उल्लघंन करने वाले नहीं होंगे, अधिकांश तो हैं ही। वास्तव में

ये सदस्य और इनके प्रायोजक लोक-प्रतिनिधित्व कानून और भारतीय दंड संहिता के अंतर्गत दंडित किए जाने के योग्य हैं।

मध्यप्रदेश के लश्कर चुनाव-क्षेत्र के एक मतदाता ने भाजपा-अध्यक्ष लालकृष्ण आडवाणी के विरुद्ध इस बात को लेकर मुकदमा भी चलाया था। निचली अदालत में अभियोग दर्ज होने के बाद आडवाणी ने मध्यप्रदेश उच्च न्यायालय में अभियोग दाखिल करने की कार्रवाई को खारिज करवाने के लिए याचिका दायर की थी। उच्च न्यायालय ने न सिर्फ इसे नहीं माना बल्कि आडवाणी के प्रायोजक पर भारतीय दंड संहिता के अंतर्गत मुकदमा चलाने के निर्देश भी दिए। राज्यसभा की चुनाव प्रक्रिया के शुद्धीकरण के शेषन के नए अभियान का जनता में व्यापक स्वागत होगा। राज्यसभा के चुनावों में कानून के उल्लंघन के अभियोगी व्यक्तियों की संख्या बहुत छोटी है और सरकार की इच्छाशक्ति होगी तो कानून को आसानी से लागू किया जा सकता है। टी.एन. शेषन ने आवश्यक इच्छा-शक्ति दिखाई है और वे अपने नवीनतम आदेश का प्रवर्त्तन आसानी से सुनिश्चित कर सकते हैं। जहां तक पहले के मामलों में अभियोग चलाने का सवाल है, यह कर्त्तव्य स्थानीय प्रबुद्ध नागरिकों का है, जैसे मध्यप्रदेश के प्रबुद्ध मतदाता ने किया है। शेषन अपरिमित चुनाव-खर्च के सवाल को भी उठाना चाहते हैं, किंतु कानून के अभाव में वे ज्यादा कुछ कर नहीं सकते। भारत हर मामले में इटली से भी बुरी स्थिति में है। इटली में सर्वसाधारण जनता व्यापक भ्रष्टाचार और माफिया के खिलाफ उठ खड़ी हुई है। यदि शेषन भ्रष्ट राजनैतिक व्यवस्था को झकझोर सकें तो देश के सभी हितैषी समझेंगे कि उन्होंने लोकतंत्र के हित में बहुत बड़ी सेवा की है।

चुनाव प्रणाली में सुधार

तेरह जून को संसद का विशेष अधिवेशन बुलाया गया है। इसके समक्ष दो काम होंगे : एक तो संविधान में संशोधन और दूसरा लोक प्रतिनिधित्व अधिनियम 1950 और 1951 में संशोधन। संविधान संशोधन विधेयक में दो प्रमुख प्रावधान है : एक का संबंध 1991 की जनगणना के आधार पर निर्वाचन-क्षेत्रों में समायोजन करने से संबंधित है और दूसरा प्रावधान जो संभवतः अधिक महत्वपूर्ण है, तीन-सदस्यीय निर्वाचन आयोग की कार्यपद्धति के संबंध में है।

चुनाव कानून के संशोधन का जाहिरा उद्देश्य है कुछ चुनाव संबंधी 'सुधार'। मैंने 'जाहिरा' शब्द का प्रयोग और सुधार शब्द को उद्धरण-चिह्नों में साभिप्राय रखा

है। मुझे संदेह है कि विधेयक के सारे खंड चुनाव प्रणाली में सुधार करेंगे। वस्तुतः राज्यसभा-उम्मीदवारों के संबंध में रखी गयी इस पूर्व शर्त को कि वे सामान्यतया राज्य के निवासी हों, बदलने वाली धारा न सिर्फ प्रतिगामी है बल्कि इससे संघीय विधायिका का मुख्य आधार ही बदल जाएगा। संघीय संसद का वरिष्ठ सदन राज्यों का प्रतिनिधित्व करता है और उसके चयन का मूल आधार बदलने से संघीय व्यवस्था को नुकसान पहुंचेगा जो कि हमारे संविधान की मूल विशेषता है और जिसमें संधोधन नहीं किया जा सकता। यह बहुत खेदजनक है कि राजनीतिक दल बेशर्मी से राज्य में अनिवासियों द्वारा चुनाव-क्षेत्र बड़े पैमाने पर हथियाने वालों के लिए राज्यसभा के द्वार खोल रहे हैं।

इससे पहले विधि विभाग धर्म संबंधी विधेयकों के साथ खिलवाड़ कर चुका है, क्योंकि उसने इन विधेयकों को इन पहलुओं तक सीमित नहीं रखा, जैसे : (1) पार्टियों के सांप्रदायिक नाम, (2) सांप्रदायिक आधार पर सीमित सदस्यता, और (3) नीति, कार्यक्रमों, आम प्रचार तथा पार्टी की गतिविधियों द्वारा सांप्रदायिक घृणा का प्रचार। इस बार सरकार राज्यसभा के स्वरूप के साथ ही छेड़छाड़ कर रही है और इस तरह वह विधेयक का अस्वीकृत होना सुनिश्चित कर रही है।

मैं यहां मुख्य रूप से चुनाव से संबंधित अनुच्छेद 324 के संशोधन और अनुच्छेद 324 (क) के जोड़े की ही चर्चा करूंगा।

पहले मैं इस प्रश्न पर मुख्य चुनाव आयुक्त के विचारों का सारांश दूंगा। मैं स्पष्ट कर दूं कि मैं उन्हें चुनाव-प्रक्रिया की शुद्धता के हित में कई अच्छे काम करने का श्रेय दे सकता हूं। लेकिन वे अपने अहंकार और मनमाने तौर-तरीकों से अपने सारे अच्छे कामों पर पानी फेर रहे हैं। टी.एन. शेष का संक्षेप में तर्क है कि संविधान संसद को आयोग के भीतर की कार्यविधि तय करने का अधिकार नहीं देता। प्रस्तावित संशोधन में कहा गया है कि आयोग के काम का निर्णय तीन सदस्य एकराय से करेंगे। यदि आम सहमति नहीं होगी तो निर्णय बहुमत से किया जाएगा। शेषन का कहना है कि उन्होंने इसी पहलू को उच्चतम न्यायालय के समक्ष रखा है।

मुख्य चुनाव आयुक्त की सेवा-शर्तों का इस्तेमाल इस बात के लिए नहीं किया जा सकता कि आयोग के आंतरिक निर्णय कैसे लिए जाएं। यह मामला न्यायालय के विचाराधीन है। संसद संविधान के मूल ढांचे में परिवर्तन नहीं कर सकती है और प्रस्तावित संशोधन से स्वतंत्र और निष्पक्ष चुनाव का प्रावधान निरस्त हो जाएगा। मुख्य चुनाव आयुक्त के पास कार्यकारी विधायी न्यायिक शक्ति होनी चाहिए, लालकृष्ण आडवाणी ने शेषन के इस अहंकारपूर्ण दावे का समर्थन किया है। भाजपा ने मुलायम सिंह के संबंध में शेषन के फैसले का भी समर्थन किया था, जिसे अब उच्चतम न्यायालय ने निरस्त कर दिया है।

यहां मैं इस बात की ओर ध्यान आकृष्ट करना चाहता हूँ कि इन प्रश्नों पर पहले से ही उच्चतम न्यायालय का निर्णय मौजूद है। हालांकि मुझे डर है कि बहुत-से आम नागरिकों और कुछ जजों को भी इसका पता नहीं होगा। कुछ जजों की नजर में संविधान के पाठ, संसद के अधिनियमों और उनके अंतर्गत बने नियमों, राजनीतिक दलों की आचार-संहिता, ओल्ड टेस्टामेंट के प्रसिद्ध दस आदेशों और विनोवा भावे के ग्यारह व्रतों में (जिन्हें वे पूरी श्रद्धा और संकल्प से अपनाना चाहते थे) कोई भेद नहीं है। विनोवा जी का एक व्रत ब्रह्मचर्य है। यदि उपर्युक्त दस्तावेजों में कोई भेद नहीं है तो किसी जज को भी अपनी पत्नी के साथ सहवास के लिए कठघरे में खड़ा किया जा सकता है। उच्चतम नयायालय के मध्य 1991 के निर्णय का जिक्र करने से पहले मैं संक्षेप में प्रमुख राजनीतिक दलों के रवैये की चर्चा करना चाहता हूं। प्रधानमंत्री राजीव गांधी ने दिसंबर 1988 में बहुसदस्यीय आयोग का सख्त विरोध किया था। दूसरी ओर प्रमुख विपक्षी दलों ने प्रधानमंत्री, भारत के मुख्य न्यायाधीश और विपक्ष के नेता (उस समय कोई मान्य विपक्ष का नेता नहीं था) के साथ परामर्श करके बहुसदस्यीय आयोग बनाने का सुझाव दिया था। इस मांग का औचित्य उच्चतम न्यायालय के निर्णय के इन शब्दों में देखा जा सकता है : "इसमें संदेह नहीं कि एक के बजाय दो व्यक्ति बेहतर होंगे, विशेषकर चुनाव आयोग जैसी संस्था में जिसे महत्वपूर्ण काम सौंपे गये हैं और उन कामों को करने की अनियंत्रित शक्तियां दी गयी हैं। यह आवश्यक भी है और वांछनीय भी कि यह शक्तियां एक व्यक्ति द्वारा इस्तेमाल न की जाएं, भले ही वह व्यक्ति कितना ही बुद्धिमान हो।"

1989 में राजीव गांधी का मन बदला और उन्होंने बहुसदस्यीय आयोग बनाया। इसे विश्वनाथ प्रताप सिंह की सरकार ने 1 जनवरी, 1990 को समाप्त किया। अब यह बात विश्वनाथ प्रताप सिंह ही बता सकते हैं कि उन्होंने विपक्ष के नेता – जो उस समय मौजूद थे – और मुख्य न्यायाधीश से परामर्श किया था या नहीं, जैसा कि गैर-कांग्रेसी पार्टियों ने खुद ही सुझाव दिया था। एक बर्खास्त चुनाव आयुक्त उच्चतम न्यायालय में गये। प्रश्न था कि उस सूरत में क्या होगा जब बहुसदस्यीय आयोग निर्बाध रूप से या आम सहमति के आधार पर काम न कर सके। वास्तव में जैसा कि अनुच्छेद 100, 189 और 145 के शब्दों से स्पष्ट है, जब तक अन्यथा निर्धारित न हो, सभी प्रश्न सामान्य बहुमत से निर्णीत होते हैं। जब विशेष बहुमत जरूरी हो, केवल तभी संविधान में इसका उल्लेख किया जाता है अन्यथा सामान्य बहुमत से काम चलाया जाता है।

विधायी कार्यविधि से संबंधित अनुच्छेद 100 और 189 में कहा गया है कि सभी प्रश्नों का फैसला उपस्थित और वोट देने वाले सदस्यों के बहुमत से किया

जाएगा। संघीय न्यायपालिका से संबंधित अनुच्छेद 145 में भी उच्चतम न्यायालय के सभी फैसले बहुमत से करने की बात कही गयी है। मेरा विचार है कि उच्च न्यायालयों के अध्याय में इस तरह का स्पष्ट प्राबधान नहीं है। क्या इसीलिए कोई यह कह सकता है कि उच्च न्यायालयों के सभी फैसले साधारण बहुमत से नहीं, सर्वसम्मति से हों ? विधानमंडलों की तरह उच्चतम न्यायालयों के पास नियम बनाने की शक्तियां होती हैं। विधानमंडल इनके अलावा कानून भी बना सकते हैं। इंदिरा गांधी ने उच्चतम न्यायालयों के फैसलों के लिए विशेष बहुमत लागू करने की कोशिश की थी। लेकिन उसे मोरारजी देसाई की सरकार ने खत्म कर दिया था। अनुच्छेद 3 तो साधारण बहुमत से संविधान संशोधन की अनुमति भी देता है।

दूसरी ओर विधानमंडल अध्यक्षों को उस समय के सभी वर्तमान सदस्यों के बहुमत से ही हटाया जा सकता है, न कि उपस्थित और वोट देने वाले सदस्यों के बहुमत मात्र से, जैसाकि अनुच्छेद 94(3) और 189 (1) में स्पष्ट शब्दों में कहा गया है। उच्चतम न्यायालय और उच्च न्यायालयों के जजों को हटाने के लिए विशेष बहुमत का प्रावधान है। संविधान-संशोधन से संबंधित अनुच्छेद 368 में न केवल विशेष बहुमत की व्यवस्था है बल्कि कुछ अनुच्छेदों में आधे राज्यों की सहमति भी आवश्यक है। अनुच्छेद 324 में बहुसदस्यीय चुनाव आयोग की कार्यवाही के लिए विशेष बहुमत की व्यवस्था नहीं है। इसे चुनौती नहीं दी जा सकती।

यदि इसे चुनौती दी जाती है, तो संसद को हस्तक्षेप करना पड़ेगा। अनुच्छेद 324 के खंड (2) और (5) में 'संसद द्वारा बनाया गया कोई कानून' शब्द हैं। इसमें कहीं यह नहीं कहा गया है कि यह कानून चुनाव आयुक्तों की नियुक्ति के साथ-साथ या उससे पहले बना हो, फिर भी 'एस. एस. धनोआ बनाम भारत संघ तथा अन्य' में न्यायालय ने ये शब्द अनुच्छेद में पढ़ लिए हैं। कानून कौतुक के लिए नहीं बनाये जाते। उन्हें तभी बनाना पड़ता है जब वे लोग जिनसे सदाशयता और विवेकपूर्वक काम की उम्मीद की जाती है, ऐसा नहीं करते। उपर्युक्त फैसलों को लिखने वाले जज के लिए यह पूर्णतया अनुचित था कि उन्होंने संविधान में अपने शब्द और वाक्यांश पढ़े या अपने फैसलों में ऐसे हिस्से समाविष्ट किये, जिनका विषय से संबंध नहीं था, क्योंकि इनसे कई ऐसी स्थितियों में जिनका पूर्वानुमान नहीं लगाया जा सकता, गंभीर कठिनाई पैदा हो सकती है। बेहतर होगा यदि सर्वोच्च न्यायालय की संविधान पीठ मुख्य चुनाव आयुक्त और अन्य आयुक्तों को बुलाये और उनसे कहे कि वे आम सहमति का तरीका ढूंढ़ें। केवल असाधारण मामलों में ही चुनाव आयोग के फैसले बहुमत से हों। आम सहमति से काम करने का यह तरीका आम समझबूझ का सरल तरीका है जैसाकि न्यायमूर्ति सावंत के उपर्युक्त फैसले के दूसरे अंश में जोर देकर कहा गया है।

इस स्थिति में उच्चतम न्यायालय पर भारी जिम्मेदारी आती है। न्यायिक स्वाधीनता के प्रबल पक्षधर के रूप में जजों का मैं बहुत सम्मान करता हूं। किंतु अनिश्चित व्यवहार तथा जल्दबाजी के निर्णय सम्मान में कमी लाते हैं। एक दिन वे शेषन की खिंचाई करते हैं, दूसरे दिन आंध्रप्रदेश के मुख्यमंत्री की आलोचना करते हैं। दोनों कहते हैं कि हमने ऐसा कहा ही नहीं। जनता भ्रम-ग्रसित होती है। मुझे डर है कि इस व्यापक भ्रम में स्वतंत्र और निष्पक्ष चुनावों की हानि होगी, क्योंकि सरकार के इरादे भी साफ नहीं हैं; वह चुनाव-प्रक्रिया को अपने नियंत्रण में रखना चाहती है। यदि ऐसा करना संभव हो तो भी इसकी अनुमति नहीं दी जानी चाहिए।

चुनाव आयोग और हमारा संविधान

हमारा संविधान एक विस्तृत दस्तावेज है। इसमें हर बात स्पष्ट रूप से रखी गई है। इसमें किसी भी संस्था को असीमित और निरपेक्ष अधिकार नहीं दिए गए हैं। निस्संदेह अज्ञानी और स्वार्थी लोग बिना सोचे संप्रभुता की बात करते हैं। कुछ कहते हैं कि संसद सबसे ऊपर यानी प्रभुसत्तासंपन्न है। कुछ मंत्रिमंडल को सर्वोपरि कहते हैं। कुछ वकील भी ऐसे हैं जिनके लिए मुकदमेबाजी सोने की खान है और वे कहते हैं कि न्यायपालिका अंतिम निर्णायक है और इसकी व्याख्या तथा समीक्षा के अधिकारों की कोई सीमा नहीं है। यह सब नितांत अनर्गल बातें हैं। लोकतंत्र में जनता – 18 साल और उससे अधिक आयु के मतदाता – ही वस्तुतः सर्वोच्च सत्ता हैं। संविधान हमारी संप्रभु जनता की इच्छा का साकार रूप है। यह ऐसा संविधान है जिसके अंतर्गत ही प्राधिकारी संस्था के पास सीमित शक्तियां और सीमित क्षेत्राधिकार हैं।

संविधान ने अनेक बहुसदस्यीय संस्थाएं बनाई हैं। वे सामूहिक संस्थाएं हैं। उनसे आम सहमति के आधार पर काम करने की उम्मीद की जाती है। आम सहमति विचार-विमर्श के रास्ते प्राप्त की जाती है। लोकतांत्रिक ढंग से काम करने की शैली समझाने-बुझाने की क्षमताओं को बहुत महत्त्व देती है। प्रमुख अधिकारी द्वारा जोर-जबर्दस्ती की इसमें गुंजाइश ही नहीं है। वह अपने सहयोगियों पर अपनी इच्छा नहीं लाद सकता।

सबसे महत्वपूर्ण बहुसदस्यीय संस्था मंत्रिमंडल है। उसके बाद उच्चतम न्यायालय और विभिन्न उच्च न्यायालय आते हैं। फिर राज्यों और संघ के लोकसेवा आयोग हैं। इसके अतिरिक्त चुनाव आयोग है जिसे चुनाव प्रक्रिया की निगरानी,

निर्देशन और नियंत्रण का अधिकार हैं।

ये सभी संस्थाएं सामूहिक संस्थाएं हैं। इन सबके प्रमुख होते हैं, किन्तु इन सब संस्थाओं की शक्तियां तथा कार्य-शैली और इनके प्रमुखों की भूमिका एक-जैसी नहीं है।

मंत्रिमंडल राजनीतिक कार्यपालिका होती है। यह सबसे शक्तिशाली संस्था है। किंतु यह केंद्र और राज्य की सीधी चुनी गई विधायिकाओं के आगे जवाबदेह है। केंद्रीय मंत्रिमंडल का प्रमुख प्रधानमंत्री होता है। मंत्रिमंडल राष्ट्रपति को सहायता और सलाह देता है और यह राष्ट्रपति के कार्यों के लिए बाध्यकारी होता है। प्रधानमंत्री की नियुक्ति राष्ट्रपति करता है किंतु दूसरे सभी मंत्री राष्ट्रपति द्वारा प्रधानमंत्री की सलाह पर नियुक्त किये जाते हैं। मंत्री राष्ट्रपति के प्रसाद के दौरान अपने पद पर बने रहते हैं और एक नौसिखिया भी जानता हैं कि इसका मतलब होता है प्रधानमंत्री के प्रसाद के दौरान। प्रधानमंत्री उनसे इस्तीफा मांग सकता है और यदि वे इस्तीफा नहीं देते तो राष्ट्रपति उन्हें बर्खास्त कर देगा। (अनुच्छेद 75)।

उच्चतम न्यायालय को लें। इसमें एक मुख्य न्यायाधीश और कानून द्वारा निर्धारित संख्या में अन्य न्यायाधीश होते हैं। काम के आधिक्य के कारण जजों की संख्या बढ़ाई गयी है। इस समय अधिकतम संख्या 25 रखी गई है। यह निर्धारण 1986 के अधिनियम 22 के द्वारा हुआ था।

उल्लेखनीय है कि ये जज (क) मुख्य न्यायाधीश की सलाह पर नियुक्त नहीं होते और न ही (ख) उन्हें मुख्य न्यायाधीश की सलाह से हटाया जा सकता है। मैं यह बात जोर देकर कहना चाहता हूं कि उच्चतम न्यायालय चाहे जो फैसला दे, वह अनुच्छेद 124 को अनुच्छेद 75 में नहीं बदल सकता है। मुख्य न्यायाधीश की सर्वोपरि स्थिति की बात करने का कोई लाभ नहीं है। उनके ऊपर प्रशासनिक दायित्व हैं। ये दायित्व महत्वपूर्ण हैं। यदि वह बहुमत निर्णय के एक सदस्य हैं तो वह मुख्य फैसला सुनाने का काम अपनी पसंद के किसी जज को सौंप सकते हैं। जजों की नियुक्ति के मामले में राष्ट्रपति उनसे और उच्चतम न्यायपालिका के ऐसे अन्य जजों से जिन्हें राष्ट्रपति आवश्यक समझें, परामर्श कर सकते हैं। मुख्य न्यायाधीश को छोड़ अन्य जजों की नियुक्ति के संबंध में वर्तमान न्यायाधीश से "हमेशा परामर्श किया जाएगा।" किंतु यह बात स्पष्ट है कि मुख्य न्यायाधीश अपना उत्तराधिकारी नामजद नहीं कर सकता। सेवानिवृत्त होने वाला प्रधानमंत्री, जो राजनैतिक कार्यपालिका-प्रमुख होता है, राष्ट्रपति पर यह जोर नहीं डाल सकता है कि उसका उत्तराधिकारी कौन हो। राष्ट्रपति अपनी इच्छा से उनसे सलाह ले सकता है। वह सेवानिवृत्त होने वाले प्रधानमंत्री की इच्छा को पूर्णतया नजरअंदाज भी कर

सकता है। राष्ट्रपति केवल इस बात पर विचार करेगा कि क्या उसके द्वारा चुने गए नए प्रधानमंत्री को लोकसभा का विश्वास प्राप्त होगा। कोई समस्या खड़ी न हो, इस दृष्टि से वह नए प्रघानमंत्री को पद की शपथ दिलाने के बाद कहता है कि वह सदन का विश्वास प्राप्त करे। ऐसा तीन बार हुआ है और पूर्ण बहुमत वाले निर्वाचित नेता के न होने पर इसे सुस्थापित परंपरा माना जा सकता है। जज ढेरों पत्रों में अपने फैसले दे सकते हैं किंतु कोई फैसला संविधान के शब्दों को नहीं बदल सकता और कोई बात मुझे आश्वस्त नहीं कर सकती कि उच्चतम न्यायालय के मुख्य न्यायाधीश की वही स्थिति है जो प्रधानमंत्री की है। जजों को हटाने से संबद्ध अनुच्छेद 114 (4) में मुख्य न्यायाधीश और अन्य न्यायाधीशों के बीच भेद नहीं किया गया है। यदि मुख्य न्यायाधीश की मृत्यु हो जाती है या वह सेवानिवृत्त हो जाता है तो अन्य न्यायाधीशों को भी पद नहीं छोड़ना पड़ता जैसाकि मंत्रिमंडल के सदस्यों को प्रधानमंत्री के हटने पर छोड़ना पड़ता है।

संघ लोक सेवा आयोग भी बहुसदस्यीय संस्था है। इसके अध्यक्ष की कुछ प्रशासनिक जिम्मेदारियां हैं जो उसे निभानी पड़ती हैं। अगर सदस्य का कोई पद खाली होता है तो अध्यक्ष किसी भी अन्य सदस्य को उसका काम करने के लिए कह सकता है। संघ लोक सेवा आयोग का अध्यक्ष भी प्रधानमंत्री की तरह नहीं होता है। उसकी मृत्यु या त्यागपत्र पर दूसरे सदस्यों का पद समाप्त नहीं होता।

अब चुनाव आयोग को लें। इसका एक-सदस्यीय होना कानून की दृष्टि में आवश्यक नहीं है। अनुच्छेद 324 (2) आदेश देता है कि "निर्वाचन आयोग मुख्य निर्वाचन आयुक्त तथा, यदि कोई हों तो, अन्य उतने निर्चाचन आयुक्तों से, जितने कि राष्ट्रपति समय-समय पर नियत करे, मिलकर बनेगा।" निस्संदेह, संसद इस संबंध में कानून बना सकती है। अब कुछ संबंधित बातों को ध्यान में रखा जाना चाहिए। प्रधानमंत्री पद से भिन्न, अन्य निर्वाचन आयुक्तों की नियुक्ति मुख्य निर्वाचन आयुक्त की सलाह से नहीं की जाती है और न ही वह राष्ट्रपति से उन्हें हटाने के लिए कह सकता है। लेकिन राष्ट्रपति, जो औपचारिक राजनैतिक कार्यपालक होता है, निर्वाचन आयुक्त को इस बिना पर नहीं हटा सकता है कि उसने ऐसा काम किया है जो शासक दल को पसंद नहीं है किंतु जो उसकी दृष्टि में चुनाव-प्रक्रिया की शुद्धता बनाए रखने के लिए आवश्यक है। अतः निर्वाचन आयुक्तों की बर्खास्तगी मुख्य निर्वाचन आयुक्त की सिफारिश पर सशर्त है। इससे मुख्य निर्वाचन आयुक्त को किसी भी तरह तानाशाह नहीं कहा जा सकता है। वह अपने नैमित्तिक प्रशासनिक काम अपनी जिम्मेदारी पर कर सकता हैं, किंतु नीति संबंधी सभी महत्वपूर्ण मामलों में उसे आयोग के अन्य सदस्यों को अपने साथ लेना होगा। समितियों में सामान्य नियम –और बहुत अच्छा नियम भी –यह है कि आम

सहमति के आधार पर काम किया जाए। संसद की सभी सांविधिक समितियां –लोक लेखा समिति, प्राक्कलन समिति और लोक उपक्रम समिति– इसी आधार पर काम करती हैं। मुख्य निर्वाचन आयुक्त यदि अपने पद के योग्य है तो नेतृत्व और मार्गदर्शन प्रदान करेगा और बहुसदस्यीय आयोग को अपने साथ ले जाएगा। जब समझौते और आम सहमति के प्रयास विफल हों तभी मतदान का सहारा लिया जाएगा। यह व्यावहारिक समझदारी है। टी. एन शेषन कुछ बहुत अच्छे काम कर रहे हैं। किंतु उनकी आत्म-प्रदर्शनपूर्ण, अनिश्चित और एकाधिकारवादी प्रवृत्तियों को प्रोत्साहन नहीं दिया जा सकता।

यदि वे अपने मनमाने तौर-तरीके नहीं बदलेंगे तो संसद और न्यायालयों को हस्तक्षेप करना पड़ेगा। उन्हें संसद की वर्तमान अस्थिर स्थिति का फायदा नहीं उठाना चाहिए। उन्होंने इंदिरा गांधी और राजीव गांधी के शासन में स्वतंत्रता का विशेष परिचय नहीं दिया था। वे जानते थे कि यदि वे ऐसा करते तो उन्हें बाहर कर दिया जाता।

राज्यसभा के चुनाव-क्षेत्र हथियाने वालों के प्रति भी उनका रवैया निष्पक्ष नहीं रहा है। वे मनमोहन सिंह को ही लक्ष्य क्यों बना रहे हैं? उन्हें अपने प्रादेशिक निर्वाचन आयुक्तों से कहना चाहिए कि वे एस. आर. बोम्मई, इंद्रकुमार गुजराल, भाजपा के राजगोपाल और विष्णुकांत शास्त्री और कांग्रेस के भारद्वाज तथा दिनेश सिंह के खिलाफ भी कार्रवाई करें। उनके ऐसा न करने पर मैं उन्हें गंदी राजनीति खेलने या द्वेष की भावना से काम करने के आरोप से बरी नहीं कर सकता।

इस संबध में दिए गए उच्चतम न्यायालय के एकमात्र फैसले में बहुसदस्यीय निर्वाचन आयोग की कार्यशैली के प्रश्न पर विचार किया गया है। न्यायमूर्ति सावंत के फैसले की कुछ बातें, विशेषकर चुनाव आयोग और मंत्रिमंडल की तुलना, मानने योग्य नहीं हैं। तथापि, फैसले के प्रवर्तनीय भाग में संस्था की कार्यशैली के संबंध में आमतौर पर इस नियम को माना गया है कि जब तक स्पष्ट विपरीत प्रावधान न हो, इसके काम सर्वसम्मति से हों। इससे भिन्न नियम–जैसे बहुमत से निर्णय का नियम– में स्पष्ट रूप से कहा जाए कि बहुमत कैसा हो–साधारण बहुमत हो, विशेष बहुमत हो या उपस्थित और मत देने वाले सदस्यों का हो, आदि। चुनाव आयोग जैसी संस्था के मामले में जो केवल सलाहकार संस्था ही नहीं, कार्यकारी संस्था भी है, सभी मामलों में सर्वसम्मत निर्णयों पर जोर देकर काम नहीं चलाया जा सकता। अतः यथार्थवादी दृष्टि का तकाजा है कि या तो निर्वाचन आयुक्तों की नियुक्ति के पूर्व या उसके साथ-साथ कानून या नियम में कार्यविधि निर्धारित हो या ऐसी कार्यविधि के अभाव में निर्वाचन-आयुक्तों की नियुक्ति न की जाए। मेरा विचार है कि नए कानून में उच्चतम न्यायालय के उपर्युक्त मार्गदर्शन को अपनाया जाना चाहिए।

संसद का 'विशेष अधिवेशन' नाटक

तथाकथित दो चुनाव सुधार विधेयकों पर विचार के लिए संसद का विशेष अधिवेशन बुलाये जाने से काफी पहले मैंने कहा था कि संशोधन विधेयकों को वर्तमान रूप में पास कराने का यह प्रयास विफल होगा। मैं जानता था : (क) सरकार इन्हें पास कराने के लिए वस्तुतः उत्सुक ही नहीं है, क्योंकि वर्तमान स्थिति उसके दीर्घकालीन हितों के लिए अच्छी है, (ख) विपक्ष बुरी तरह विभाजित है और सबसे बड़ी विपक्षी पार्टी भाजपा और माकपा में विधेयकों के मुद्दों पर सहमति की कोई गुंजाइश ही नहीं है, और (ग) जनता दल– जिसकी स्थिति अत्यंत महत्वपूर्ण है (उसके 98 वोट लोकसभा में और 28 राज्यसभा में थे) – बिलकुल अस्तव्यस्त हालत में है। निस्संदेह इसके कुछ प्रवक्ताओं को विद्याचरण शुक्ल ने अपनी जेब में डाल रखा था और कुछ को तो खरीद ही लिया था, किंतु काफी बड़ा ग्रुप ऐसे सदस्यों का था जिन्हें इन विधेयकों के समर्थन में कोई लाभ नहीं दिखता था। जनता दल अनवरत क्षोभ की स्थिति में था–एक तो टीएन शेषन के नये दोस्त जार्ज फर्नांडिस के इन विधेयकों के प्रति घोर विरोधी रुख के कारण और दूसरे विश्वनाथ प्रताप सिंह में निर्णायक नेतृत्व की अक्षमता के कारण। उन्होंने विधेयकों का तर्कपूर्ण विश्लेषण नहीं किया और न ही ऐसे संशोधन तैयार किये जो जनता के अल्पकालिक और दीर्घकालिक हितों के लिए लाभदायक हो सकते थे। लालू-विरोधी ताकतें–जनता पार्टी और भाकपा, जिसकी बिहार इकाई सबसे मजबूत है और जो लालू के लगातार हमलों का शिकार रही है–विधेयकों को विफल करने के लिए कृतसंकल्प थी। एन. टी. रामाराव ने घोषणा की थी कि तेलुगूदेशम मुख्य चुनाव आयुक्त के पर काटने के सारे प्रयासों को सफल नहीं होने देगी। इस समय टीएन शेषन 'कांग्रेस से स्वतंत्र' काम कर रहे हैं, अतः तेलुगूदेशम संसद में विधेयकों का विरोध करेगी। नये कृष्णावतार लालू यादव को हाल ही धूल चटानेवाली लवली सिंह ने भी शेषन की प्रशंसा की है। वास्तव में इन सब ताकतों को अपना रवैया बनाने में बहुत मेहनत नहीं करनी पड़ी। प्रधानमंत्री और शासक दल का असली इरादा क्या है, इसका आभास 'हिन्दुस्तान टाइम्स' में राजनीतिक संपादक की बाक्स में छपी टिप्पणी में मिल गया था। जो लोग इस राजनीतिक संपादक के व्यक्तित्व को जानते हैं उनके मन में कतई संदेह नहीं था कि यह विशेष अधिवेशन निरा नाटक है–यद्यपि अधिकांश समाचारपत्र कालम पर कालम भरे जा रहे थे कि इन विधेयकों पर आम सहमति बन जायेगी और ये संसद के दोनों सदनों में पास हो जायेंगे।

अंत में सारा प्रयास टांय-टांय फिस हो गया। किंतु इससे यह निष्कर्ष

निकालना गलत होगा कि कांग्रेस की प्रतिष्ठा को इससे बड़ा धक्का लगा है तथा भाजपा की जीत हुई है। न ही यह कहा जा सकता है कि समग्र विपक्ष को, विशेषकर धर्म-निरपेक्ष को, स्वतंत्र और निष्पक्ष चुनाव के संबंध में कोई दीर्घकालिक लाभ हुआ है।

विधेयकों की विफलता के संदर्भ में एक समाचारपत्र ने लिखा कि प्रधानमंत्री पीवी नरसिम्हाराव का बुलबुला 48 घंटों के भीतर फूट गया। अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी के अधिवेशन में अपनी सर्वोच्च स्थिति का सबूत देनेवाले नरसिम्हाराव सुप्रसिद्ध कहानी के 'निर्वस्त्र' राजा बन गये। उनके नेतृत्व के संबंध में लोगों के मन में जो संदेह थे वे सब सतह पर आ गये हैं। वस्तुतः इस तरह की कोई बात नहीं हुई है। इसके विपरीत भाकपा और माकपा की लड़ाई खुलकर सामने आयी है। भाकपा ने एक प्रकार से हरकिशन सिंह सुरजीत को चेतावनी दी है कि वे यह मानकर न चलें कि हमारा सहयोग हर मुद्दे पर मिलेगा ही। इसका मतलब यह हुआ कि भाकपा विधेयकों पर वामपंथी एकता का छद्मावरण बनाये रखने की अपेक्षा लालू की चुनाव धांधली और मतदान केंद्रों पर कब्जों की संभावना से अपने आधार की रक्षा करने को ज्यादा महत्व देती है।

जहां तक जनता दल का संबंध है, वह विशेष अधिवेशन से पहले की तुलना में अब अधिक अस्तव्यस्त हालत में है। यह नये अध्यक्ष के बारे में निर्णय करने में भी असमर्थ है। विश्वनाथ प्रताप सिंह किसी मामले में दिशा-निर्देश नहीं दे सकते। उनकी वोट प्राप्त करने की क्षमता–जिसे समाचारपत्रों ने गढ़ा था–पिछले वर्ष उत्तर प्रदेश विधानसभा के चुनावों में और हाल ही वैशाली के उपचुनाव में बेपर्द हो गयी है। जनता दल के सांसद क्रय की वस्तु बन गये हैं। जद अब परमाणु विस्फोटक का ढेर बन गया है।

माकपा को निश्चय ही बहुत निराशा हुई है। पश्चिम बंगाल के मुख्यमंत्री प्रधानमंत्री से भयभीत होकर अपील कर रहे हैं कि वे शेषन के इस वक्तव्य के बारे में कुछ करें जिसमें उन्होंने कहा है कि यदि पश्चिम बंगाल की सरकार मतदाताओं के पहचानपत्रों संबंधी आदेश का पालन नहीं करेगी, तो वे घोषणा करेंगे कि राज्य में संवैधानिक व्यवस्था भंग हो गयी है।

भाजपा चुनाव सुधार विधेयक के संबंध में सरकार की फजीहत से बहुत खुश है। भाजपा की मुख्य आपत्ति बहुसदस्यीय आयोग के प्रावधान के संबंध में नहीं थी। उस प्रावधान के बारे में तो वह बहुत खुश थी जिसमें राज्य से बाहर के लोगों को भी राज्यसभा का उम्मीदवार बनने की छूट दी जा रही थी। भाजपा बाहर के कार्यकर्ताओं के बल पर चुनाव-क्षेत्र हथियानेवालों की सबसे बड़ी पार्टी है और कांग्रेस भी इस मामले में बहुत आगे है। उसका मुख्य विरोध धारा 29 ख (1) से

शर्त, धार्मिकत्व, के अर्थ में कर रहा हूँ।

छात्र के रूप में मैंने 1937 में कांग्रेस का चुनाव-अभियान देखा था। 1946 में मैंने इसमें सक्रिय भाग लिया था। इस अभियान का केन्द्र-बिंदु धन की शक्ति नहीं था। बाहु-बल उस समय था ही नहीं। उसकी शक्ति होती थी जनता की निष्ठा जो त्याग और सेवा के महान उदाहरण पेश करके अर्जित की जाती थी। इसमें साधारण कार्यकर्ता और स्वयंसेवक पर पूरा भरोसा किया जाता था। कांग्रेस के चुनाव-अभियान में आदर्शवाद के तत्व का ह्रास आजादी के बाद तेजी से होने लगा। लेकिन समाजवादी पार्टी, कम्युनिस्ट पार्टी तथा शुरू के जनसंघ जैसी विचारधारा-अभिमुख पार्टियों में यह अब भी काफी शक्तिशाली था। मुक्त उद्यम मंच (फोरम आफ फ्री एंटरप्राइज) की राजनीतिक अभिव्यक्ति स्वतंत्र पार्टी ने, जो जमींदारों और सामंतों पर बहुत निर्भर थी, 1962-67 के बीच धन के तत्व का राजनीति में समावेश किया। छोटा व्यापारी तबका हिंदीभाषी क्षेत्रों में जनसंघ का प्रबल समर्थक था और उसने उसे 1966 में गोवध-विरोधी आंदोलन के लिए तथा 1967 में चुनावों के लिए काफी धन दिया था। किंतु अधिकांश बड़े व्यापारी और उद्योगपति कांग्रेस ही को अपना समर्थन देते रहे। कंपनी-चंदों का बड़ा भाग कांग्रेस को ही मिलता था जैसाकि संसद में रखे गए आंकड़ों से प्रमाणित हुआ था। तथापि कांग्रेस की चुनाव-निधि मुख्य रूप से कंपनी-चंदों पर निर्भर नहीं थी। लाइसेंस-परमिट-कोटा राज ने समांतर अर्थव्यवस्था का विस्तार करने में बड़ी मदद की थी और इस काले धन ने कांग्रेस के लिए अधिकांश चुनाव-निधि का काम किया।

एम.ओ. मथाई ने लिखा है कि जवाहरलाल नेहरू की व्यापारियों और उद्योगपतियों के तबके से पटरी नहीं बैठती थी। वे उनके 'हिसाब-किताब और कलाविहीन तौर-तरीकों से' बचते थे। उनकी दृष्टि में वे सामाजिक दृष्टि से 'अछूत' थे। नेहरू इस तरह का बड़प्पन का रुख अपना सकते थे क्योंकि कांग्रेस पार्टी की वित्त-व्यवस्था देखने के लिए चुनाव-विशेषज्ञ सरदार पटेल जिंदा थे। पुराने नेता इस संबंध में जो कुछ करते थे उसमें उनका अपने को धनी बनाने का कोई इरादा नहीं होता था। अतः उनकी छवि निष्कलंक रही। किंतु 1951 में नेहरू खुद कांग्रेस के अध्यक्ष बने। उन्हें चुनाव-निधि की तरफ ध्यान देना पड़ा। नेहरू ने घनश्याम दास बिड़ला को जनवरी, 1952 को यह पत्र लिखा : "जहाँ तक अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी का संबंध है, हमने यह चुनाव-अभियान कम से कम खर्च में चलाया है, पहले से भी बहुत कम खर्च में, फिर भी पैसे की मांग काफी अधिक है। प्रधानमंत्री आदि के रूप में अपनी विशेष स्थिति को देखते हुए, मेरा चंदे के लिए व्यक्तिगत अपील करना वांछनीय नहीं होगा। यद्यपि कांग्रेस के नाते मैंने एक साधारण अपील जारी की थी। मैं आभारी हूंगा यदि आप अपना योगदान केंद्रीय निधि को भेज दें।

कृपया यह चंदा अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी के महासचिव लालबहादुर शास्त्री को 7 जंतर-मंतर रोड, नई दिल्ली के पते पर भेज दें।"

यह पत्र लोहिया के दिनों में प्रकाश में नहीं आया था। अगर उन्हें इसका पता चल जाता तो कोई भी अनुमान लगा सकता है कि उन्होंने चुनाव-निधि जमा करने के लिए नेहरू द्वारा अपने पद के दुरुपयोग पर उन्हें कठघरे में खड़ा किया होता। एम.ओ. मथाई ने लिखा है कि 1957 में कुल 25 लाख रुपये इकट्ठे किए गए। यह बड़ी राशि कंपनी-चंदों से नहीं आई थी। इससे सिद्ध होता है कि नेहरू के संबंध में मथाई द्वारा ऊपर व्यक्त किए गए विचार झूठ पर आधारित हैं। तथापि स्थिति अभी काबू से बाहर नहीं हुई थी। चुनाव-खर्च अब भी कम था हालांकि होड़ में किया जाने वाला खर्च, तड़क-भड़क और फिजूलखर्ची चुनाव-निधि प्रणाली में प्रवेश करने लगी थी। इतना होने पर भी राजनैतिक दलों और उम्मीदवारों की चुनाव-निधि की मांग असीमित नहीं होती थी। भारी चुनाव-खर्च की पहली घटना थी 1961 में उड़ीसा विधानसभा का मध्यावधि चुनाव। कांग्रेस का झंडा लहराने वाले बीजू पटनायक ने 140 चुनाव-क्षेत्रों के लिए 140 जीपें प्राप्त कीं और 40 लाख रुपये चुनाव में खर्च किए। बीजू ने चुनाव जीता। बाद में एक बयान में उन्होंने कहा कि अगर उनके पास दो-तीन करोड़ रुपये हों तो वे भारत के प्रधानमंत्री बन सकते हैं। उनके इस बयान पर बड़ा बावेला मचा। आज 'इतनी मामूली रकम' के खर्च पर कोई हँसेगा। गत तीन दशकों में आम लोगों के परिप्रेक्ष्य और साधारण रवैये में जो परिवर्तन आया है उस पर प्रकाश डालने के लिए एक उदाहरण देना जरूरी है। 1957 के आम चुनावों के मौके पर केशवदेव मालवीय के पास विधानसभा का एक उम्मीदवार मदद के लिए आया। उन्होंने उसे सिराजुद्दीन कंपनी के पास भेजा और कंपनी ने उस उम्मीदवार को 10 हजार रुपये दिए। मालवीय पर यह आरोप लगा कि उन्होंने सिराजुद्दीन कंपनी को कुछ मशीनें आयात करने की अनुमति दी थी और कंपनी ने उसके बदले में यह चंदा दिया। उस समय इसे बहुत शर्मनाक माना गया। अब बोफोर्स कांड और प्रतिभूति घोटाले के बाद इस तरह के आरोप को अत्यंत नगण्य माना जाएगा।

चुनाव-खर्च में वृद्धि का सबसे बड़ा कारण रहा है लोकसभा और विधानसभा के चुनावों को अलग करना। 1962 तक राजनैतिक कार्यकर्ताओं की रुचि का मुख्य केन्द्र-बिंदु था विधानसभा के चुनाव। कभी-कभी मतदाताओं को लोकसभा के उम्मीदवारों के नाम की भी जानकारी नहीं होती थी। विधानसभा के उम्मीदवार और उनके चुनाव-प्रचार संगठन ही मतदाताओं को गोलबंद करते थे। संसद के उम्मीदवारों का खर्च नगण्य होता था।

मैंने 1964 में संसद का चुनाव मुंगेर (बिहार) से लड़ा था। मेरे पास एक भी

जीप नहीं थी। मेरे चुनाव-एजेंट को किराये पर एक ऐंबेसडर कार दी गई थी। मेरे लिए, मेरे पूना के एक दोस्त ने अपनी प्लाइमथ कार भेजी। यद्यपि यह कार अच्छी हालत में थी, मुझे रास्ते खराव होने के कारण दूर-दूर तक जनसभाओं में पैदल ही जाना पड़ता था। मेरा चुनाव-खर्च सीमा से काफी नीचे रहा। समाजवादियों को कोई पैसा देने को तैयार नहीं होता था। छोटे-छोटे चंदों से ही काम चलाया गया। राजनारायण ने पैदल और साइकिल पर मेरा प्रचार किया और जार्ज फर्नांडिस तथा कर्पूरी ठाकुर तो पैदल ही घूमते रहे।

1967 का चुनाव आखिरी स्वतंत्र, निष्पक्ष और कम खर्चे का चुनाव था। तव मेरे साथ छः विधानसभा सीटों के उम्मीदवार भी चुनाव लड़ रहे थे। अतः मेरा खर्च 1964 से भी कम हुआ जब मैं अकेला चुनाव लड़ रहा था। इस पर भी मैं 96500 मतों से जीता जो उस समय बिहार में सवसे वड़ा वोटों का अंतर था। मेरे छः विधानसभा के साथी भी जीत गए।

लोकसभा और विधानसभा के चुनावों को अलग करना विपत्ति सिद्ध हुआ है। इससे चुनाव-खर्च आसमान छूने लगा। स्वयंसेवकों का वर्ग खत्म हो गया। (इसका एकमात्र अपवाद 1977 के चुनाव थे।) अब तो हर चीज भाड़े पर मिलती है : जन-सम्पर्क करनेवाले, रणनीति बनानेवाले, प्रचार करनेवाले। पोस्टरों का तो युद्ध ही होने लगा है। अब वीडियो और स्टार टी.वी. आदि का भी इस्तेमाल होने लगा है। अधिकांश चुनाव-क्षेत्रों में वाहनों की संख्या अकल्पनीय हो गई है। आज के पैमाने से 1961 में बीजू पटनायक द्वारा किया गया प्रदर्शन बिल्कुल बचकाना तथा हास्यास्पद रूप से सस्ता लगता है।

इस स्थिति का क्या उपाय है ? क्या चुनाव के लिए सरकारी धन की व्यवस्था ? नहीं। राजनैतिक दलों के लोकतंत्रीकरण, समांतर अर्थप्रणाली के आकार में भारी कमी और सार्वजनिक जीवन के अपराधीकरण के विरुद्ध जबर्दस्त अभियान के बिना राज्य द्वारा चुनाव-खर्च करने की व्यवस्था केवल चुनाव-खर्च को बढ़ाएगी। बड़ी पार्टियां कंपनी-चंदे भी लेंगी (जो 1985 से वैध हो गया है), उत्पादन-प्रक्रिया से बना काला धन भी लेंगी, तस्करों, नशीली दवाओं का धंधा करनेवालों और माफिया गिरोहों से अवैध धन भी लेंगी और इन सबके साथ-साथ सरकारी खजाने का पैसा भी हड़पेंगी। यह तो सर्वनाश का रास्ता है।

भारत में सारा साल चुनाव होते रहते हैं। कोई समय खाली नहीं जाता। मेरे सुझाव निम्नलिखित हैं : सभी प्रतिनिधि संस्थाओं का कार्यकाल पांच साल का हो। हर पांच साल बाद मार्च महीने के पहले सोमवार को देश में पंचायत, मंडल, जिला परिषद, राज्य विधानसभा और लोकसभा के लिए चुनाव हों। यदि ऐसा हो गया तो सरकार, पार्टियों तथा उम्मीदवारों का चुनाव-खर्च बहुत कम हो जाएगा। पार्टियां

विभिन्न प्रतिनिधि संस्थाओं के लिए अपने कार्यकर्त्ताओं को प्रशिक्षित कर सकेंगी। प्रशासन का ध्यान लगातार चुनावों से हटकर विकास की बाधाएं दूर करने, कानून-व्यवस्था की स्थिति सुधारने और लोक-कल्याण के कामों में लगेगा।

सरकारों और पार्टियों की स्थिरता के लिए कुछ उपाय किए जा सकते हैं। किंतु यह अलग विषय है, हालांकि रोचक विषय है।

यह अभागा चुनाव-सुधार विधेयक

चुनाव-सुधार विधेयक के संबंध में, जो इस समय गृह मंत्रालय की स्थायी समिति के विचाराधीन है, बहुत-सी गलत जानकारियां प्रसिद्ध पत्र-पत्रिकाओं में दी जा रही हैं। इस भ्रांति का एक कारण तो यह है कि सरकार अपना रवैया लगातार बदलती रही है और वह संविधान संशोधन विधेयकों तथा 1950 और 1951 के लोक प्रतिनिधित्व अधिनियमों में संशोधन करनेवाले विधेयकों को जल्दबाजी में संसद में रखती और वापस लेती रही है। पिछला विधेयक उसने 13 जून, 1994 को लोकसभा में रखा। वापस लिए गए विधेयक में एक खंड राज्यसभा की सदस्यता की उस योग्यता को हटाने के लिए था जो 1951 के अधिनियम की धारा 3 में रखी गई थी। इसमें कहा गया था कि कोई व्यक्ति राज्यसभा में किसी राज्य या संघशासित क्षेत्र के प्रतिनिधि के रूप में नहीं चुना जा सकेगा यदि वह उस राज्य या संघशासित क्षेत्र के संसदीय चुनाव क्षेत्र का मतदाता नहीं होगा। प्रस्तावित संशोधन का उद्देश्य अत्यंत अनिष्टकर था, जिसकी सहायता से बाहर के लोग राज्यसभा की सीटें हथिया सकते थे, जैसे बोम्मई, मनमोहन सिंह, दिनेश सिंह, इन्द्रकुमार गुजराल, राजगोपालन और विष्णुकांत शास्त्री आदि ने हथियाई हैं। इस खंड का विरोध माकपा ने किया जो सीटें हथियाने के इस कृत्य से बची हुई है और सरकार ने निश्चय किया कि वह इस प्रावधान को नये विधेयक में शामिल नहीं करेगी।

इस समय संसद के विचाराधीन जो विधेयक है वह व्यापक नहीं है। इसका उद्देश्य सीमित है। इसमें सभी प्रतिनिधि संस्थाओं के चुनाव एक साथ नियत पांच-साला अवधि में कराने की व्यवस्था नहीं है, जिससे चुनाव ख़र्चे में भारी कटौती हो सकती है। इसमें राजनैतिक दलों के लिए ऐसी कोई योजना नहीं है जिसके अनुसार इन दलों के लिए कम से कम दो साल में एक बार आंतरिक चुनाव कराना आवश्यक हो, निर्वाचन क्षेत्रों की समितियां उम्मीदवारों का चुनाव कर सकें और जिसमें प्राकृतिक

न्याय के सिद्धांतों पर आधारित अनुशासन-संहिता का प्रावधान हो। इसमें पार्टियों के लोकतंत्रीकरण, उनके आय-स्रोतों की घोषणा और लेखों के लोक-निरीक्षण की व्यवस्था के साथ चुनाव-खर्च के राजकीय निर्धारण का भी कोई प्रावधान नहीं है। इसमें वर्तमान कठिनाइयों से निपटने के उद्देश्य से कुछ कमजोर-से प्रावधान मात्र किए गए हैं।

ज्योति बसु, लालूप्रसाद यादव और बीजू पटनायक – ये सभी मुख्य चुनाव आयुक्त के साथ युद्ध-रत हैं। शरद पवार भी उन परिपत्रों का विरोध कर रहे हैं जो महाराष्ट्र के मुख्य चुनाव अधिकारी डी.के. शंकरन द्वारा चुनाव आयोग के नाम से जारी किए जा रहे हैं जिनमें कहा जा रहा है कि जिन राज्यों में अगले छः महीनों में चुनाव होंगे वहां आदर्श आचार-संहिता लागू हो चुकी है। ज्योति बसु ने टी.एन. शेषन की काम करने की शैली की आलोचना की है। वे चाहते हैं कि अध्यादेश जारी करके मुख्य चुनाव आयुक्त के पर काटे जाएं जो "पागल आदमी जैसा व्यवहार कर रहा है।" जिस बात ने पश्चिम बंगाल के मुख्यमंत्री को इतना परेशान किया है वह आचार-संहिता नहीं है–क्योंकि वहां अभी चुनाव होनेवाले नहीं हैं–बल्कि पहचानपत्रों को जारी करने का निर्देश है।

चर्चाधीन विधेयक में परिचय-पत्रों और आचार-संहिता दोनों के प्रावधान हैं। चुनाव-सुधारों पर अखबारों की चर्चा में दिनेश गोस्वामी समिति के हवाले दिए गए हैं। इस समिति की रिपोर्ट को न तो विश्वनाथ प्रताप सिंह की सरकार ने और न बाद की सरकारों ने प्रकाशित किया है। अतः परिचयपत्रों से संबंधित इस समिति की सिफारिश को नीचे उद्धृत किया जा रहा है :

"बहुद्देश्यीय सचित्र परिचयपत्र की योजना के कार्यान्यन के संबंध में सभी सदस्यों की एक राय है। समिति मानती है कि टिप्पणी के पैरा 3.11 के अनुसार इस योजना के सफल कार्यान्वयन का काम शुरू किया जाए।

सारे देश को इस योजना के अंतर्गत लाने के लिए समयबद्ध कार्यक्रम बनाया जाए।

(क) प्रत्येक वयस्क नागरिक को लाभ तथा सुविधाएं प्राप्त कराने के लिए उन्हें अनिवार्य रूप से परिचयपत्र उपलब्ध कराने के काम में सभी सरकारी विभागों और मंत्रालयों की सेवाएं प्राप्त की जाएं।

(ख) इस योजना का खर्च कम से कम रखने और परिचयपत्रों को जालसाजी या छेड़छाड़ से सुरक्षित बनाने के उद्देश्य से योजना का सम्पूर्ण ब्यौरा तैयार करने में भाभा परमाणु अनुसंधान संस्थान की मदद ली जाए।

(ग) योजना से संबद्ध क्षेत्र-कार्य के केन्द्र-बिन्दु के रूप में काम करने और सभी इलाकों को कवर करने के प्रयोजन से डाक विभाग के तंत्र का सक्रिय सहयोग

आवश्यक होगा।

(घ) राज्य सरकार के किसी अभिकरण की शिनाख्त करना भी अनिवार्य होगा जिसे इस योजना के कार्यान्वयन की पूरी जिम्मेदारी सौंपी जा सके।

(च) सारे देश को इस योजना के अंतर्गत लाने के लिए समयबद्ध कार्यक्रम तय करना।

परिचय-पत्रों का नियम 28 गोस्वामी समिति के गठन के तीन दशक पूर्व से अस्तित्व में था। समिति की रिपोर्ट के बाद भी विगत चार सालों में कोई समयबद्ध कार्यक्रम नहीं बनाया गया। अतः मुख्य चुनाव आयुक्त शेषन ने इसके अनुपालन के लिए जोर डाला। नये विधेयक में चुनाव आयोग को अधिकार दिया जाएगा कि वह केन्द्र से परामर्श करके परिचय-पत्र जारी करने के तरीके और उसके विवरण को तय करे। प्रावधान (क) 1 जनवरी, 1960 से लागू माना जाएगा और (ख) से चुनाव आयोग द्वारा जारी इकतरफा अधिसूचना अवैध और अप्रवर्तनीय हो जाएगी।

मुझे उन समस्याओं की पेचीदगी का भान नहीं है जो परिचय-पत्रों को जारी करने में आयेंगी। उन पर कितनी लागत आएगी, सारे नागरिकों को कवर किया जा सकेगा या नहीं या रिश्वत देकर अवैध आप्रवासियों और शरणार्थियों को ये परिचय-पत्र दिए जाने का कितना खतरा है, इत्यादि बातों की भी मुझे जानकारी नहीं है। तथापि, प्रश्न तो यह है कि केन्द्र सरकार और राज्य सरकारों ने इसके संबंध में 1990 से पहले ही नहीं, उसके बाद भी कोई योजना नहीं बनाई, बावजूद गोस्वामी समिति की इस विषय पर आम सहमति होने के। क्या इसके परिणामस्वरूप सामने आए टकराव के लिए केवल या मुख्य रूप से शेषन को दोष दिया जा सकता है? मुझे डर है कि नये प्रावधान का उद्देश्य चरणबद्ध और प्रभावी ढंग से समस्या को सुलझाना नहीं बल्कि सारी योजना को शीतागार में डालना है। इसके लिए केन्द्र ही नहीं, इस साल जनवरी में हुए मुख्यमंत्रियों का सम्मेलन भी उत्तरदायी है। इतना कहने के बाद मैं चुनाव रुकवाने की शेषन की धमकी से अपनी असहमति व्यक्त करूंगा। यदि यह मामला अदालत में जाता है तो विश्वास है कि शेषन की कार्रवाई को तो रद्द किया ही जाएगा, सरकारों को भी अपनी निष्क्रियता के लिए न्यायालय की आलोचना का शिकार होना पड़ेगा और यह उचित ही होगा।

एक और महत्वपूर्ण प्रावधान (खंड 16) आचार-संहिता की कुछ मदों को सांविधिक अनुमोदन देना है। सरकार का दावा है कि नये विधेयक का यह प्रावधान गोस्वामी समिति की सिफारिशों पर आधारित है। किंतु विधेयक और समिति की रिपोर्ट की ध्यान से तुलना करने पर दिखाई देगा कि गोस्वामी समिति द्वारा सुझाई गई एक बात को विधेयक में छोड़ दिया गया है। चूंकि यह महत्वपूर्ण है, अतः इस प्रावधान को मैं उद्धृत करूंगा : "(ख) विमान सहित सरकारी परिवहन, सरकारी

तंत्र और कर्मचारियों का चुनाव के संबंध में उपयोग।" इन शब्दों का हटाया जाना महत्वपूर्ण है और महत्व साफ भी है। विपक्ष का कर्तव्य है कि वह इन शब्दों को विधेयक में शामिल कराए। अन्यथा माना जायेगा कि विपक्षी पार्टियों द्वारा नियंत्रित सरकारें भी सरकारी तंत्र और परिवहन का दुरुपयोग करना चाहती हैं ।

चुनाव आयोग का कहना है कि "भावी चुनाव" (गोस्वामी समिति) या "चुनावों की आसन्नता" (आदर्श संहिता) शब्दों का अर्थ है विधानमंडल के कार्यकाल की समाप्ति से पूर्व के छः महीनों की पूरी अवधि में, जबकि चुनाव कराए जा सकते हैं, आदर्श आचार-संहिता लागू होगी। यह बेतुकी बात है। हमारे यहां किसी न किसी राज्य में प्रायः हर साल आम चुनाव होते हैं। क्या इसका यह मतलब होगा कि संबंधित राज्यों में या केन्द्र में जब लोकसभा के चुनाव आसन्न होंगे, किसी भी निर्णय को कार्यान्वित नहीं किया जाएगा ? यह विनाशकारी प्रावधान होगा।

चुनाव-प्रक्रिया तब शुरू होती है जब लोक प्रतिनिधित्व अधिनियम 1951 की धारा 14 और 15 के अंतर्गत निर्वाचन-क्षेत्रों को सदस्य चुनने के लिए अधिसूचना जारी की जाती है। यह दो अंगों की सम्मिलित कार्रवाई है। इसके लिए सिफारिश चुनाव आयोग को करनी होती है और अधिसूचना राष्ट्रपति या संबंधित राज्य के राज्यपाल जारी करते हैं। नये विधेयक में स्पष्ट किया गया है कि आचार-संहिता विधानमंडलों का कार्यकाल समाप्त होने से पूर्व के छः महीनों में लागू नहीं होगी। यह अधिसूचना जारी होने के बाद लागू होगी।

मैं एक और महत्वपूर्ण पहलू की ओर इशारा करना चाहता हूं। यह राजनैतिक दलों के पंजीकरण को रद्द करने के संबंध में है। यह साफ है कि विधेयक की नई धारा 29 ख में पार्टियों पर प्रतिबंध लगाने की व्यवस्था नहीं है। इसमें इतना ही कहा गया है कि पार्टियां नाम, आस्था, नीति, प्रचार आदि में साम्प्रदायिकता छोड़ें । यदि पार्टियां ऐसा करने से इन्कार करती हैं तो उन्हें वे सुविधाएं नहीं मिलेंगी जो पंजीकृत और मान्य पार्टियों के रूप में उन्हें अधिनियम के अंतर्गत मिल सकती हैं।

अंतिम मुद्दा है कई निर्वाचन-क्षेत्रों से एक साथ चुनाव लड़ने के प्रावधान का। नया प्रावधान बेकार है। इसमें दो निर्वाचन-क्षेत्रों से चुनाव लड़ने की अनुमति दी गई है। इसमें संशोधन किया जाना चाहिए। इसमें यह कहा जाना चाहिए कि कोई भी व्यक्ति किसी आम चुनाव में लोकसभा या विधानसभा के एक से अधिक क्षेत्रों से चुनाव नहीं लड़ सकेगा। किसी उम्मीदवार को दो सीटों से चुनाव लड़ने की अनुमति देना देश के मतदाताओं के साथ धोखाधड़ी है। इससे उपचुनावों का अनावश्यक खर्च होने की संभावना भी होती है। कानून के द्वारा न तो राजनेताओं के अहंकार को प्रोत्साहन दिया जाना चाहिए और न उनकी भीरुता को।

अध्याय छह

राजनैतिक दलों का बहुकोणीय संघर्ष

क्या कांग्रेस का अंत अवश्यंभावी है ?

कांग्रेस दुनिया की एक सबसे टिकाऊ राजनीतिक पार्टी रही है। इसकी स्थापना राष्ट्रीय एकता को मजबूत करने तथा देश में लोकतांत्रिक संस्थाओं के निर्माण के उद्देश्य से हुई थी। शीघ्र ही यह भारत की राष्ट्रीय आकांक्षाओं की अभिव्यक्ति का प्रमुख माध्यम और स्वतंत्रता संघर्ष का शक्तिशाली औजार बन गयी। महात्मा गांधी ने मुख्य रूप से इसे मजबूत जन-संगठन का रूप दिया। इसकी तुलना अकसर लेनिन की बोलशेविक पार्टी से की जाती है। दोनों क्रांतिकारी पार्टियां थीं; किंतु क्रांति के बाद दोनों शासक पार्टियां बन गयीं। लेनिन की पार्टी ने क्रांति के रास्ते सत्ता प्राप्त की। गांधी की पार्टी ने शांति के रास्ते से अंग्रेजों से सत्ता हासिल की। उसे इसलिए सत्ता सौंपी गयी, क्योंकि वह भारत की जनता का सबसे अधिक प्रतिनिधित्व करती थी। सत्ता में आने के बाद दोनों पार्टियों ने सत्ता का इस्तेमाल अपने ढंग से नये राज्य को मजबूत करने और देश की प्रगति के लिए सामाजिक-आर्थिक परिवर्तन लाने में किया। लेकिन दोनों की समानता यहीं खत्म हो जाती है। लेनिन की पार्टी ने एकपार्टी शासन स्थापित किया, यहां तक कि उसने मेनशेविक और सोशल रेवोल्यूशनरी जैसी मजदूर-किसान पार्टियों पर भी प्रतिबंध लगाया। कांग्रेस ने लोकतांत्रिक संविधान बनाया, दूसरी पार्टियों को काम करने दिया और उन्हें समय-समय पर होनेवाले स्वतंत्र एवं निष्पक्ष चुनावों में जनता का समर्थन प्राप्त करने का अवसर दिया। इस प्रकार शक्ति-प्रयोग से स्थापित एकपार्टी शासन (सोवियत संघ) और लोकतांत्रिक प्रक्रिया से बनी एकपार्टी वर्चस्व की प्रणाली

(भारतीय संघ) में मूलभूत अंतर है। महात्मा गांधी ने कांग्रेस का निर्माण मजबूत बुनियाद पर किया। देश के दूर-दूर के कोनों में भी इस पार्टी की शाखाएं थीं और समर्थक थे। इसके कामों का इतिहास इतना अच्छा रहा कि अनेक उतार-चढ़ावों तथा ह्रास की प्रक्रियाओं के बावजूद वह न केवल जीवित है बल्कि पिछले 108 सालों से जीवित पार्टी बनी हुई है। लेनिन की पार्टी, जिसका सत्ता पर संपूर्ण एकाधिकार था, खत्म हो गयी, किंतु कांग्रेस जिसने अन्य पार्टियों के साथ बराबरी के स्तर पर स्पर्धा की, अब भी केंद्र में सत्ता में है। उसने पिछले अढ़ाई सालों में कई चुनौतियों का सामना किया है और भारी पराजय की समाचारपत्रों की भविष्यवाणियों को झूठा सिद्ध कर दिया है तथा लोकसभा में जैसे-तैसे अपना बहुमत भी बना लिया है। किंतु प्रलय के भविष्यवक्ता चुप नहीं हुए हैं। वे कांग्रेस के विघटन और कालांतर में मृत्यु की भविष्यवाणियां कर रहे हैं। अतः मैं विगत वर्षों में हुए जनमत के परिवर्तनों तथा वोटिंग की बानगी का विश्लेषण करते हुए अपना अनुमान प्रस्तुत करने का प्रयास करूंगा।

वयस्क मताधिकार के साथ हुए पहले आम चुनाव के बाद 15 वर्ष तक कांग्रेस का वर्चस्व भारी वोट-प्रतिशत और संसद में और भी भारी बहुमत से प्रमाणित हुआ। उसका वोट-प्रतिशत 44 से 47 रहा। इससे उसे प्रथम तीन लोकसभाओं में दो-तिहाई बहुमत मिला। इस अवधि के अंतिम दिनों में जवाहरलाल नेहरू का निधन हो गया और उनके स्थान पर लालबहादुर शास्त्री प्रधानमंत्री बने। इनकी भी जल्दी मृत्यु हो गयी और 1966 में इंदिरा गांधी प्रधानमंत्री बनीं। कांग्रेस संसदीय दल ने चुनाव के द्वारा मोरारजी देसाई के नेतृत्व को अस्वीकार किया और इंदिरा गांधी को नेता चुना। 1967 के चुनाव में कांग्रेस का वोट 40.80 प्रतिशत रह गया। लोकसभा में इसका भारी बहुमत कम हुआ, किंतु तब भी दूसरी सभी पार्टियों की मिली-जुली शक्ति की तुलना में इसे स्पष्ट बहुमत मिला। 1969 में कांग्रेस का विभाजन हुआ और इंदिरा गांधी ने कांग्रेस की छवि चमकाने के जो काम किये, उसके आश्चर्यजनक परिणाम निकले। 1971 के चुनावों में कांग्रेस ने इंदिरा गांधी के नेतृत्व में 43.7 प्रतिशत वोट तथा दो-तिहाई बहुमत हासिल किया। किंतु आंतरिक लोकतंत्र के क्षय तथा वंश-राजनीति के कारण लोकतांत्रिक संस्थाएं खतरे में पड़ गयीं और जनता ने 1977 में आपातकाल को लेकर कांग्रेस पर अपना गुस्सा उतारा। उसका वोट 34.5 प्रतिशत रह गया–जो अब तक का सबसे कम प्रतिशत था–और लोकसभा में इसके सदस्यों की संख्या 54 रह गयी। 1978 में कांग्रेस में एक और विभाजन हुआ, किंतु लगभग एक साल बाद जनता पार्टी में हुए विभाजन से कांग्रेस की स्थिति बेहतर हो गयी। सातवें आम चुनावों में कांग्रेस को एक बार फिर 42.7 प्रतिशत वोट पर दो-तिहाई बहुमत मिल गया। गैरकांग्रेसी वोट में हुए

तीव्र विभाजन के परिणाम आश्चर्यजनक नहीं थे। 1984-85 के चुनाव असाधारण स्थितियों में हुए। इंदिरा गांधी की हत्या से उत्पन्न सहानुभूति की लहर इन पर हावी रही। यह वस्तुतः इंदिरा गांधी की मरणोपरांत जीत थी, जिसमें राजीव गांधी को सर्वाधिक वोट 48.1 प्रतिशत और 517 में से 415 सीटें मिलीं। यह अभूतपूर्व सफलता थी। (कुछ सीटें भरी नहीं जा सकीं, क्योंकि असम में चुनाव पूरे नहीं हो सके।) कुछ चापलूस लोगों ने इस भारी जीत का कारण राजीव गांधी का करिश्मा बताया, लेकिन ऐसा नहीं था, क्योंकि राजीव गांधी भले आशय के बावजूद असफल सिद्ध हुए। वे दो-तीन वर्षों में पंजाब, असम, पश्चिम बंगाल, हरियाणा और केरल में पार्टी को चुनाव नहीं जिता पाये।

1987-88 में कांग्रेस में बोफोर्स तोपों और पनडुब्बी सौदों के कारण भूचाल आया। विश्वनाथ प्रताप सिंह, लोकदल और जनता ने मिलकर जनता दल और राष्ट्रीय मोर्चा बनाया। 1980 से 1989 का समय कांग्रेस के लिए विनाशकारी रहा था। इंदिरा गांधी ने अपनी पुरानी निर्णायक क्षमता जैसे खो दी थी। संजय गांधी की मृत्यु ने उन्हें हिला दिया था। यद्यपि बाहर से वे ऐसा दिखाती रहीं कि उनकी अपने तथा पार्टी एवं सरकार के ऊपर पूरी पकड़ है। वे उत्तर प्रदेश में बिगड़ती हुई सांप्रदायिक स्थिति को नहीं संभाल सकीं और अस्सी के दशक के शुरू में मेरठ तथा मुरादाबाद के दंगों ने कांग्रेस पर मुसलमानों का भरोसा खत्म कर दिया। इंदिरा गांधी पंजाब में सिख आतंकवाद के मामले में भी ढुलमुल रहीं। उन्होंने आतंकवादियों को हरमंदिर साहब में हथियार जमा करने दिये। अनाड़ीपन के साथ की गयी 'ब्लूस्टार' कार्रवाई के कारण – हजरतबल की कार्रवाई इसका सुखद वैषम्य है–सिख कांग्रेस से अलग हो गये, जिन्होंने इससे पहले बड़ी संख्या में पंजाब में कांग्रेस को समर्थन दिया था। पंजाब से बाहर सिखों ने दूसरी पार्टियों के मुकाबले हमेशा ही कांग्रेस का समर्थन किया हे। राजीव गांधी और उनके सलाहकारों की नयी टीम ने अरुण नेहरू के नेतृत्व में गलतियों पर गलतियां कीं। उन्होंने जम्मू व कश्मीर में नेशनल कांफ्रेंस में फूट डाली, फारूक अब्दुल्ला को हटाकर गुल मोहम्मद शाह को मुख्यमंत्री बनाया। इस तरह उन्होंने जम्मू-कश्मीर में विद्रोह का मार्ग प्रशस्त किया। उन्होंने एनटी रामाराव को बर्खास्त करके आंध्र प्रदेश में कांग्रेस की स्थिति कमजोर की। कर्नाटक में गुंडूराव के कारण कांग्रेस को भारी कीमत चुकानी पड़ी। देवराज अर्स द्वारा अपनी क्षेत्रीय पार्टी बनाये जाने के बाद कर्नाटक में भी कांग्रेस की स्थिति कमजोर हो गयी। देवराज अर्स के निधन के बाद जनता पार्टी ने उनकी जगह ले ली और राज्य में अपनी सरकार बना ली। एनटी रामाराव न सिर्फ वापस सत्ता में आ गये, 1985 के चुनाव में उन्हें भारी जनमत भी मिला। उसी वर्ष रामकृष्ण हेगड़े को भी, जिन्होंने चतुराई से विधानसभा भंग करा दी थी, पूर्ण बहुमत

कर्नाटक विधानसभा में मिल गया।

कर्नाटक और आंध्रप्रदेश की तीव्र गुटबाजी कांग्रेस की दुर्दशा पर अच्छा प्रकाश डालती है। 1977 में जब भारत के बड़े भाग में कांग्रेस हार गयी थी, दक्षिण उसके समर्थन में खड़ा रहा था। अपनी मित्र पार्टियों की मदद से कांग्रेस केरल और तमिलनाडु में भी सफल रही थी। किंतु कर्नाटक तथा आंध्रप्रदेश में उसने अपने बूते पर ही शानदार सफलता हासिल की थी। इन राज्यों में उसे क्रमशः 57.4 और 57.4 प्रतिशत वोट मिला था। 1983 और 1985 में करारी हार के बाद कांग्रेस ने 1989 में कर्नाटक में तथा 1991 में आंध्रप्रदेश में अपनी खोयी हुई स्थिति को पुनः प्राप्त कर लिया, किंतु विगत कुछ साल कांग्रेस के लिए अच्छे नहीं रहे हैं। इन राज्यों में गुटबाजी कांग्रेस की शक्ति का क्षय कर रही है। इन दो राज्यों को आधार बनाकर ही इंदिरा गांधी ने 1978-79 में दोबारा केंद्र पर अधिकार करने का सफल प्रयास किया था। वह जानती थी कि यदि वह इन दो राज्यों में पराजित हुई, तो केंद्रीय सत्ता पर उसकी पकड़ और भी ढीली हो जायेगी।

उत्तर प्रदेश की कांग्रेस ने राजीव गांधी, अरुण नेहरू और बूटा सिंह के आशीर्वाद से अयोध्या के मुद्दे को भुनाकर हिंदू सांप्रदायिक तत्वों के तुष्टीकरण की नीति अपनायी। उन्होंने बाबरी मस्जिद के गेट के ताले खुलवाये। यह विश्व हिंदू परिषद द्वारा जोरदार आंदोलन शुरू करने का संकेत था। उत्तर प्रदेश के कांग्रेसी मुख्यमंत्री ने विश्व हिंदू परिषद से समझौता करके शिलान्यास कराया। राजीव गांधी ने तो एक विचित्र चाल के रूप में यह भी कहा कि कांग्रेस की नीति का लक्ष्य रामराज्य की स्थापना करना है। यह स्पष्ट था कि राजीव गांधी के मन में महात्मा गांधी की नैतिक व्यवस्था नहीं थी। उनका उद्देश्य यह दिखाना था कि रामराज्य के हिंदू सपने को भाजपा-विहिप-राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ नहीं, कांग्रेस सरकार साकार कर सकती है। लेकिन उनकी चाल कामयाब नहीं हुई। कांग्रेस ने मध्य मार्ग छोड़ दिया और दोनों प्रकार से उसे नुकसान हुआ। जनता दल के बनने से– जिसने पिछड़े वर्गों, अल्पसंख्यकों और अनुसूचित जातियों को अपनी ओर आकृष्ट किया– कांग्रेस और अलग पड़ गयी और 1989 में हुए लोकसभा तथा उत्तर प्रदेश विधानसभा चुनावों में कांग्रेस की वह वायवी शक्ति चकनाचूर हो गयी, जो इंदिरा गांधी की हत्या के बाद हुए लोकसभा चुनाव में दिखायी दी थी।

उत्तर प्रदेश और बिहार में कांग्रेस का नुकसान स्थायी बनता जा रहा है। मुसलमानों तथा हरिजनों ने अस्सी के दशक में कांग्रेस को छोड़ना शुरू किया था। दक्षिण से भिन्न, उत्तर में कांग्रेस पर सवर्ण जतियों का वर्चस्व रहा है और उसमें आबादी के बड़े हिस्से– पिछड़े वर्गों– को आकर्षित करने से परहेज रहा है। उत्तर प्रदेश और बिहार के कांग्रेसी नेताओं ने काका कालेलकर आयोग की रिपोर्ट को

नामंजूर कर अन्य पिछड़े वर्गों के लिए आरक्षण-व्यवस्था लागू नहीं की, जो दक्षिण की कांग्रेस का एक प्रमुख मुद्दा रहा है। ये पिछड़े वर्ग साठ के दशक में संसोपा की तरफ और भारतीय क्रांति दल-संसोपा के मिलने से बने लोकदल की तरफ सत्तर और अस्सी के दशकों में आकृष्ट हुए। जनता दल भी मध्यवर्ती जातियों, पिछड़े वर्गों और मुसलमानों पर बहुत निर्भर रहा। कांशीराम की बहुजन समाज पार्टी भी हरिजन तथा पिछड़े वर्गों की पार्टी के रूप में मजबूत होती रही है। 9वीं लोकसभा के चुनाव में केंद्र में कांग्रेस का बहुमत अतीत की चीज बन गयी। कांग्रेसियों के लिए यह बहुत पीड़ादायक अनुभव था। उसे 39.53 प्रतिशत वोट मिला, जबकि जनता दल को 17.79 प्रतिशत, भाजपा को 11.30 प्रतिशत, माकपा को 6.55 प्रतिशत और भाकपा को 2.57 प्रतिशत वोट मिला। इन चार पार्टियों का कुल वोट कांग्रेस के वोट से जरा-सा कम ही था। गैरकांग्रेसी पार्टियों की एकता के कारण बहुपक्षीय मुकाबले न होने की वजह से कांग्रेस की सीटों की संख्या कम रही। फिर भी राजीव गांधी के नेतृत्ववाली कांग्रेस तब भी सबसे बड़ी पार्टी रही। जनता दल, वामपंथी पार्टियों और भाजपा को लोकसभा में स्पष्ट बहुमत मिला था। भाजपा 1985 में लगभग समाप्त हो गयी थी, किंतु 1989 में वह नयी ताकत के साथ उभरी। उसकी शक्ति जनता दल के साथ चुनावी तालमेल से भी बढ़ी और अयोध्या के मुद्दे से भी, जिसे अस्सी के वर्षों में राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ परिवार ने उसके लिए तैयार किया था। भाजपा की लोकसभा में 89 सीटों से साफ था कि हिंदू वोट बैंक को खींचने की कांग्रेस की कोशिश बुरी तरह असफल हुई थी। भाजपा उत्तर प्रदेश में कांग्रेस की कीमत पर बढ़ी।

विश्वनाथ प्रताप सिंह का अंतराल हर दृष्टि से विनाशकारी रहा, हालांकि केंद्र में आरक्षण उनकी देन है। जनता दल ने जो ढांचा खड़ा किया था, वह ढह गया। जनता दल विघटित हो गया और इसके गुट राजस्थान, हरियाणा, गुजरात और उत्तरप्रदेश में हार गये। विश्वनाथ प्रताप सिंह विसंगतियों के प्रबंधन की अपनी क्षमता पर गर्व करते थे– उन विसंगतियों के समाधान की वे जरूरत नहीं समझते थे। किंतु इन विसंगतियों ने उनकी पार्टी और सरकार को ध्वस्त कर दिया। सांप्रदायिक भावनाओं का असाधारण उफान उठा और मतदाताओं का काफी बड़ा तबका सांप्रदायिकता के जहर से प्रभावित हुआ। राजीव गांधी की मतदाताओं का सामना करने की अनिच्छा ने उन्हें चंद्रशेखर को सत्ता में बिठाने के लिए प्रेरित किया, किंतु इसका खास फायदा नहीं हुआ। जब 1991 के मई-जून में लोकसभा के चुनाव हुए, जो अपरिहार्य थे–राजीव गांधी की हत्या से इन चुनावों में कुछ बाधा पड़ी–तो जनता दल के विघटन से कांग्रेस और भाजपा दोनों को फायदा हुआ। कांग्रेस का कुल वोट 39.5 प्रतिशत से घटकर 36.5 प्रतिशत रह गया, किंतु उसकी

सीटों में भारी इजाफा हुआ। भाजपा को वोट 11.3 प्रतिशत से बढ़कर 20 प्रतिशत हो गया और सीटें 89 से बढ़कर 119 हो गयीं। जनता दल का वोट भी गिरा और सीटें भी। 9वीं लोकसभा में उसकी 144 सीटें थीं, जो अब 60 से कम रह गयीं। विश्वनाथ प्रताप सिंह और मुलायम सिंह के बीच वोटों का बंटवारा इतना तीव्र रहा कि भाजपा को न केवल उत्तर प्रदेश की 85 लोकसभा सीटों में से 50 सीटें मिल गयीं, बल्कि उसने विधानसभा पर भी अधिकार कर लिया।

भाजपा की सफलता से प्रफुल्लित लालकृष्ण आडवाणी का रवैया ऐसा हो गया, गोया वे प्रधानमंत्री के पद की शपथ लेनेवाले हों। इससे पहले उन्होंने कहा था, "सरकारों को अपना कार्यकाल पूरा करने दीजिए, उनका मूल्यांकन उनके काम से किया जायेगा।" किंतु संघ परिवार प्रतीक्षा नहीं कर सकता था। इसकी सब संस्थाओं और सरकारों ने फैसला कर लिया कि वे संवैधानिक व्यवस्था को चुनौती देंगे और उन्होंने अदालत के आदेशों की अवहेलना और दिये गये आश्वासनों को भंग करते हुए, बाबरी मस्जिद को ध्वस्त कर दिया। भाजपा की चार सरकारों को बर्खास्त किया गया। पूरे एक साल तक भाजपा जोरशोर से प्रचार करती रही, किंतु 1993 के लघु आम चुनाव का वक्त आया तो भाजपा को हार का सामना करना पड़ा। मध्य प्रदेश और हिमाचल प्रदेश में उसकी बुरी हार हुई। उत्तर प्रदेश में वह बहुमत प्राप्त करने में असफल रही। किंतु इस चुनाव में भाजपा पूरी तरह नहीं उखड़ी। राजस्थान में उसने अपनी स्थिति में सुधार किया और दिल्ली की विधानसभा पर अधिकार कर लिया।

भाजपा के मनोबल का क्षय उसकी चुनाव-पूर्व की आशाओं और महत्वाकांक्षाओं के अनुपात में है। उसके भीतर के अब तक दबे हुए सारे अंतर्विरोध चुनाव के बाद उभरकर आये हैं। डा. मुरलीमनोहर जोशी ने तो एक मायने में आडवाणी के विरुद्ध अभियान ही छेड़ दिया है। भाजपा के पिछड़े वर्ग और अनुसूचित जातियां सत्ता में अपना हिस्सा मांग रही हैं और कुछ भाजपाई सामाजिक अभियांत्रिकी की बातें कर रहे हैं। भाजपा के प्रवक्ता तर्क कर रहे हैं कि उनकी हार नहीं हुई है, वस्तुतः जीत हुई है, क्योंकि सभी विधानसभाओं को मिलाकर उन्हें कांग्रेस से अधिक वोट मिला है। भाजपा को चार राज्यों तथा दिल्ली में कुल मिलाकर 38.10 प्रतिशत वोट मिले। यह प्रतिशत कांग्रेस के 26.24 प्रतिशत, सपा-बसपा के 16 प्रतिशत तथा जनता दल के 9.08 प्रतिशत से बहुत अधिक की अविश्वसनीयता के अलावा इन आंकड़ों की तुलना 1991 के विधानसभा चुनाव परिणामों के आंकड़ों से की जानी चाहिए। उस समय सात विधानसभाओं और एक केंद्रशासित क्षेत्र में चुनाव हुए थे और आधिकारिक आंकड़ों के अनुसार कांग्रेस को 24.83 प्रतिशत, भाजपा को 14.36 प्रतिशत, जनता दल को 7.32 प्रतिशत और

माकपा को 12.96 प्रतिशत वोट मिले थे। अगली शक्ति-परीक्षा 1995 के शुरू में होगी जब उड़ीसा, बिहार, गुजरात, महाराष्ट्र, आंध्र प्रदेश में –और शायद कर्नाटक में भी–नयी विधानसभाओं के चुनाव होंगे। आज की तारीख में इन राज्यों में कांग्रेस की संभावनाएं उज्ज्वल नहीं लगतीं। प्रधानमंत्री के अपने राज्य में तेलुगूदेशम के नये उन्माद के लक्षण दिखाई दे रहे हैं और ऐसा लगता है कि वह कांग्रेस से सत्ता छीन लेगी। आंध्र प्रदेश में सत्ता का छिनना प्रधानमंत्री की प्रतिष्ठा पर गहरा आघात होगा, यद्यपि इससे उनके सत्ता में बने रहने पर प्रभाव नहीं पड़ेगा। जहां तक भाजपा का सवाल है, वह भी नवंबर, 1993 से बेहतर प्रदर्शन नहीं कर पायेगी। उसकी शक्ति गुजरात में केंद्रित रहेगी और कर्नाटक में वह 1991 में प्राप्त अप्रत्याशित समर्थन को बनाये रखने की कोशिश करेगी। किंतु वह बिहार, उड़ीसा, महाराष्ट्र और आंध्र प्रदेश में किसी बड़ी सफलता की उम्मीद नहीं कर सकती है। कुल मिलाकर 'जस का तस' की स्थिति रहेगी। जून 1996 में लोकसभा के चुनाव होंगे। इससे पहले कांग्रेस के पास काफी वक्त है, जब वह अपनी अंदरूनी समस्याओं का समाधान कर सकती है, अर्थव्यवस्था को सक्रिय कर सकती है और अलग हो गये ग्रुपों के कम-से-कम कुछ तबकों का समर्थन वापस प्राप्त कर सकती है। कांग्रेस ने पहले भी विपदा का सामना करने की शक्ति दिखायी है और अब भी दिखा सकती है। कांग्रेस की शक्ति उसके राष्ट्रीय पार्टी होने में है। यह किसी एक क्षेत्र की पार्टी नहीं है, हालांकि राज्यों के पुनगर्ठन के उसके कार्यक्रम ने विभिन्न क्षेत्रों को विकास करने का मौका दिया। कांग्रेस खुद विभागीय पार्टी नहीं रही। किंतु उसने विधायिकाओं में अनुसूचित जातियों एवं जनजातियों को और सरकारी नौकरियों में इन तबकों तथा पिछड़े वर्गों को आरक्षण देकर उपेक्षित तबकों की आकांक्षाओं की पूर्ति की। यह किसी एक वर्ग की पार्टी नहीं रही। इस पर किसी एक वर्ग का नियंत्रण नहीं रहा। इसमें कई वर्गों का प्रतिनिधित्व रहा, हालांकि माकपा उसे पूंजीपतियों और जमींदारों की पार्टी कहती है। यह किसी एक संप्रदाय की भी पार्टी नहीं रही, बल्कि सभी धर्मों के लोगों की पार्टी रही।

यह सही है कि कांग्रेस ने लोगों में कार्यनैतिकता का विकास नहीं किया या उनमें उद्यमशीलता की भावना नहीं भरी, किंतु अपने सर्वश्रेष्ठ दिनों में उसने गरीब तथा कमजोर तबकों की चिंता निश्चय ही की। महात्मा गांधी तथा कांग्रेस ने जनता को वयस्क मताधिकार दिया। यह ऐसा अधिकार था जिसे प्राप्त करने में अंग्रेजों को एक सदी का समय लगा। इस अधिकार का प्रयोग आज दलित, आदिवासी तथा अन्य पिछड़े वर्ग अपनी शक्ति बढ़ाने में कर रहे हैं। जहां तक कांग्रेस इन सिद्धांतों से दूर हटी और उसने उच्च जातियों एवं निहित स्वार्थों को अपना उपयोग करने दिया, वहीं तक उसमें जड़ता आयी। जिस सीमा तक वह नैतिकता और ईमानदारी

के उच्च मानंदडों से हटी, उसी सीमा तक वह जनता की नजरों में भी गिरी।

कांग्रेस की सबसे बड़ी कमजोरी पैसा बटोरने का पागलपन है, जिसने इसके मंत्रियों और विधायकों को जकड़ लिया है। वे पूरी तरह निकृष्ट किस्म के भौतिकवाद में फंस गये हैं। जल्दी से जल्दी धनी बनने की इच्छा ने उन्हें बाहुबलियों और माफिया का संरक्षक बनाया है। जब तक कांग्रेसियों की पैसे की असीम भूख को नियंत्रित नहीं किया जाता, कांग्रेस पहले जैसी लोकप्रियता हासिल नहीं कर सकती। कुछ मंत्रियों और विधायकों को दंडित करके इसका उदाहरण पेश करना पड़ेगा। जब तक बुरे कामों के लिए उन्हें सजा नहीं मिलेगी, तब तक प्रशासन में कोई सुधार नहीं होगा। अगर ऊपर भ्रष्टाचार होगा, तो क्या नीचे के स्तर पर भ्रष्टाचार को खत्म किया जा सकता है ? यदि यह प्रश्न पूछा जाये कि भारत के तीव्र आर्थिक विकास की बाधा क्या है , तो इसका जवाब होगा– प्रशासन के सभी स्तरों पर भ्रष्टाचार। इस भ्रष्टाचार को दूर करो, जनसंख्या वृद्धि को नियंत्रित करो, बस समृद्धि जनसाधारण की पहुंच में आ जायेगी। कांग्रेस ने कई बार अपना नवीकरण किया और अब भी कर सकती है, यदि वह उस भावना का अंश मात्र भी पुनः अपने में जागृत कर सके, जो उन जादुई वर्षों में महात्मा गांधी ने कांग्रेस में भरी थी। समाजवादियों, साम्यवादियों, कृपलानी की किसान-मजदूर प्रजा पार्टी, स्वतंत्र पार्टी, मोरारजी की कांग्रेस, जनसंघ, जनता दल के लोगों और कई अन्यों ने कई बार कांग्रेस की शीध्र मृत्यु की घोषणाएं की थीं। किंतु इतिहास की यह विचित्रता है कि खुद ये पार्टियां ही अंधकार में विलीन हो गयीं अथवा होनेवाली हैं। किंतु कांग्रेस पिट-पिटकर भी जिंदा है। इसकी अत्यंत शोचनीय स्थिति के बावजूद इसके क्षय और शीघ्र मृत्यु की भविष्यवाणी करना उचित नहीं होगा।

क्षेत्रीय दलों की राजनीति

कांग्रेस पार्टी के क्रमिक ह्रास के साथ-साथ क्षेत्रीय पार्टियां राजनीति में महत्वपूर्ण भूमिका अदा करने लगी हैं। ये क्षेत्रीय समीकरण अल्पजीवी भी रहे हैं और चिरजीवी भी। हम इस चर्चा में अल्पजीवी पार्टियों को छोड़ देंगे जिनमें से अधिकांश कांग्रेस से निकली हैं।

माकपा अपने को रात-दिन अंतरराष्ट्रीय पार्टी के रूप में पेश करती रही है, लेकिन वह राष्ट्रीय पार्टी नहीं है और वस्तुतः बहुराज्यीय पार्टी भी नहीं है। यह दो क्षेत्रीय पार्टियों का ढीला-ढाला संघ है : बंगलाभाषी क्षेत्रों की भद्रलोक-वर्चस्व वाली

ज्योति बसु की पार्टी और नम्बूदिरीपाद-नयनार की केरल पार्टी। पश्चिम बंगाल में एक दर्जन के करीब छोटी-छोटी पार्टियां हैं और ये सब माकपा पर परजीवी के समान निर्भर हैं। देश के बड़े भाग में माकपा का अस्तित्व नहीं के बराबर है। साक्षरता में सबसे आगे केरल में राजनीति टुकड़ों में विभाजित है। जाति, संप्रदाय और धार्मिक फिरकों के आधार पर बनी कई छोटी-छोटी तथा अस्थिर पार्टियां हैं। सरकार चलाने में इनका गठजोड़ दो प्रमुख पार्टियों से होता है–कांग्रेस से या माकपा से। माकपा लगभग तीन दशकों से हिंदीभाषी क्षेत्रों में अपनी गतिविधियां तेज करने के बारे में प्रस्ताव पास करती रही है। लेकिन न तो इन राज्यों में और न पश्चिम भारत के राज्यों – गुजरात और महाराष्ट्र में माकपा अथवा भाकपा जनाधार बना सकी हैं।

हिंदीभाषी राज्य और पश्चिम भारत क्षेत्रीय पार्टियों पर मेहरबान नहीं रहे हैं। इस विस्तृत क्षेत्र में इस प्रकार की पार्टियां या तो अल्पजीवी रही हैं या वे हाशिये पर अनिश्चित स्थिति में रही हैं जैसे हरियाणाा विकास पार्टी, शेतकारी-कामगार पार्टी और महाराष्ट्र की विभिन्न रिपब्लिकन पार्टियां। किंतु प्रश्न है कि क्या हिंदीभाषी क्षेत्रों में स्थितियां बदल रही हैं ? जनता दल 1989-90 में प्रबल पार्टी बन गई थी। उसने भाजपा और वामपंथियों की मदद से केंद्र में सत्ता संभाली थी। उसने हरियाणा, उत्तर प्रदेश, बिहार और उड़ीसा में अपनी सरकारें भी बनाईं। गुजरात तथा राजस्थान में वह संयुक्त सरकारों में भागीदार बनी थी। कर्नाटक में भी उसकी उपस्थिति काफी अच्छी थी। किंतु विश्वनाथ प्रताप सिंह ने उसे राष्ट्रीय पार्टी बनाने की इच्छा अथवा क्षमता का परिचय नहीं दिया। फलतः दो साल के अंदर-अंदर यह पार्टी टूट गई। गुजरात और राजस्थान में इसका सफाया हो गया। इसके अलग-अलग धड़ों ने क्षेत्रीय पार्टियों का रूप ले लिया, जैसे– उत्तर प्रदेश में मुलायम सिंह की समाजवादी पार्टी, हरियाणा में देवीलाल-चौटाला की समाजवादी जनता पार्टी। बिहार और उड़ीसा में लालू प्रसाद यादव और बीजू पटनायक के लगभग स्वतंत्र जनता दल रहे। सच बात यह है कि जनता दल के राष्ट्रीय पार्टी के रूप में दोबारा उभरने या पार्टियों के नए ढीले-ढाले संघ का केंद्र-बिंदु बनने की संभावनाएं अब शून्य दिखाई देती हैं।

बहुजन समाज पार्टी सही मायनों में उत्तर प्रदेश की क्षेत्रीय पार्टी है। किंतु वह हिम्मत से पंजाब, मध्य प्रदेश, हरियाणा, आंध्र प्रदेश, बिहार, पश्चिम बंगाल और महाराष्ट्र में फैलने की कोशिश कर रही है और इसमें उसे कहीं कम, कहीं अच्छी सफलता भी मिली है। कांशीराम पिछड़े वर्गों और अनुसूचित जातियों के गठबंधन पर निर्भर हैं। आंध्र प्रदेश में वे कांग्रेस को रेड्डीकम्मा पार्टी (कांग्रेस के अधिकतर मुख्यमंत्री रेड्डी रहे हैं) और तेलुगूदेशम को कम्मा पार्टी कह कर उनकी आलोचना

करते हैं। वे वहां ऐसी स्थिति पैदा करना चाहते हैं कि इन दो में से कोई भी पार्टी अपने बूते से सरकार न बना सके। इस तरह वे आंध्र प्रदेश में अपनी पार्टी की उपस्थिति दर्ज कर सकते है। आगामी विधानसभा चुनावों में वे और राज्यों में भी यह स्थिति पैदा करना चाहते हैं। त्रिशंकु विधानसभाएं और बसपा की अच्छी उपस्थिति– यही उनका लक्ष्य है। मुझे लगता है कि यह बिल्कुल नकारात्मक नीति है – समता, स्वतंत्रता और न्याय पर आधारित समाज बनाने वाली व्यापक और सकारात्मक नीति नहीं। मुलायम सिंह की समाजवादी पार्टी की स्थिति भी ऐसी ही है और दूसरे राज्यों में जड़ें जमाने की इसकी कोशिशों को विशेष सफलता नहीं मिलेगी। पिछड़े वर्गों और अनुसूचित जातियों-जनजातियों का गठबंधन निर्बाध नहीं चलता। उसके भीतर आर्थिक और सामाजिक दर्जे के टकाराव विद्यमान रहते हैं। न तो बसपा के पास और और न सपा के पास इन टकरावों के समाधान की कोई योजना है। सामाजिक और जातीय तनावों को बढ़ाने की नीति की तुलना जाति-उन्मूलन की नीति से नहीं की जा सकती है। इस पर न तो कांशीराम ने और न मुलायम सिंह ने गहराई से विचार किया है।

असम में नस्ल, भाषा और धर्म के कई समूह विद्यमान हैं। साठ के दशक के प्रारंभिक वर्षों में यहां विभिन्न कबीलों के विद्रोह तथा असमी-बंगलाभाषियों के झगड़े हुए थे। कालांतर में नागालैंड, मेघालय, मिजोरम और अरुणाचल के अलग राज्य बनाए गए। अस्सी के दशक के प्रारंभ में यहां बाहर से आकर बसे लोगों के खिलाफ जो आंदोलन चला उसमें असम गण परिषद नामक क्षेत्रीय पार्टी बनी। 1985 के असम समझौते के बाद चुनावों में इस पार्टी को सफलता मिली। किंतु इसके युवा नेताओं ने प्रशासन के प्रति कोई स्पष्ट रुचि नहीं दिखाई, अतः निराश मतदाताओं ने पुनः कांग्रेस को सत्ता पर बिठा दिया। किंतु असम की स्थिति अशांत ही रही और उल्फा तथा बोडो आतंकवाद व्यापारियों को राज्य से बाहर धकेल रहा है, जिससे असम की अर्थव्यवस्था का तेजी से ह्रास हो रहा है। छोटे उत्तर-पूर्वी राज्य भी आर्थिक मामलों में विशेष सफल नहीं हुए हैं। बेरोजगारी दिन-प्रतिदिन बढ़ रही है और वनों के व्यापक तथा अविचारपूर्ण विनाश से पर्यावरण का संकट पैदा हो गया है। अब तक न तो कांग्रेस ने और न क्षेत्रीय पार्टियों ने इस क्षेत्र की तथा अलग-अलग राज्यों की कठिन समस्याओं से निपटने की योग्यता का प्रमाण दिया है।

चिरजीवी क्षेत्रीय पार्टियों में इस समय अकाली दल, तमिलनाडु की द्रविड़ पार्टियां और एन.टी. रामाराव की तेलुगूदेशम पार्टी है। जैसा कि ऊपर कहा गया, असम गण परिषद का अस्तित्व भी चलायमान लगता है। इन तीन पार्टियों में अकाली दल सबसे पुरानी पार्टी है। इसका जन्म बीस के दशक में गुरुद्वारों को

महंतों के चंगुल से छुड़ाने के आंदोलन में खोजा जा सकता है। अकाली दल का राजनैतिक जीवन उतार-चढ़ावों का रहा है। कभी इसके कांग्रेस के साथ निकट संबंध रहे और कभी दोनों के बीच बड़ी खाई रही।

1946 के चुनावों में—1937के चुनावों से भिन्न— कांग्रेस और अकाली दल के बीच समझौता नहीं हुआ था। कांग्रेस ने सिख-निर्वाचन क्षेत्र में 10 सीटें जीतीं और 23 अकाली दल के पक्ष में गईं। इस प्रकार कांग्रेस सिखों के कुछ समर्थन का दावा कर सकी। पहले आम चुनावों में अकालियों को पृथक निर्वाचन से वंचित होना पड़ा जो अधिकार स्वाधीनता से पहले उन्हें मिला हुआ था, अतः अकाली कांग्रेस के सामने नहीं टिक सके। उन्हें 13 सीटें मिलीं । दूसरे आम चुनाव के समय नेहरू-मास्टर तारासिंह समझौता हुआ और अकालियों ने क्षेत्रीय फार्मूला स्वीकार किया तथा कांग्रेस के साथ राजनैतिक विलय कर लिया। 1962 के चुनावों में कांग्रेस और अकालियों ने फिर एक-दूसरे के खिलाफ चुनाव लड़ा।

प्रताप सिंह कैरों के हटाए जाने से कांग्रेस पंजाब में पंगु हो गई। पंजाबी सूबे के निर्माण और कांग्रेस-विरोधी आम लहर के कारण अकालियों की स्थिति अच्छी हो गई। अन्य गैर-कांग्रेसी पार्टियों की मदद से अकालियों ने जस्टिस गुरनाम सिंह और प्रकाश सिंह बादल के नेतृत्व में 1967, 1969, 1970 और 1977 में संयुक्त सरकारें बनाईं। किंतु ये सरकारें ज्यादा दिन नहीं चलीं। इस बीच कांग्रेस एक खतरनाक रास्ते पर चल पड़ी थी। 1977 के बाद इसने अकालियों को खत्म करने के लिए सिख उग्रवादियों को प्रोत्साहन देना शुरू किया। यह बात किसी से छिपी नहीं है कि भिंडरवाले संजय गांधी की निर्मिति था। अकाली बुरी तरह बंट गए। किंतु सिखों के भीतर के कट्टरवादी तत्व जिन्हें इस बीच मजबूती मिली थी, दूर-दूर तक आतंक फैलाने लगे। कांग्रेस की गुटबाजी के फलस्वरूप (जिससे 1980-82 में दरबारा सिंह सरकार ग्रस्त रही) और व्यापक आतंकवाद के कारण पंजाब का सार्वजनिक जीवन तबाह हो गया।

राजीव-लोंगोवाल समझौते से कोई दिशा नहीं मिली। इसके कई नकारात्मक पहलू थे। अकाली-सिख और पंजाब की राजनीति की कमजोरी है कि उस पर धर्म हावी होता है—नैतिक व्यवस्था या सिद्धांतों के अर्थ में नहीं, धर्मांधता और सांप्रदायिकता के अर्थ में । ब्रिटिश शासन के अंतर्गत बने शिरोमणि गुरुद्वारा प्रबंधक कमेटी कानून ने विनाशक शक्ति का काम किया है। पंजाब में गुरुद्वारों के नियंत्रण का केंद्रीकरण करके इसने गुरुद्वारों के विशाल आय-साधन और शक्ति धार्मिक नेताओं के हाथ में सौंप दी। इन नेताओं ने इस शक्ति का समझदारी से उपयोग नहीं किया है। पिछले कई वर्षों से वे इसी तरह का अखिल भारतीय कानून बनाने की मांग करते रहे हैं। राजीव गांधी ने मूर्खतावश इसकी सहमति भी दे दी।

यह बहुत विनाशकारी सिद्ध होगा। वास्तव में गुरुद्वारों का नियंत्रण विकेंद्रित किया जाना चाहिए ताकि धर्मांधों का गुरुद्वारों के धन पर कब्जा न रहे। यह विकेंद्रीकरण दूसरे धर्मों के पूजा-स्थलों का भी होना चाहिए।

राजीव-लोंगोवाल समझौते के बाद हुए चुनावों में अकाली दल पहली बार पूर्ण बहुमत के साथ सत्ता में आया। किंतु अकालियों में आतंकवाद से लड़ने की संकल्प-शक्ति नहीं थी। आतंकवादियों ने लोंगोवाल की भी हत्या कर दी (बाद में वित्तमंत्री बलवंत सिंह की भी)। 1985 के चुनावों में सफलता के बाद सुरजीत सिंह बरनाला ने सरकार बनाई, लेकिन यह सरकार ढुलमुल रही। गुटबाजी के चलते अमरेंद्र सिंह और प्रकाश सिंह बादल अलग हो गए। अंत में राजीव गांधी के पास बरनाला सरकार को बर्खास्त करने के सिवा कोई चारा नहीं रहा। उग्रवाद अब आपराधिक गतिविधियों पर उतर आया था। लोग शांति के लिए तरस रहे थे। अकालियों के बिखराव और उनके द्वारा चुनाव के बहिष्कार से कांग्रेस के नए मुख्यमंत्री बेअंत सिंह को मौका मिला और उन्होंने के. पी. एस. गिल की मदद से आतंकवाद पर काबू पा लिया।

एक दशक से अधिक समय तक बेतुकी हिंसा के बाद पंजाब में शांति स्थापित हुई है। आतंकवादी शायद अब हिंसा की व्यर्थता को समझने लगे हैं। किंतु स्थिति अब भी अनिश्चित बनी हुई है। अकाली 10 गुटों में विभाजित हो सकते हैं किंतु सिखों की भावनाएं अब भी कांग्रेस के साथ नहीं हैं। ब्लूस्टार कार्रवाई और 1984 के सिख-विरोधी दंगों ने – जिन्हें भड़काने में दिल्ली के कुछ कांग्रेसी नेताओं का हाथ रहा–कांग्रेस की छवि कलंकित कर दी है। निकट भविष्य में अकालियों की संभावनाएं भी बहुत धूमिल हैं। वर्तमान शांति कितनी स्थायी होगी, इस प्रश्न का उत्तर भविष्य ही देगा। सिखों को यह अहसास कब होगा कि उनकी किस्मत भारत के साथ जुड़ी हुई है और भारत के लोग उन्हें राष्ट्रीय जीवन में गर्व का स्थान देना चाहते हैं।

तमिलनाडु की द्रविड़ मुनेत्र कड़गम पार्टी भी बहुत पुरानी क्षेत्रीय पार्टी है। राजनीति में यह जस्टिस पार्टी की उत्तराधिकारी है और सामाजिक क्षेत्र में पेरियार रामास्वामी नायकर के आत्म-सम्मान आंदोलन तथा द्रविड़ कड़गम की। इन दोनों आंदोलनों का तमिलनाडु में काफी प्रभाव रहा। किंतु राष्ट्रीय स्वाधीनता आंदोलन की अपील इतनी शक्तिशाली थी कि जब 1937 में प्रांतीय स्वायत्तता लागू हुई तो कांग्रेस ने जस्टिस पार्टी को बुरी तरह परास्त कर दिया। जस्टिस पार्टी के कई तबकों को कांग्रेस ने अपने में समाहित कर लिया और कांग्रेस का लगभग तीन दशकों तक (1937-67) वर्चस्व बना रहा। किंतु द्रविड़ मुनेत्र कड़गम के रूप में एक नई क्षेत्रीय चुनौती तैयार हो रही थी, जिसके नेता पेरियार से अलग हो गए थे।

उसका उत्कर्ष बड़ी तेजी से हुआ। पहली विधानसभा में (अविभाजित मद्रास प्रेजीडेंसी में) साम्यवादी पार्टी आंध्र क्षेत्र में ही नहीं बल्कि तमिलभाषी क्षेत्र में भी प्रमुख विपक्षी ग्रुप था। आंध्र प्रदेश के अलग हो जाने के बाद द्रमुक शक्तिशाली होने लगा। उसके मुख्य प्रचार मुद्दे थे उत्तर बनाम दक्षिण, ब्राह्मण बनाम गैर-ब्राह्मण, हिंदी बनाम तमिल तथा अंग्रेजी। अन्नादुराई के झंडे के आसपास फिल्मी सितारे जमा होने लगे। 1962 के चुनावों में अन्नादुराई ने विधानसभा में 50 सीटें जीत कर सबको चकित कर दिया। लोकसभा के लिए उसके 8 सदस्य चुने गए। कामराज को तमिलनाडु (उस समय मद्रास) के मुख्यमंत्री पद से हटाकर कांग्रेस का अध्यक्ष बनाया गया। यह द्रमुक के लिए वरदान सिद्ध हुआ। चीन के साथ हुए सीमा-युद्ध ने देशभक्ति का ज्वार पैदा किया जिससे द्रमुक भी अछूती नहीं रही। संविधान में संशोधन करके अलगाववाद को प्रतिबंधित किया गया और द्रमुक को अपना अलगाववादी मुद्दा छोड़ना पड़ा। उसके बाद द्रमुक राज्य की स्वायत्तता पर जोर देने लगी, न कि अलगाववाद पर और वह तेजी से प्रगति करने लगी। 1965 के हिंदी-विरोधी आंदोलन से उसे बहुत लाभ हुआ।

1940 के दशक में सत्यमूर्ति-कामराज गुट ने राजाजी को हाशिये पर डाला था। 1954 में राजाजी को अंतिम रूप से बाहर धकेल दिया गया। अब द्रमुक को राजाजी का आशीर्वाद मिला और उसने कांग्रेस-विरोधी शक्तिशाली मोर्चा बनाया, जिसमें उसने स्वतंत्र पार्टी, मुस्लिम लीग और कम्युनिस्टों को साथ कर लिया और 1967 में कांग्रेस को चुनावों में भारी पराजय मिली। न केवल केंद्रीय मंत्री सी. सुब्रह्मण्यम बल्कि कामराज भी द्रमुक के एक नौजवान से हार गए। संभवतः कांग्रेस की भारी पराजय ने अन्नादुराई को भी आश्चर्य में डाल दिया। उन्होंने संसदीय उम्मीदवार के रूप में चुनाव लड़ा था। यदि उन्हें विधानसभा में बहुमत प्राप्त करने का यकीन होता तो वे संसद का चुनाव न लड़ते। फिर भी अन्नादुराई को विधानसभा में द्रमुक का नेता चुना गया। वे मुख्यमंत्री बने, विधानसभा का उपचुनाव लड़ा और जीता और लोकसभा की सदस्यता छोड़ दी।

अन्नादुराई की मृत्यु के बाद द्रमुक का नेतृत्व करुणानिधि के पास आ गया। उन्होंने इंदिरा गांधी की पेशकश को स्वीकार करके 1971 के मध्यावधि लोकसभा और विधानसभा चुनावों में कांग्रेस से समझौता कर लिया। कांग्रेस ने विधानसभा चुनावों से हाथ खींच लिए और द्रमुक का समर्थन किया। 1972 में द्रमुक में विद्रोह की पहली गड़गड़ाहट सुनाई दी और फिल्मी हीरो एम. ज़ी. रामचंद्रन द्रमुक से अलग हो गए। कांग्रेस-द्रमुक संबंधों में तनाव पैदा हुए और 1976 में करुणानिधि की सरकार को बर्खास्त किया गया। 1977 में कांग्रेस और एम.जी. रामचंद्रन के नए गठबंधन ने भारी जीत प्राप्त की, किंतु जब कांग्रेस की केंद्र में सरकार नहीं बनी तो एम.जी.

रामचंद्रन जनता पार्टी की तरफ आकृष्ट होने लगे (1977-80)। इंदिरा गांधी इस पर खफा हुई। अब तमिलनाडु में गठबंधन उलट गया और 1980 के चुनावों में भूतपूर्व शत्रु–कांग्रेस और द्रमुक–फिर मित्र बन गए। तमिल मतदाता केंद्रीय सरकार की स्थिरता के महत्व को समझते थे, इसलिए उन्होंने केंद्र के लिए इंदिरा गांधी का समर्थन किया यद्यपि विधानसभा के चुनावों में वे एम.जी. रामचंद्रन की पार्टी को समर्थन देते रहे। एम.जी. रामचंद्रन की मृत्यु के बाद अन्नाद्रमुक के विभाजन से पहले ही 1989 के चुनाव हुए, जिसमें कांग्रेस और अन्नाद्रमुक के दोनों धड़ों ने अलग-अलग चुनाव लड़े। वे सब द्रमुक से पराजित हो गए। इन चुनावों से पता चला कि तमिलनाडु में कांग्रेस प्रमुख शक्ति नहीं, सहायक शक्ति ही हो सकती है। अन्नाद्रमुक का जानकी धड़ा जल्दी ही निस्तेज हो गया और जयललिता का पार्टी पर अधिकार हो गया। द्रमुक सरकार को चंद्रशेखर ने बर्खास्त कर दिया – संभवतः जयललिता के दबाव में आकर – और 1991 के चुनावों में कांग्रेस और अन्नाद्रमुक का गठबंधन पुनर्जीवित किया गया। ऐसा लगता है कि तमिलनाडु के मतदाताओं ने फैसला कर लिया है कि एक तरफ वे केंद्रीय सरकार की स्थिरता के लिए वोट देंगे और दूसरी तरफ राज्य के विशेष हितों की अभिव्यक्ति क्षेत्रीय पार्टी के माध्यम से करेंगे। पहले उद्देश्य की प्राप्ति के लिए तमिलनाडु ने कांग्रेस-क्षेत्रीय पार्टी गठबंधन को 1971 व 1980 में (द्रमुक के साथ गठबंधन) और 1985 व 1991 में (अन्नाद्रमुक के साथ गठबंधन) वोट दिया। केवल एक बार मतदाताओं ने गलती की। 1977 में भारत के उत्तर-पश्चिम, उत्तर, मध्य, पूर्व और पश्चिम ने कांग्रेस के विरुद्ध मत दिया और जनता पार्टी को सरकार बनाने का मौका दिया। किंतु तमिलनाडु ने कांग्रेस-अन्नाद्रमुक गठबंधन को वोट दिया, केन्द्र में जीतने वाली पार्टी को नहीं। बाद के लोकसभा चुनावों मं मतदाताओं ने इस गलती कों सुधार लिया।

कुछ दशक पहले तमिलनाडु को देश में सबसे अच्छे प्रशासन वाला एक राज्य माना जाता था। किंतु अब दूसरे राज्यों की तरह यहां भी प्रशासन का स्तर गिरा है। व्यक्ति-पूजा और राजनीति-नौकरशाही-पुलिस-अपराधी जगत के आम गठबंधन ने प्रशासनिक कुशलता और कानून-व्यवस्था को भारी नुकसान पहुंचाया है।

भारत की बहुरंगी संस्कृति के निर्माण में तमिलनाडु का योगदान बहुत महत्वपूर्ण रहा है। ईश्वर-विरोधी, उत्तर-विरोधी और अलगाववादी प्रचार के बावजूद तमिलनाडु के लोग अत्यन्त धार्मिक रहे हैं। वे राष्ट्रीय एकता के प्रति अपने ढंग से समर्पित हैं। तमिलनाडु कांचीपुरम, श्रीरंगम, रामेश्वरम आदि अखिल भारतीय महत्व के तीर्थस्थलों का प्रदेश है। यह भारत के अन्य भागों की तुलना में कई अधिक शानदार मंदिरों पर गर्व कर सकता है। यदि कोई तंजावूर के भव्य वृहदेश्वर मंदिर में कुछ घंटे चुपचाप बैठकर देखे तो उसे पता चल जाएगा कि भारत का दिल कैसे धड़कता

धड़कता है। मैंने खुद वहां कुछ मुसलमानों को, जिनमें महिलाएं भी थीं, श्रद्धालुओं और दर्शनार्थियों की भीड़ में देखा है। काशी और बद्रीनाथ की यात्रा के लिए जो दक्षिण के तीर्थयात्री जाते हैं उनमें तमिलनाडु के तीर्थयात्रियों की संख्या सबसे अधिक होती है। भारतीय संघ की कल्पना तमिलनाडु के बिना नहीं की जा सकती है, उसी तरह जैसे अन्य राज्यों के बिना उसकी कल्पना नहीं की जा सकती। इस प्रदेश के द्वारा क्षेत्रीय पार्टियों को दिए गए लगातार समर्थन का यह मतलब नही है कि यहां के लोगों को राष्ट्रीय एकता की जरा भी परवाह नहीं है।

हाल के वर्षों में जिस क्षेत्रीय पार्टी का अद्भुत उत्कर्ष देखने में आया, वह निस्संदेह आंध्र प्रदेश की तेलुगूदेशम पार्टी है। इसकी स्थापना फिल्मी दुनिया की प्रसिद्ध हस्ती एन.टी. रामाराव ने की, जिन्होंने फिल्मों में पौराणिक नायकों की भूमिका में प्रसिद्धि प्राप्त की थी। तेलुगूदेशम का पहला सम्मेलन 11 अप्रैल 1982 को हुआ। दूसरा सम्मेलन कुछ समय बाद ही 22 मई 1982 को हुआ। उसके बाद एन.टी. रामाराव ने प्रदेश का व्यापक दौरा किया। दौरा बहुत श्रम-साध्य था, हर रोज 30-40 जनसभाओं को वे संबोधित करते थे। भीड़ को–विशेषकर गरीबों तथा औरतों की भीड़ को – आकृष्ट करने में उन्होंने इंदिरा गांधी को भी मात दे दी। फिल्मी हीरो के तीव्र उत्थान का कारण केवल उनके व्यक्तित्व का आकर्षण ही नहीं था। यह सही है कि वे अपनी बात को अच्छे ढंग से कह सकते थे और तेलुगू भाषियों के दिलों के तार झंकृत कर सकते थे; पौराणिक कहानियों, प्राचीन ज्योतिषीय भविष्यवाणियों, संक्षेप में काम की सभी बातों का उस जनसंपर्क-कुशल व्यक्ति ने चतुराई से इस्तेमाल किया। किंतु इन विशेषताओं के बावजूद वे आंध्र प्रदेश की जनता का दिल नहीं जीत सकते थे यदि तेलुगूभाषी लोगों में कांग्रेस के प्रति व्यापक विकर्षण न पैदा हुआ होता। 1952 से 1955 तक ऐसा लगता था कि कांग्रेस को आंध्र प्रदेश में मुख्य चुनौती साम्यवादी पार्टी की तरफ से मिलेगी। पृथक आंध्र की स्थापना 1953 में हुई। यद्यपि कांग्रेस ने टी. प्रकाशम को प्रजा समाजवादी पार्टी छोड़कर कांग्रेस में शामिल होने के लिए तैयार कर लिया लेकिन उनकी सरकार ज्यादा दिन नहीं टिकी। नया चुनाव जरूरी हो गया। आंध्र प्रदेश विधानसभा के 1955 के चुनावों में संयुक्त भाकपा ने कांग्रेस के विरुद्ध जोरदार अभियान चलाया, किंतु वह पराजित हुई और फिर लगभग तीन दशकों तक कांग्रेस का आंध्र प्रदेश की सरकार और राजनीति पर वर्चस्व बना रहा।

आंध्र के कम्युनिस्टों में दो बार विभाजन हुआ, पहले संयुक्त कम्युनिस्ट पार्टी में और फिर मार्क्सवादी कम्युनिस्ट पार्टी में। इस प्रकार साम्यवादी आंदोलन के ह्रास के कारण कम्युनिस्टों की चुनौती खत्म हुई। आंध्र प्रदेश में विपक्षी राजनीति में रिक्ति पैदा हुई। पहले आम चुनाव में मद्रास के तेलुगूभाषी क्षेत्रों तथा हैदाराबाद की

रियासत में कांग्रेस की लोकसभा तथा विधानसभा चुनावों में उपलब्धि बहुत मामूली रही थी। लेकिन आंध्र का संयुक्त राज्य बनने के बाद हुए लोकसभा के दूसरे चुनाव में उसे 51.5 प्रतिशत वोट मिले। इसके बाद कांग्रेस ने पीछे मुड़कर नहीं देखा। लोकसभा के पांचवें आम चुनाव में उसका वोट प्रतिशत 55.7 प्रतिशत हो गया। 1977 के ऐतिहासिक लोकसभा चुनाव में भी आंध्र प्रदेश ने कांग्रेस का समर्थन किया और उसे 57.4 प्रतिशत वोट मिला। नीलम संजीव रेड्डी के नेतृत्व में जनता पार्टी-भाकपा गठबंधन को आंध्र प्रदेश से संसद की 42 सीटों में से केवल एक सीट मिली। विधानसभा चुनावों में इन सारे वर्षों में कांग्रेस को अच्छी सफलता मिली। 1978 में कांग्रेस में एक और विभाजन हुआ। लेकिन न तो जनता पार्टी और न वेंगलराव की कांग्रेस 'महान अम्मा' इंदिरा गांधी का मुकाबला कर सकी। 1980 के लोकसभा चुनाव में भी इंदिरा गांधी ने अपनी आश्चर्यजनक सफलता को दुहराया।

1978 में चुनी गई विधानसभा में ऐसा क्या हुआ जिससे आंध्र के लोग इंदिरा गांधी के खिलाफ हो गए? सबसे बड़ा कारण था इंदिरा कांग्रेस द्वारा आंध्र प्रदेश में मुख्यमंत्रियों की अदला-बदली। 1978 के चुनावों में इंदिरा कांग्रेस के चेन्ना रेड्डी ने वेंगलराव से कुर्सी छीनी थी। चेन्ना रेड्डी को 11 अक्तूबर 1980 को हटाया गया और उनकी जगह टी. अंजैया को मुख्यमंत्री बनाया गया। मुख्यमंत्री के पद की प्रतिष्ठा निम्नतम स्तर पर आ गई। अंजैया को राजीव गांधी ने, जो महज कांग्रेस के महासचिव थे, खुलेआम अपमानित किया। फिर उसे 18 महीने से भी कम अवधि में 24 फरवरी, 1982 को हटाया गया तथा उसकी जगह वेंकटरामा रेड्डी को मुख्यमंत्री बनाया गया। यह मुख्यमंत्री सात महीने भी काम नहीं कर सका। 19 सितंबर 1982 को विजय भास्कर रेड्डी को लाया गया। आंध्र की जनता ने इसमें अपने को अपमानित महसूस किया। उनके स्वाभिमान को बड़ी ठेस लगी। केंद्र ने आंध्र प्रदेश के मुख्यमंत्रियों के प्रति जो तिरस्कार दिखाया उसे मतदाताओं ने अपना अपमान समझा। केंद्र की कांग्रेस द्वारा धन की लगातार मांग और आंध्र प्रदेश के कांग्रेसी राजनेताओं के भ्रष्टाचार ने प्रत्येक व्यक्ति को लज्जित किया। पिछड़े वर्ग, हरिजन और महिलाओं का वर्ग कांग्रेस से दूर हो गया। इस मनोवैज्ञानिक स्थिति का लाभ एन.टी. रामाराव ने उठाया। लोगों ने उत्साह के साथ उनका स्वागत किया। जनवरी, 1983 में हुए चुनावों में एन.टी. रामाराव की तेलुगूदेशम पार्टी ने इंदिरा कांग्रेस को बुरी तरह परास्त कर दिया।

बड़े दुख की बात है कि इंदिरा गांधी, राजीव गांधी और उनके सलाहकारों सहित कांग्रेस के नेतृत्व ने आंध्र प्रदेश और कर्नाटक में अपनी पराजय से कोई सबक नहीं सीखा। न तो उन्होंने राज्य के पार्टी-संगठनों को चलाने की अपनी शैली को बदला और न सरकार के स्तर पर केंद्र-राज्य संबंधों के प्रबंधन के तरीकों को

बदला। जब आंध्र प्रदेश में उनके हाथों से सत्ता छिन गई तो उन्होंने 1967-69 के पुराने हथकंडे अपनाकर, पद का प्रलोभन देकर, दल-बदल को प्रोत्साहन देना शुरू किया। एन. भास्कर राव एन.टी. रामाराव के पुराने समर्थक थे। मुख्यमंत्री के काम करने के ढंग से नाराज होकर उन्होंने इंदिरा गांधी से गुप्त बातचीत चलाई। आंध्र के राज्यपाल को इस षड्यंत्र की जानकारी थी। जब असंतुष्टों की संख्या काफी हो गई तो राज्यपाल ने राजीव गांधी तथा अरुण नेहरू के कहने पर रामाराव को बर्खास्त कर दिया और उनकी जगह पर एन. भास्कर राव को मुख्यमंत्री बना दिया। जी.पी. मूपनार ने हैदराबाद से लौटने के बाद मुझे बताया कि इंदिरा गांधी की योजना थी कि विद्रोह को प्रबल होने दिया जाए और विधानसभा में ही रामाराव की सरकार को गिराया जाए। किंतु भास्कर राव और राज्यपाल जल्दी में थे और जब उन्हें राजीव गांधी एवं अरुण नेहरू ने हरी झंडी दिखा दी तो उसने अपना काम कर दिया। इससे न सिर्फ आंध्र प्रदेश में बल्कि देश भर में तूफान खड़ा हो गया। कुछ समय से रामाराव की लोकप्रियता घट रही थी। किंतु इंदिरा कांग्रेस के आदेश पर राज्यपाल की शक्तियों के दुरुपयोग से रामाराव के पक्ष में सहानुभूति की लहर पैदा हो गई। विपक्षी दलों ने भी रामाराव का साथ दिया और कांग्रेस को अपने कदम वापस खींच कर जनमत के आगे झुकना पड़ा।

इसके बाद लोकसभा के चुनाव आए। रामाराव ने अविश्वसनीय विधानसभा को भंग कराकर दलबदलुओं को सजा दी। 1977 में लगभग सारा देश इंदिरा के नेतृत्व वाली कांग्रेस के खिलाफ हो गया था। किंतु दक्षिणी राज्य, विशेषकर आंध्र प्रदेश, उसके साथ रहा। 1984 में सारा देश इंदिरा गांधी की हत्या से विचलित होकर कांग्रेस के पक्ष में हो गया। किंतु आंध्र प्रदेश के मतदाता कांग्रेस से इतने क्रुद्ध थे कि कांग्रेस कुल 42 में से 6 लोकसभा सीटें जीत सकी। तेलुगूदेशम को लोकसभा की 30 सीटें मिलीं और संसदीय इतिहास में पहली बार लोकसभा में एक क्षेत्रीय पार्टी सबसे बड़ी विपक्षी पार्टी बनी। रामाराव की सरकार का काम बहुत मामूली रहा और उसका पांच साल का कार्यकाल समाप्त होने पर प्रदेश की सत्ता फिर कांग्रेस के हाथ में आ गई। कांग्रेस के उत्कर्ष की 1991 के लोकसभा चुनावों से भी पुष्टि हुई।

ऐसा लगता है कि रामाराव को 1995 में पुनः सत्ता में आने की काफी आशा है।

क्षेत्रीय पार्टियों के अध्ययन से यह विरोधाभास स्पष्ट होता है कि यद्यपि विशाल विविधताओं वाले इस देश की एकता बनाए रखने के लिए एक सुसंगठित राष्ट्रीय पार्टी बहुत आवश्यक है, किंतु एक केंद्रीय राष्ट्रीय पार्टी – सरकार और पार्टी के स्तर पर – स्वतंत्र रूप से काम करने की राज्यों की उचित आकांक्षाओं की उपेक्षा

करती है। केंद्र के प्रभुत्व से व्यापक असंतोष पैदा होता है और कभी-कभी तो यह अपने उद्देश्य ही को विफल करने वाला उग्र रूप ले लेता है। जहां प्रदेश के लोग यह देखते हैं कि उनके साथ बहुत अन्याय हुआ है (जैसे पंजाब के साथ 1969 में और आध्र प्रदेश के साथ 1984में), वहां वे अगला अवसर मिलते ही चुनावों में बदला ले लेते हैं। लेकिन कभी-कभी लोग समझते हैं कि केंद्र का हस्तक्षेप अनुचित नहीं होता। 1991 में तमिलनाडु की जनता ने बर्खास्त की गई द्रमुक सरकार को समर्थन नहीं दिया।

इसी तरह जब अत्यधिक केंद्रीयकृत पार्टी की राज्य सरकार जान-बूझ कर संवैधानिक व्यवस्था को चुनौती देती है, जैसे कि भाजपा ने 6 दिसंबर, 1992 को उत्तर प्रदेश में दी थी, तो अनुच्छेद 356 के अंतर्गत राष्ट्रपति शासन अनिवार्य हो जाता है। चुनावी परिणाम बताते हैं कि उत्तर प्रदेश की जनता की केंद्रीय कार्रवाई से असहमति नहीं थी।

समय-समय पर क्षेत्रीय पार्टियों के उभरने का एक और कारण जाति तथा सांप्रदायिक और भाषायी निष्ठा की जड़ों वाले शक्तिशाली और अहंकारी स्थानीय नेताओं की सामंती दादागिरी है। ये सामंत अपने आप में कानून होते हैं। उन्हें लोगों की वास्तविक अथवा कल्पित शिकायतों से खाद मिलती है। जब तक उचित शिकायतों को दूर नहीं किया जाता और मतदाता विवेक का अधिक इस्तेमाल नहीं करते, इस सामंती दादागिरी को खत्म नहीं किया जा सकता।

मैं भाषा, संप्रदाय या क्षेत्रीय भावना पर आधारित संकीर्ण राजनैतिक ग्रुपों (जैसे शिवसेना, उल्फा, आई.एस.एस आदि) को राजनैतिक प्रणाली के गलत ढंग से काम करने के लक्षण मानता हूं न कि शक्ति के लक्षण। अतः मैं कुछ विद्वान राजनैतिक वैज्ञानिकों एवं समाजशास्त्रियों की तरह इस सुझाव के प्रति उत्साहित नहीं हूं कि इन अहंकारी क्षेत्रीय नेताओं का एक ढीला-ढाला संघ देश को चला सकता है और उसकी एकता को बनाए रख सकता है। मैं मानता हूं कि देश का हित इस बात में है कि राजनैतिक दल लोकतांत्रिक ढंग से काम करें, वे अपनी आय के स्रोतों को अनिवार्य रूप से जनता के सामने रखें और विभिन्न प्रतिनिधि संस्थाओं के उम्मीदवार चुनने के मामले में पार्टी के तथाकथित करिश्माई नेताओं की शक्ति पर अंकुश लगाएं।

उपरोक्त पेचीदगियों के मद्देनजर, मेरे विचार से केंद्र के वर्चस्व बनाम राज्य की स्वायत्तता के सवाल पर अमूर्त ढंग से बहस करना लाभदायक नहीं होगा। हम भारतीयों में एंग्लो-सैक्शन देशों की तरह मिलजुल कर काम करने की प्रतिभा नहीं है। दुर्भाग्य से हमारी प्रवृत्ति अतिवाद की है। हमने मध्य मार्ग को सोच-समझ कर और लगन के साथ नहीं अपनाया है। जब तक ऐसा नहीं होता तब तक केंद्रीय

सरकार को राज्य सरकारों के मुकाबले में पूर्णतया निहत्था नहीं किया जा सकता। साथ ही, जब तक केंद्र का रवैया नहीं बदलता तथा वह प्रेमपूर्वक सावधानी से राज्य के हितों के लिए काम नहीं करता तब तक क्षेत्रीय पार्टियां खत्म नहीं होंगी और न ही केंद्र के खिलाफ उग्र अथवा लोकतांत्रिक एवं शांतिपूर्ण विद्रोह-विरोध खत्म होंगे। हो सकता है मेरे ये निष्कर्ष बहुत अस्पष्ट और कुछ निराशाजनक हैं, लेकिन वास्तविकता यही है।

शेखचिल्ली की दुनिया के संभ्रांत व्यक्ति : विश्वनाथ प्रताप सिंह

वास्तविकता से आंख चुरानेवाले दो प्रकार के लोग होते हैं। एक वे जो पीछे की ओर देखकर अतीत की रंगीन वादियों में खो जाते हैं और उन्हें अपना वर्तमान मानने लगते हैं। दूसरे वे जो भविष्य की अतिकल्पनाओं को वर्तमान मानकर जीने लगते हैं। भारत में ऐसी पहली श्रेणी हिंदू-मुस्लिम-सिख फंडामेंटलिस्ट (रूढ़िवादी) पार्टियों की है। दूसरी श्रेणी में जनता दल का वर्तमान नेतृत्व आता है जो हमारा विचारणीय विषय है।

जनता दल बड़ी तेजी से उपहास का विषय बनता जा रहा है। उसने अपनी स्थिति को वास्तव में दयनीय बना लिया है। केवल चार या पांच साल पूर्व ही वह राजनीति के गगन का चमकता सितारा था। ऐसा लगता था कि यह उस रिक्तता को भरेगा जो राजीव गांधी के नेतृत्व में इंदिरा कांग्रेस के सिकुड़ने से बन रही थी। 1989 के लोकसभा चुनावों में उसने 144 निर्वाचन क्षेत्रों में जीत हासिल की थी। वामपंथी दलों और भाजपा की मदद से उसने केंद्र में सरकार बनायी। उत्तर प्रदेश और बिहार में उसकी उपलब्धि बहुत अच्छी रही। जब भाजपा से उत्तर प्रदेश के कुछ क्षेत्रों में उसका मैत्रीपूर्ण मुकाबला हुआ–आपसी तालमेल से बाहर–तो भाजपा को जनता दल ने बुरी तरह हराया। विधानसभा चुनावों में भी उसे अच्छी सफलता मिली। भाजपा ने हिमाचल प्रदेश और मध्य प्रदेश में अपने बूते पर सरकारें बनायीं जबकि उत्तर प्रदेश और बिहार के दो विशाल राज्य और उड़ीसा जनता दल की झोली में गये। हरियाणा में उसे पहले ही दो-तिहाई बहुमत प्राप्त था। राजस्थान और गुजरात में संयुक्त सरकारें बनीं। पहली का नेतृत्व भाजपा ने और दूसरी का जनता दल ने किया।

यदि भारतीय राजनीति के मंच पर जनता दल को मध्य स्थान दिलाने का श्रेय विश्वनाथ प्रताप सिंह को जाता है—और इससे इनकार नहीं किया जा सकता—तो बाद में उसे हाशिए पर फेंक दिये जाने का दोष भी उन्हें मुख्य रूप से दिया जा सकता है।

विश्वनाथ प्रताप सिंह का व्यक्तित्व एक प्रसिद्ध लेखक के शब्दों में विरोधाभासों का पुलिंदा है। उनकी ख्याति पैसे के मामले में ईमानदार आदमी की थी। वस्तुतः उनकी व्यक्तिगत ईमानदारी पर किसी जिम्मेदार व्यक्ति ने अंगुली नहीं उठायी, हांलाकि उन्हें बदनाम करने के कुछ अनगढ़ प्रयास हुए। लेकिन इसका यह मतलब नहीं कि वे और मामलों में संदेह से परे थे। उनके व्यक्तित्व की कुछ ऐसी समस्याएं हैं जो उन्हें फिल्मी सितारों की तरह दो भूमिकाएं अदा करने के लिए विवश करती हैं। एक सत्ता की राजनीति करनेवाले के रूप में और दूसरी गरीबों और निम्नवर्गों के मसीहा के रूप में। इसके कारण उन्हें अपने को सत्ता और पद के मोह से परे सिद्ध करने के लिए छल का सहारा लेना पड़ता है। पांच साल पूर्व उन्होंने अपना अभियान इस बयान से शुरू किया था कि वे इलाहाबाद का चुनाव तब तक नहीं लड़ेंगे जब तक अमिताभ बच्चन उनके मुकाबले में नहीं होंगे। जल्दी ही वे अपनी बात से मुकर गये। फिर उन्होंने कहा कि वे प्रधानमंत्री नहीं बनना चाहते हैं। वे इस बात पर भी टिके नहीं रहे। वे न सिर्फ प्रधानमंत्री बने बल्कि उन्होंने इसके लिए बिना जरूरत टेढ़ा-मेढ़ा रास्ता अपनाया। 1989 में वे बड़ी आसानी से लोकतांत्रिक चुनाव द्वारा जनता दल संसदीय पार्टी के नेता बन सकते थे, किंतु चुनाव से बचने और चंद्रशेखर को चकमा देने के लिए उन्होंने छल-कपट का सहारा लिया। उन्होंने नेता पद के लिए देवीलाल का नाम प्रस्तावित किया। देवीलाल सर्वसम्मति से नेता घोषित हो गये। उन्होंने तुरंत नेता पद अस्वीकार किया और विश्वनाथ प्रताप सिंह को यह पद स्वीकार करने की पेशकश की। विश्वनाथ प्रपात सिंह ने इसे विनम्रता का नाटक करते हुए तत्काल स्वीकार कर लिया। यह स्पष्ट था कि इस तिकड़म से सदस्य दंग रह गये। चंद्रशेखर को लगा कि उनके साथ धोखा हुआ है। इस सौदेबाजी का एक हिस्सा यह था कि देवीलाल को उपप्रधानमंत्री और उनके बेटे ओमप्रकाश चौटाला को हरियाणा का मुख्यमंत्री बनाया जाये। आठ महीने के अंदर ही इसके परिणाम सामने आये। देवीलाल और विश्वनाथ प्रताप सिंह लड़ पड़े।

कुछ दिनों से विश्वनाथ प्रताप सिंह ने राज्य और पार्टी के उच्च पदों को बांटने का काम शुरू किया है। उन्होंने गणतंत्र के राष्ट्रपति का पद हरिजन या आदिवासी को देने का प्रस्ताव रखा और इस बात पर वामपंथियों से भी संबंध तोड़ लिये। वे अन्य पद मित्रों तथा सहयोगियों को बांटते रहे। उन्होंने लालूप्रसाद यादव को प्रधानमंत्री के पद की पेशकश की— ऐसे समय में जब जनता दल के सदस्यों की

संख्या घट रही थी और उसकी प्रतिष्ठा भी गिर रही थी। लालूप्रसाद इसमें फंस गये और वे पिछले साल नवंबर के चुनाव में जोरशोर के साथ चुनाव अभियान में कूद पड़े। अब उन्होंने देवगौडा को कर्नाटक के मुख्यमंत्री का पद दे दिया है जहां उनका अपना प्रभाव नगण्य है। उन्होंने पार्टी अध्यक्ष का पद ईसाई जार्ज फर्नांडिस को देने का भी प्रस्ताव किया था, किंतु फिर उनका नाम हटा लिया जिसकी परिणति 21 जून के जद के कमरतोड़ विभाजन में हुई। कुछ दिन पहले एसआर बोम्मई और लालूप्रसाद यादव ने जनता दल की कार्यकारिणी को बताया कि विश्वनाथ प्रताप को खुद पार्टी अध्यक्ष बनने से परहेज नहीं है । जब विश्वनाथ प्रताप प्रधानमंत्री थे तो राज्यसभा के लिए उन्होंने अगड़े वर्ग के सदस्यों को ही चुना, फिर भी उनके अनुयायी दावा करते है कि वे सामाजिक न्याय के मसीहा हैं। किंतु अपने पिछले राजनीतिक जीवन में उन्होंने कभी अनुसूचित जातियों, जनजातियों और पिछड़े वर्गों के अधिकारों की वकालत नहीं की थी। उनके द्वारा मंडल रिपोर्ट को गुटीय संघर्ष के हथियार के रूप में इस्तेमाल किया गया। किंतु उन्होंने मसीहा का चोला पहना और इस प्रक्रिया में भाजपा को अलग-थलग कर दिया तथा विश्वास प्रस्ताव खो दिया। पार्टी टूट गयी। पहले विश्वनाथ प्रताप सिंह देवीलाल से भिड़े, फिर मुलायम सिंह से और अंत में अजीत सिंह से। इन सब बातों ने जनता दल के चुनावी भविष्य को प्रभावित किया।

पहले नौवीं और दसवीं लोकसभा के परिणामों पर नजर डालें। बिहार में जनता दल का वोट 37.66 प्रतिशत से गिरकर 34.14 प्रतिशत रह गया। तीन प्रतिशत से कुछ अधिक की हानि हुई। उत्तर प्रदेश में 1989 के 35.90 प्रतिशत से घटकर 1991 में जद का वोट 21.65 प्रतिशत रह गया। उड़ीसा में भी वोट का प्रतिशत गिरा। कर्नाटक में यह हानि लगभग 10 प्रतिशत रही अर्थात यह 28.34 से घटकर 18.47 प्रतिशत रह गया। राजस्थान में तो यह बहुत ही नीचे आ गया – 25.68 प्रतिशत से घटकर 6.16 प्रतिशत रह गया। हरियाणा और गुजरात में तो जनता दल का सफाया ही हो गया।

क्या जनता दल ने अपने इस पराभव से कोई सीख ली? नहीं, उसमें गुटीय संघर्ष चलता रहा। लोकसभा चुनावों के बाद उत्तर प्रदेश में हुए उपचुनावों में विश्वनाथ प्रताप सिंह ने अपना अधिकांश समय अमेठी में बिताया–सतीश शर्मा के विरुद्ध अपने उम्मीदवार के प्रचार के लिए। किंतु जनता दल के उम्मीदवार की जमानत जब्त हो गयी। जनता दल पर इसका कोई असर नहीं हुआ। वस्तुतः झगड़े और बढ़ गये। नवंबर 1993 में लघु आम चुनाव हुए। इस महत्वपूर्ण शक्ति-परीक्षण में जनता दल की हानि मध्य प्रदेश में 9.81 प्रतिशत, राजस्थान में 17.8 प्रतिशत, हिमाचल प्रदेश में 3.87 प्रतिशत और उत्तर प्रदेश के महत्वपूर्ण राज्य

में इसका वोट 1991 के 18.84 प्रतिशत की तुलना में 1993 में 12.33 प्रतिशत रह गया।

सर्वविदित है कि विश्वनाथ प्रताप सिंह ने विधानसभा चुनाव से पहले यह वक्तव्य जारी किया था कि बिहार के मुख्यमंत्री लालूप्रसाद यादव भविष्य में हमारे प्रधानमंत्री बनेंगे। बस, इतना वक्तव्य काफी था कि लालूजी घोड़े पर सवार होकर दिल्ली, राजस्थान, मध्यप्रदेश और उत्तर प्रदेश के चुनावी दौरे पर निकल पड़े। इसके नतीजे सबके सामने हैं। इलाहाबाद में जनता दल की 9 सीटें थीं। एक-एक सीट पर जनता दल हारा और वहां बसपा के उम्मीदवार विजयी हुए। फिर भी हाल ही में लालूजी ने बड़े फख्र के साथ कहा कि उत्तर प्रदेश में सपा-बसपा की जीत उन्हीं के अभियान के कारण हुई। दुर्भाग्य यह है कि अपने प्रदेशों में पैर जमाने से पहले ही लालूजी और मुलायम सिंह जी अखिल भारतीय संगठन के खयाली पुलाव पकाने लग गये।

विश्वनाथ अमेठी और वैशाली में चुनाव प्रचार कर चुके। जनता की सहानुभूति अर्जित करने के लिए उन्होंने अपनी बीमारियों को भुनाने का अश्लाध्य प्रयास किया। मेरे कुछ समाजवादी मित्र उनकी तुलना जयप्रकाश और आचार्य नरेंद्रदेव आदि नेताओं से करते हैं। इससे मैं बहुत शर्मिंदा होता हूं। आचार्यजी जिंदगी भर गंभीर दमे से ग्रस्त रहे। यूसुफ मेहर अली कई वर्षों तक बीमारियों से पीड़ित रहे और उन्हीं बीमारियों के कारण 1950 में उनका निधन हो गया। जयप्रकाशजी 48 महीने डायलिसिस पर थे। लेकिन इनमें से किसी ने भी अपनी बीमारी पर न पत्रकार सम्मेलन किया, न बीमारियों का व्यापार किया।

कुछ दिन पहले उत्तर प्रदेश जनता दल के एक पुराने कार्यकर्ता मुझसे मिले। उन्होंने हरिवंशराय बच्चन की एक कविता मुझे सुनायी। कविता तो भूल गया हूं लेकिन दो पंक्तियां मेरी स्मृति में अंकित हैं। इनमें निहित विचार उतना ही प्राचीन है जितना कि हिंदू धर्म और लगभग इसी अभिप्राय का एक संस्कृत पद भी मिलता हैं। बच्चन की पंक्तियां हैं, "किसी मूर्ति पर पुष्प चढ़ा तू, पूजा मेरी हो जाती है।"

लोग कहते हैं कि उत्तर प्रदेश में जनता दल का सफाया हो गया है। विश्वनाथ प्रताप सिंह के अपने क्षेत्र इलाहाबाद में जहां भंग विधानसभा में जनता दल की 9 सीटें थीं और जहां लालूप्रसाद यादव ने जोरदार प्रचार किया था, जनता दल की सारी सीटें कांशीराम की बहुजन समाज पार्टी ने जीत लीं। सब मिलाकर भी जनता दल की उपलब्धि घोर निराशाजनक रही। लेकिन विश्वनाथ प्रताप सिंह के समर्थक कहते हैं कि कांशीराम-मुलायम सिंह की जीत वास्तविक नहीं है, सिर्फ देखने में जीत लगती है। असली जीत विश्वनाथ प्रताप सिंह की है, क्योंकि उन्होंने पहले सामाजिक न्याय का झंडा उठाया था।

यदि आप कहते हैं कि मध्य प्रदेश में कांग्रेस जीती, तो विश्वनाथ प्रताप सिंह के प्रशंसक तुरंत आपकी गलती ठीक करते हुए कहेंगे कि कांग्रेस की सफलता सिर्फ बाहर से दिखती है; यदि चुनाव परिणामों का गहराई से विश्लेषण किया जाये तो पता चलेगा कि चूंकि विश्वनाथ प्रताप सिंह ही धर्मनिरपेक्षता के असली मसीहा हैं, उन्हीं की नीति की भाजपा के पारंपरिक मजबूत गढ़ों में जीत हुई है।

यदि आप यह तर्क देंगे कि राजस्थान और दिल्ली में जनता दल का हस्तक्षेप बहुत कमजोर था, तो विश्वनाथ प्रताप सिंह के प्रशंसक इसका जोरदार प्रतिवाद करेंगे। वे हैरानी से पूछेंगे, ''आप इतनी नासमझी की बात क्यों करते हैं? वीपी कांग्रेस को दंड देना चाहते थे जिसकी ढांचा-मस्जिद गिराने में मौन सहमति थी। राजस्थान और दिल्ली के मतदाताओं ने यही किया है; वहां कांग्रेसी पराजित हुए हैं; अतः यह वीपी की नीति की महत्वपूर्ण विजय है।'' केवल कुंदबुद्धि लोग ही पर्दे में छिपी सचाई को नहीं देख पाते हैं ! मूर्ख लोग ही यह कहते हैं कि मतदाताओं ने सपा-बसपा या कांग्रेस या भाजपा को समर्थन दिया। नहीं । संस्कृत के एक प्रसिद्ध सुभाषित में कहा गया है:

आकाशात्पतितं तोयं यथागच्छति सागरम् ।
सर्वदेव नमस्कारम् केशवं प्रति गच्छति ।।

जैसे सब नदियां सागर में जा मिलती हैं वैसे ही विभिन्न देवों की पूजा अंततः एक सच्चे देवता की पूजा बन जाती है—उस देवता को केशव या शंकर जो भी कहो। इसी तरह अन्य पार्टियों को दिया गया वोट वस्तुतः महान 'विश्वनाथ' को दिया वोट बन जाता है ! यह शुद्ध रूप से विवेक का मामला है !

क्या भाजपा फिर गैरकांग्रेसवाद की ओर ?

भारतीय जनता पार्टी की राजनीतिक दिशा में सूक्ष्म परिवर्तन दिखायी देने लगा है। राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ परिवार में वर्ष 1990 के उत्तरार्ध में लालकृष्ण आडवाणी की रथयात्रा से जो हर्षोन्माद का दौर शुरू हुआ था और जो 1991 के लोकसभा तथा विधानसभा चुनावों के समय चरमसीमा पर पहुंचा था, लगता है, संघ परिवार उस दौर को पार कर चुका है। भाजपा नेता अपनी चुनावी सफलता से चमत्कृत हो गये थे। 1991 के मई-जून में लोकसभा में उसकी सदस्य-संख्या 89 से बढ़कर 119 हो गयी थी। गुजरात में लोकसभा के चुनावों में उसे 51 प्रतिशत वोट मिला था। भाजपा ने उत्तर प्रदेश विधानसभा में बहुमत हासिल किया था और वहां लोकसभा

की 85 सीटों में से 50 पर कब्जा कर लिया था। कर्नाटक में, जहां भाजपा का अस्तित्व ही नहीं था, उसने 28 प्रतिशत वोट प्राप्त किया था और वह रामकृष्ण हेगड़े तथा एसआर बोम्मई के जनता दल से आगे हो गयी थी। उस समय भाजपा नेताओं को केंद्रीय सत्ता पकड़ में दिखायी दे रही थी – या तो कांग्रेस के साथ अल्पकालीन गठबंधन से या निकट भविष्य में दिखायी दे रहे नये लोकसभा चुनावों में सीधी जीत से।

आत्ममोहग्रस्त आडवाणी ने तब घोषणा की थी, "गैरकांग्रेसवाद की मृत्यु हो गयी है और अब लड़ाई भाजपा तथा शेष दलों के बीच होगी।" यदि भाजपा हर्षोन्माद की स्थिति में थी तो शेष धर्मनिरपेक्ष पार्टियां बिलकुल हतोत्साहित थीं। राज्यसभा में जनता दल के नेता का भी कहना था कि गैरकांग्रेसवाद अब प्रासंगिक नहीं रहा। जनता दल के मसीहा विश्वनाथ प्रताप सिंह भी इतने विचलित हो गये कि भाजपा-विरोधी मोर्चे की बात करने लगे। एक साप्ताहिक को दिये गये एक साक्षात्कार में उन्होंने कहा कि इंका सरकार का एजेंडा जनता दल ही तय कर रहा है। कार्यक्रम वास्तव में हमारा है, कांग्रेस के मंत्री तो उस पर हस्ताक्षर मात्र कर रहे हैं। वे डा. मनमोहन सिंह की उदारीकरण की नीतियों के आमतौर पर समर्थक थे। आखिर पेप्सीकोला के समझौते को अंतिम मंजूरी किसने दी थी ? क्या यह काम वीपी सिंह की सरकार ने नहीं किया था ? अतः विश्वनाथ प्रताप ने उस साप्ताहिक को बताया, "उन्हें अंतरराष्ट्रीय बाजार प्रतियोगिता की चुनौती के लिए तैयार रहना चाहिए, केवल उन्हें श्रमिकों के हितों का ध्यान रखना चाहिए।"

राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के संयुक्त महासचिव भाऊराव देवरस ने कांग्रेस के साथ गठबंधन का जो विचार रखा था वह फलीभूत नहीं हुआ। लेकिन कांग्रेस और भाजपा के बीच कुछ क्षेत्रों में सहयोग तो बना ही। भाजपा को लोकसभा में उपाध्यक्ष का पद दिया गया। अयोध्या पर भी बातचीत चली। आडवाणी, जसवंत सिंह और प्रमोद महाजन जैसे नेता उदारीकरण के संबंध में विश्वनाथ प्रताप सिंह से भी ज्यादा उत्साहित थे। लालकृष्ण आडवाणी ने तो पीवी नरसिम्हाराव की नयी सरकार के गैरसरकारी आर्थिक राजदूत के रूप में पश्चिमी देशों का दौरा भी किया। इसे देखते हुए भाजपा द्वारा गैट समझौते के विरोध को पाखंड ही कहा जा सकता है। मामूली बुद्धिवाला आदमी भी समझ सकता है कि भूमंडलीकरण और उदारीकरण एक ही सिक्के के दो पहलू हैं।

जनता की याददाश्त छोटी होती है और इसलिए संभवतः वह 1991 के चुनावों के बाद विपक्षी नेताओं द्वारा कही गयी इन बातों को भूल चुकी है। जनता दल की कार्यकारिणी ने विश्वनाथ प्रताप सिंह के भाजपा-विरोधी मोर्चे के सुझाव को नामंजूर कर दिया और कांग्रेस-भाजपा अभिसार भी 18 महीनों के अंदर-अंदर खत्म हो

गया। जुलाई 1992 तक संघ परिवार ने अयोध्या के मुद्दे पर फिर आक्रामक रुख अपना लिया था। उच्च न्यायालय ने भाजपा की उत्तर प्रदेश सरकार से आश्वासन प्राप्त कर लिया। शपथ-पत्र दाखिल किया गया। किंतु बाद की घटनाओं से सिद्ध हो गया कि भाजपा सिर्फ टालमटोल कर रही थी। गुप्त रूप से विध्वंसक टोली को प्रशिक्षित किया गया। केंद्रीय गृहमंत्री ने अयोध्या में केंद्रीय-पुलिस बलों की तैनाती का सुझाव दिया, लेकिन उसे मंजूर नहीं किया गया। 6 दिसंबर के दिन लालकृष्ण आडवाणी के आग्रह पर कारसेवा स्थल जानेवाली सड़कों को बंद किया गया।

कम से कम 5 दिसंबर की रात तक लालकृष्ण आडवाणी, राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के महासचिव एचआर शेषाद्रि और अशोक सिंघल वास्तविक कार्य-योजना के राजदान बन गये थे।

6 दिसंबर, 1992 की घटनाओं ने सबको हतप्रभ कर दिया। सारे गैरभाजपा विपक्ष ने इस बर्बरतापूर्ण काम की भर्त्सना की। कांग्रेस भी गहरी नींद से झटका खाकर जाग उठी। उत्तर प्रदेश में ही नहीं, अन्य भाजपा-शासित राज्यों में भी राष्ट्रपति-शासन लागू किया गया। इस घोषणा का गैरभाजपा विपक्ष ने जोरदार समर्थन किया। अब लगता है कि गैट समझौते के खिलाफ संयुक्त मोर्चा बनाने के लिए चंद्रशेखर और जार्ज फर्नांडिस उसी संघ-परिवार से सहयोग प्राप्त करना चाहते हैं जिसकी इस प्रश्न पर दोहरी नीति रही है।

1990 के मध्य तक भाजपा और जनता दल के बीच सहयोग रहा। इस पर किसी ने आपत्ति नहीं की। वामपंथी भी जानते थे कि सरकार के बने रहने के लिए, भाजपा का समर्थन जरूरी है। अन्य दल भाजपा से अलग होने के लिए तभी मजबूर हुए जब भाजपा ने बाबरी मस्जिद-रामजन्मभूमि के सवाल को जोरदार ढंग से उठाया। जैसाकि ऊपर कहा गया, भाजपा भी गैरकांग्रेसवाद की मृत्यु की घोषणा कर चुकी थी। किन्तु उत्तर प्रदेश, मध्यप्रदेश और हिमाचल प्रदेश में चुनावी हार के बाद भाजपा को अपने एकाकीपन का अहसास होने लगा है। केंद्रीय सत्ता पर कब्जा करने का उसका सपना फिलहाल ध्वस्त हो गया है। उसे मित्रों की बहुत ज़रूरत महसूस हो रही है। उसने गैट समझौते पर संयुक्त कार्रवाई की पेशकश की है। वामपंथी पार्टियों ने उसकी पेशकश को नामंजूर कर दिया है। जनता दल ने भी ऐसा ही किया है। विश्वनाथ प्रताप सिंह ने भी 'वनवास' से लौटने के बाद भाजपा को 'ना' कह दी है।

तीन साल के बाद भाजपा नेताओं को भारतीय राजनीति में गैरकांग्रेसवाद के लिए एक बार फिर कुछ गुंजायश दिखायी देने लगी है। गोविन्दाचार्य 1974 की भावना का आह्वान कर रहे हैं। 'हिन्दू' के अनुसार दूसरे दलों के साथ तालमेल के संबंध में गोविन्दाचार्य ने कहा : "गेंद दूसरी तरफ है। हम (डंकल-विरोध के मुद्दे

पर दूसरी पार्टियों के साथ) मिलजुल कर काम करना चाहते हैं। हमें उम्मीद है कि जेपी आंदोलन जैसा आंदोलन बन सकता है। भाजपा का आंदोलन सिविल नाफरमानी आंदोलन में भी बदल सकता है, किंतु इसका समय राजनीतिक स्थिति तय करेगी।" गोविन्दाचार्य ने वामपंथी दलों की तीखी आलोचना की और कहा कि मार्क्सवाद के क्लासिकल हथियारों का उपयोग भारतीय संदर्भ में नहीं किया जा सकता है।

'टेलिग्राफ' के एक समाचार डेटलाइन नयी दिल्ली 13 अप्रैल में कहा गया : "भाजपा की रणनीति बनाने वालों ने गैरकांग्रेसवाद की अच्छाइयों को पुनः देखना शुरू किया है, इस बात के मद्देनजर कि केवल हिन्दुत्व का मुद्दा उन्हें सत्ता में लाने के लिए काफी नहीं है।" ... यह देखते हुए कि हिन्दुत्व की कमजोरियों को जल्दी दूर नहीं किया जा सकता, भाजपा नेताओं ने फैसला किया है कि पार्टी को राजनीति का एक ध्रुव बनाना अभी उचित नहीं है। इस बात को महसूस करते हुए कि गैरभाजपा ताकतों के गठबंधन से गंभीर समस्याएं पैदा हो सकती हैं, हिन्दुत्व की रणनीति बनाने वालों का विश्वास है कि देश में गैरकांग्रेसवाद के लिए अभी काफी स्थान है। यह उनकी सम्पूर्ण तर्कहीनता का उदाहरण है। स्वदेशी का उनका नवीनतम नारा एक चाल है। उनके मध्यवर्गीय अनुयायी दिल की तह तक उपभोक्तावाद के शिकार हैं और विदेशी ब्रांडों तथा वस्तुओं के पीछे पागल हैं। इस मध्यवर्ग की भूख असीम है। उल्लेखनीय है कि आर्थर डंकल का नाम सुनायी देने और गैट समझौते पर हस्ताक्षर होने के बहुत पहले से ही यहां विदेशी नामों की वस्तुओं और विदेशी कंपनियों का टूथपेस्ट, शेविंगक्रीम-लोशनों आदि की निम्न टेक्नालाजी में बोलवाला रहा है। भारतीय उद्योगों ने कम लागत, कम कीमत और अच्छी गुणवत्ता के आधार पर इन कंपनियों को बाहर क्यों नहीं किया? उन्हें किसने रोका था? संघ परिवार के सहयोग के नये मुद्दे को ईमानदारी कहा जा सकता है? यदि उनमें ईमानदारी होती तो वे धार्मिक स्थलों पर कब्जा करने की अपनी योजना को छोड़ते। लेकिन वे यह नहीं करना चाहते हैं। राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के नये सरसंघचालक बार-बार कह रहे हैं कि संघ परिवार अयोध्या, मथुरा और काशी के पूजा-स्थलों पर कब्जा करने के लिए कृतसंकल्प है। उनका स्वर उत्तरोत्तर कड़ा होता जा रहा है। भाजपा के कुछ नेताओं के कुछ हाल के भाषणों ने तो घृणा और बेतुकेपन की नयी सीमाओं को पार कर लिया है। उमा भारती ने कहा है कि बाबरी मस्जिद का पुनर्निर्माण तभी होने दिया जायेगा जब मक्का में हनुमान का मंदिर बनाने दिया जायेगा। पश्चिम बंगाल के भाजपा अध्यक्ष ने धमकी दी है कि यदि बांग्लादेश ने अवैध घुसपैठियों की वापसी का विरोध किया तो बांग्लादेश पर हमला करके उसे भारत में शामिल कर लिया जायेगा। जो भी संघ परिवार की संयुक्त

कार्रवाई की पेशकश को स्वीकार करता है–बिना इस बात पर जोर दिये कि संघ परिवार विगत चार साल के अपने लज्जाजनक इतिहास से पीछा छुड़ाये–वह भारत की आर्थिक संप्रभुता को बनाये रखने में सहायक नहीं होगा, बल्कि संविधान की लोकतांत्रिक व्यवस्था की कब्र खोदेगा। मेरा विचार है कि वही लोग मकड़ी के जाले में फंसेंगे जिनका एकमात्र लक्ष्य सत्ता की राजनीति होगा।

दोराहे पर खड़ी भाजपा

ऐसा लगता है कि हाल के चुनावों की हार ने भाजपा के बड़े और मझोले स्तर के नेताओं का मनोबल काफी तोड़ दिया है। भाजपा नेता अपने खैरख्वाह साधारण कार्यकर्ताओं और समर्थकों को यह आश्वासन दे रहे हैं कि भाजपा की हार वास्तव में हार नहीं है, वस्तुतः पार्टी की शक्ति बढ़ी है तथा उसका आधार विस्तृत हुआ है। इससे मुझे लगभग 40 साल पहले समाजवादी पार्टी की स्थिति की याद आती है। पहले आम चुनावों के बाद समाजवादी पार्टी के नेता बहुत निराश हुए। नेताओं की निराशा ने कार्यकर्ताओं को भी प्रभावित किया। कई नेताओं ने अपनी निराशा को छिपाने का प्रयत्न किया और प्रथम शक्ति-परीक्षण में प्राप्त भारी वोट का बहादुरी के साथ जिक्र किया। एक नेता, अशोक मेहता ने एक छोटी पुस्तक भी लिखी (दि पॉलिटिकल माइंड आफ इंडिया), जिसमें सारे आंकड़े दिये गये। दुर्भाग्य से इस प्रयास से स्वयं लेखक भी आश्वस्त नहीं हुए और उन्होंने 1952 में मुझे बताया कि कांग्रेस को प्रत्यक्ष चुनाव में हराना आसान नहीं है, अतः उसके साथ किसी तरह के तालमेल का रास्ता खोजा जाना चाहिए।

नेताओं की निराशा वैयक्तिक घटना होती है। इसका कारण होता है बड़ी-बड़ी उम्मीदें लगाना और फिर उनका प्रताड़ित होना। यदि नेता खुद बड़ी-बड़ी उम्मीदें लगाते हैं और वे पूरी नहीं होतीं तो किसी भी तरह की तर्कप्रणाली और आंकड़ेबाजी पार्टी के मनोबल को बनाये नहीं रख सकती। अशोक मेहता, रामनंदन मिश्र और जयप्रकाश नारायण ने समाजवादी पार्टी के भविष्य के संबंध में बड़ी-बड़ी उम्मीदें लगा रखी थीं। कुछ राज्यों में समाजवादी सरकारें बनाने की बातें भी चल रही थीं। लेकिन जब पार्टी को भारी पराजय मिली तो यह तथ्य भी पार्टी नेताओं की निराशा पर काबू पाने में सहायक नहीं हुआ कि उसे 10 प्रतिशत से कुछ अधिक वोट मिले थे। इस सीमा को जनसंघ, कम्युनिस्ट पार्टी और स्वतंत्र पार्टी कभी पार नहीं कर

सकीं, केवल भाजपा ने 1989 में इसे पार किया था।

यही कहानी अब भाजपा में भी दोहरायी गयी है। दो साल से अधिक समय से अर्थात 1991 के लोकसभा चुनाव से भाजपा के नेता अपनी सफलता से इतने प्रफुल्लित हुए कि उन्होंने गैरकांग्रेसवाद को मृत घोषित कर दिया। स्मरणीय है कि भाजपा लोकसभा में मान्यताप्राप्त आधिकारिक विपक्षी पार्टी बन गयी। राज्यसभा में भी जल्दी ही उसने यह पद प्राप्त कर लिया। भाजपा नेता कहने लगे कि अब तो भाजपा का शेष सभी पार्टियों से मुकाबला है।

मुझे याद है कि 1952 के आम चुनाव में कम्युनिस्टों को कुछ राज्यों में मिली आश्चर्यजनक सफलता और लोकसभा में उन्हें मिली 30 सीटों से कुछ समाजवादी इतने भयभीत हुए कि वे कम्युनिस्ट-विरोधी मोर्चा बनाने की आवश्यकता की बातें करने लगे। इसी तरह जून 1991 के चुनावों के तुरंत बाद कर्नाटक के भूतपूर्व मुख्यमंत्री रामकृष्ण हेगड़े भी कांग्रेस के साथ गठबंधन की अच्छाइयों का उपदेश देने लगे। उन्होंने कहा : "कांग्रेस तो निर्मल गंगा है और मेरे जैसे लाखों पापियों के स्नान से भी वह पवित्र बनी रहेगी।" आश्चर्य तो तब हुआ जब विश्वनाथ प्रताप सिंह ने भी उनका समर्थन किया और भाजपा-विरोधी धर्मनिरपेक्ष मोर्चा बनाने का आह्वान किया । यह बात दीगर है कि विश्वनाथ प्रताप सिंह की पार्टी ने उनके सुझाव को नामंजूर कर दिया। महत्वपूर्ण बात यह रही कि उन्होंने ऐसा सुझाव दिया। अप्रत्याशित हार उन कमजोरदिल नेताओं के आत्मविश्वास को तोड़ देती है जो लोकप्रियता की लहरों पर सवार होने के आदी रहे होते है। भाजपा नेता और उनके अनुयायी भी हार को शांत चित्त से ग्रहण नहीं कर सकते हैं। हम जानते हैं कि 1975-77 में उन्होंने पेरोल पर बाहर आने के लिए या रिहाई हेतु माफीनामों की तरकीब खोजी थी।

नवंबर, 1993 के लघु आम चुनावों में भाजपा का नारा था : आज पांच प्रदेश कल सारा देश। लालकृष्ण आडवाणी ने रथयात्रा की ईजाद की। 1990 में यह सफल हुई थी। जून 1991 में कैबिनेट मंत्री के दर्जे के साथ वे विपक्ष के नेता बने थे। उन्होंने अटलबिहारी वाजपेयी को पृष्ठभूमि में धकेलने में सफलता प्राप्त की थी। पार्टी और प्रेस में हर कोई उनका गुणगान कर रहा था। वे खुद भी इस तरह पेश आ रहे थे गोया वे प्रधानमंत्री पद की शपथ लेने जा रहे हों। उन्होंने अपने आसपास आधुनिक दृष्टिवाले जनसंपर्क विशेषज्ञों की टीम खड़ी कर ली थी। पैसे की कोई समस्या नहीं थी। संघ परिवार ने उत्साह में बहकर उच्चतम स्तर पर बाबरी ढांचे को ध्वस्त करने और इस तरह केंद्रीय सत्ता का मार्ग प्रशस्त करने का निर्णय किया। वे जनता के मूड को ठीक-ठीक पढ़ने से बिल्कुल चूक गये। औसत हिंदू पूजास्थलों के विध्वंस को अच्छा नहीं मानता है, चाहे वे पूजास्थल किसी भी धर्म

के हों। जब संघ परिवार के नेता दिल्ली लौटे तो लालकृष्ण आडवाणी को क्रुद्ध प्रतिक्रिया का सामना करना पड़ा। उन्होंने इस बर्बरतापूर्ण काम से अपने को अलग करने की कोशिश की और विपक्ष के नेता पद से त्यागपत्र दे दिया। यह साहस का काम नहीं था।

अयोध्या में बर्बरता को रोकने के लिए कुछ न करने के बाद अब वे जिम्मेदारी से इनकार करना चाहते थे। बाल ठाकरे ने इस काम की जिम्मेदारी स्वीकार करके अधिक हिम्मत दिखायी। जनता दल ने 7 दिसंबर 1992 को संसद में हास्यास्पद प्रदर्शन करके भाजपा को परेशानी की स्थिति से बचा लिया। संसद में संघ परिवार के इस बर्बरतापूर्ण काम की भर्त्सना का प्रस्ताव पारित कराने के बजाय जनता दल ने संसद की कार्यवाही में बाधा डाली। प्रधानमंत्री ने हड़बड़ी में उसी स्थान पर मस्जिद के निर्माण की घोषणा करके भाजपा को जनता के तिरस्कार से बचा लिया। भाजपा के नेताओं की गिरफ्तारी और फिर रिहाई के नाटक से भी भाजपा को आत्मविश्वास पुनः प्राप्त करने में मदद मिली।

भाजपा की सरकारों की बर्खास्तगी का आम जनता में कोई विरोध नहीं हुआ था। हर आदमी जानता था कि भाजपा सरकारों के तमाम साधनों का उपयोग बाबरी ढांचे को गिराने के लिए कारसेवक जुटाने में किया गया था। हिमाचल प्रदेश, मध्य प्रदेश और उत्तर प्रदेश में जनता की उदासीनता उल्लेखनीय थी। इससे पार्टी के नेताओं को चेत जाना चाहिए था। किंतु वे लगभग एक साल तक आत्ममोह में पड़े रहे। दूसरी पार्टियों की गलतियों ने भाजपा को निश्चिंत बना दिया।

जब विधानसभा चुनावों की तारीखें घोषित हुईं तो भाजपा ने मदोन्मत्त स्थिति में जोर-शोर से प्रचार शुरू किया। विगत 15 वर्षों में भाजपा ने अपने आदमी समाचारपत्रों में बिठा रखे थे। पार्टी ने कुछ नये समर्थक भी बनाये थे। विशेषकर हिंदी समाचारपत्र भाजपा की बहुत तरफदारी करते थे। भाजपा नेताओं की उम्मीदें आकाश छूने लगीं। जनता दल के गुटों की फूट को देखते हुए भाजपा को पूरा भरोसा था कि चुनावों में उसकी भारी जीत होगी। हर्षातिरेक से ग्रस्त लालकृष्ण आडवाणी से लेकर आमतौर पर शांत रहने वाले अटलबिहारी वाजपेयी तक आसन्न मध्यावधि लोकसभा चुनाव और नरसिम्हाराव सरकार के शीघ्र पतन की बातें करने लगे।

इन ऊंची आशाओं के परिप्रेक्ष्य में ही भाजपा पर चुनाव परिणामों के प्रभाव को देखा जाना चाहिए। भाजपा के पास मध्य प्रदेश और हिमाचल प्रदेश की हार का वस्तुतः कोई विश्वसनीय स्पष्टीकरण नहीं है। वहां जनता दल या अन्य पार्टियां गिनती में ही नहीं थीं। कांशीराम की पार्टी बसपा का कुछ वजूद था भी तो उसने भाजपा को नहीं, कांग्रेस को ही नुकसान पहुंचाया। किंतु सुंदरलाल पटवा और शांता

कुमार की सरकारें इतनी बदनाम हो गयी थीं कि मतदाताओं ने उन्हें अस्वीकार कर दिया। भाजपा समर्थक पत्रकारों ने राजस्थान में भाजपा को खारिज कर दिया था, तथापि अनुभवी नेता भैरोंसिंह की उपलब्धि अन्य मुख्यमंत्रियों की तुलना में बेहतर रही। दिल्ली में भाजपा सत्ता में नहीं थी और इस बात का भाजपा को लाभ मिला। भाजपा को जनता दल के कमजोर हस्तक्षेप से तथा सिखों द्वारा भाजपा को वोट दिये जाने के निर्णय से भी फायदा हुआ। 1984 के दंगों में कांग्रेस के कई नेताओं की भूमिका इतनी बदनाम थी कि सिखों के भाजपा के समर्थन में जाने से मुझे कोई आश्चर्य नहीं हुआ।

इस समय भाजपा की अधिकांश समस्याओं का कारण यह है कि वह अब बड़ी पार्टी बन गयी है। यह कई राज्यों में बड़ी पार्टी है किंतु उस अर्थ में राष्ट्रीय पार्टी नहीं है जिस अर्थ में कांग्रेस है। मध्य प्रदेश में हालांकि इसकी जीत नहीं हुई है, उसे 38.7 प्रतिशत वोट मिले हैं और केवल एक प्रतिशत का नुकसान हुआ है। कांग्रेस को पहले के मुकाबले जो 7 प्रतिशत अधिक वोट मिले वे जनता दल और अन्य छोटी पार्टियों की कीमत पर मिले। हिमाचल प्रदेश में भाजपा को 36.2 प्रतिशत वोट मिले और पहले की तुलना में 5.5 प्रतिशत का नुकसान हुआ। उत्तर प्रदेश में उसने 1991 की तुलना में 2 प्रतिशत अधिक अर्थात 33.3 प्रतिशत वोट प्राप्त कर लिये। राजस्थान में इसकी उपलब्धि प्रशंसनीय रही। यहां उसने पहले के 29.4 प्रतिशत के मुकाबले 38.6 प्रतिशत वोट प्राप्त किये, अर्थात उसे 9 प्रतिशत से अधिक का फायदा हुआ। यहां जनता दल के काफी मतदाता भाजपा की तरफ चले गये। लेकिन ये सारी बातें भाजपा को सांत्वना नहीं दे सकती हैं। तीन राज्यों में सत्ता हाथ से जाना और केंद्र में जल्दी सत्ता पर कब्जा करने की उम्मीद पर पानी फिरना भाजपा के लिए बहुत पीड़ादायक अनुभव है। 'जय श्रीराम' के नारे की सफलता से मिली अपार खुशी ने अब तक पार्टी के अंदर के तीव्र अंतर्विरोधों को ढंक रखा था। ये अंतर्विरोध हैं–हिंदुत्व और मस्जिद विध्वंस के समर्थकों तथा व्यापक सामाजिक-आर्थिक कार्यक्रम के समर्थकों के बीच, उच्च जातियों तथा पिछड़े वर्गों–हरिजनों-आदिवासियों के बीच, स्वदेशी आंदोलन और भूमंडलीकरण एवं उदारीकरण के बीच, राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ की सादगी और संयम की जीवनशैली और भाजपा के इलीट तबकों के आडंबरपूर्ण उपभोक्तावाद के बीच, बड़े पूंजीपतियों तथा बहुराष्ट्रीय कंपनियों और छोटे व्यापारियों के बीच, बिचौलिये बनियों और किसानों के बीच, और अंत में पार्टी की लगभग सभी राज्य-इकाइयों में बने गुटों के बीच।

ऐसा लगता है कि राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के महासचिव एचटी शेषाद्रि चुनाव परिणामों के बारे में भाजपा की भयभीत प्रतिक्रिया से सहमत नहीं। भाजपा की यह

प्रतिक्रिया इस बात से व्यक्त होती है कि वह अब राम के साथ-साथ डा. अम्बेडकर का चित्र भी रख रही है और पिछड़ावाद को अपना रही है। शेषाद्रि ने कहा है कि राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ हमेशा जातिवाद के खिलाफ रहा है और वह राजनीतिक या चुनावी बातों से प्रभावित नहीं होता। उसे बसपा टाइप की राजनीति से भी कोई परेशानी नहीं है। अब तक भाजपा की राजनीति में राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के नेताओं की बात को अंतिम वाक्य माना जाता रहा है। किंतु सत्ता और धन-संग्रह की असीम भूख से प्रेरित राजनेता तथा विधायक, जो भाजपा में काफी बड़ी संख्या में हैं,''' राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के केंद्रीय नियंत्रण में नहीं रहेंगे। भाजपा के नेता और कार्यकर्ता न केवल हतोत्साहित हो चुके हैं वरन् पूर्णतया व्यामोहग्रस्त भी हैं और यह नहीं समझ पा रहे हैं कि उन्हें किस दिशा में जाना चाहिए। भारतीय जनता पार्टी और संघ परिवार वस्तुतः दोराहे पर खड़े हैं। देखना है कि भगवा कारवां अंततः किस दिशा को चुनता है।

संघ परिवार का दिवास्वप्न है स्वदेशी आंदोलन

अप्रैल, 1994 में दिल्ली में एक बैठक हुई, जिसकी तरफ लोगों का विशेष ध्यान नहीं गया। इसके आयोजक दिल्ली के कुछ वरिष्ठ पत्रकार थे, जैसे 'जनसत्ता के प्रभाष जोशी, मेनस्ट्रीम के निखिल चक्रवर्ती, समाजशास्त्री रजनी कोठारी और उच्चतम न्यायालय के पूर्व-न्यायाधीश जस्टिस कृष्णा अय्यर। बैठक 13 अप्रैल को हुई और इसका मुख्य उद्देश्य था 'गैट के अंतिम समझौते के खिलाफ व्यापक आधार का मोर्चा बनाना'। अगली बैठक 10 मई, 1994 को रखी गयी। जिन लोगों ने इसमें विचार रखे उनमें एस.पी. शुक्ल तथा जार्ज फर्नांडिस भी थे।

इसमें भाग लेने वालों की सूची महत्वपूर्ण है। इसमें कोई कांग्रेसी उपस्थित नहीं था, अतः इसे नया गैर-कांग्रेसी मोर्चा बनाने का प्रयास कहा जा सकता है, इस बार गैट के मुद्दे पर। इसमें निम्न व्यक्तियों ने हिस्सा लिया : जार्ज फर्नांडिस और जयपाल रेड्डी (जनता दल), निर्मलकांत चैटर्जी (माकपा), गीता मुकर्जी और भोगेन्द्र झा (भाकपा), के.सी.सुंदर्शन (राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के सरकार्यवाह), मुरलीधर राव (राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के जनजागरण मंच से संबंधित), महेश शर्मा (दीनदयाल शोध संस्थान), राजेंद्र सच्चर (पी.यू.सी.एल.), शांति भूषण (जनता पार्टी सरकार में पूर्व-विधिमंत्री), अशोक पंडा और स्वामी अग्निवेश (जो धर्म और राजनीति की अविच्छिन्नता के मुख्य आदर्श पर नयी पार्टी बनाने जा रहे हैं)।

'जनसत्ता' के विशेष संवाददाता की खबर के अनुसार, माकपा के निर्मलकांत चैटर्जी के वक्तव्य में यह दावा किया गया कि संयुक्त मोर्चा आवश्यक है और इस प्रयोजन के लिए विचारधारात्मक मतभेदों से ऊपर उठना कोई कठिन नहीं है। जयपाल रेड्डी ने राज्यसभा में संयुक्त मोर्चा बनाने का सुझाव दिया ताकि पेटेंट अधिनियम के संशोधन को नामंजूर किया जा सके। मैं नहीं कह सकता कि 'जनसत्ता' की खबर में कितनी सच्चाई है, लेकिन हम इतना जानते हैं कि इस विचार-विमर्श से कोई परिणाम नहीं निकला। इसमें आश्चर्य भी नहीं। कुछ लोगों (संघ परिवार से जुड़े) का विचार था कि अप्रैल, 1974 के जे.पी. आंदोलन को पुनर्जीवित किया जाए। यह विचार ही अपरिपक्वता का लक्षण है। इतिहास अपने को नहीं दुहराता। यदि दुहराता भी है तो फार्स अथवा शोकांतिका के रूप में, जैसाकि कार्ल मार्क्स ने एक बार कहा था।

बैठक में भाग लेने वाले कुछ लोगों में समर्थन जुटाने की योग्यता का पूर्ण अभाव है। लेकिन वे अखबारों में अपना नाम देखकर खुश होंगे और दूरदर्शन पर भी चेहरा दिखायी दे, तब तो कहना ही क्या! कुछ नितांत भोले हैं और कुछ पक्के ढोंगी। मेरे मित्र चंद्रशेखर और जार्ज फर्नांडिस – जो गैट के प्रति अत्यधिक संवेदनशील हैं – सही अथवा गलत, गैट के अंतिम समझौते के विरुद्ध संयुक्त प्रतिरोध संगठित करने में सबसे अधिक निष्ठा रखते हैं।

जार्ज फर्नांडिस ने बंबई में एक मीटिंग में भाग लिया, जिसे गोपीनाथ मुंढे (महाराष्ट्र में भाजपा के विधायी दल के नेता) ने बुलाया था। जार्ज की पार्टी के सदस्यों ने इसका अनुमोदन नहीं किया। फिर उन्होंने वामपंथियों का एक बेमेल ग्रुप बनाने की कोशिश की, जिसमें इंडियन पीपुल्स फ्रंट भी शामिल था। लेकिन इस ग्रुप के नेता विनोद मिश्र ने अपने भाषण मे जार्ज को साफ कह दिया कि जब तक संघ परिवार 6 दिसंबर, 1992 के बर्बरतापूर्ण काम के लिए क्षमायाचना नहीं करेगा, तब तक उनके साथ किसी मुद्दे पर सहयोग की बात सोची भी नहीं जा सकती।

संघ परिवार ने पी.वी. नरसिंम्हा राव सरकार की आर्थिक नीति का कभी गंभीरता से विरोध नहीं किया। 29 जुलाई, 1991 को आम बजट के भाषण में भाजपा के प्रवक्ता जसवंत सिंह ने केंद्रीय सरकार की औद्योगिक नीति के वक्तव्य का जिक्र करते हुए कहा कि भाजपा ने उस पर विचार किया है और इस नीति के मुख्य मुद्दों को स्वीकार किया है।

अगले वर्ष अटलबिहारी वाजपेयी ने अपने बजट भाषण में भूमंडलीकरण का समर्थन किया और कहा : 'यह सच है कि आज के विश्व में हम अलग-थलग नहीं रह सकते।' विपक्ष के नेता लालकृष्ण आडवाणी ने गैर-सरकारी राजदूत का चोला पहनकर सरकार की उदारीकरण की नीति के लिए बाहर समर्थन जुटाया।

भाजपा ने कुछ समय से भूमंडलीकरण और आंतरिक उदारीकरण के बीच भेद करने की कोशिश की है। यह भेद एकदम निरर्थक है। अगर लाइसेंस खत्म कर दिये जाएं और वास्तविक प्रतियोगिता को छूट दी जाए तो क्या होगा ? मान लीजिए चार उद्योगपति मोटरकारों की नयी इकाइयां शुरू करने के लिए आगे आते हैं, वे क्या करेंगे ? एक अमरीकी फोर्ड कंपनी से सहयोग करना चाहेगा। दूसरा जापान की टोयोटा से जुड़ेगा। तीसरा जर्मनी की बी.एम.डब्ल्यू. से सहयोग करना अधिक लाभदायक समझेगा, जिसने हाल ही में ब्रिटेन की रोवर कंपनी को खरीद लिया है। चौथा फ्रेंच कंपनी से भागीदारी करने में अधिक लाभ देखेगा। सभी उद्यमी चाहेंगे कि उन्हें बड़ी मात्रा में पूंजी मिले और वे प्लांट तथा मशीनरी का आयात करें, जिसे यहां नहीं बनाया जा सकता है। उन्हें बड़ी मात्रा में विदेशी मुद्रा की जरूरत होगी। आडवाणी का संघ परिवार इन संभावी कार-निर्माताओं की मदद के लिए नहीं आएगा। उन्हें औद्योगिक देशों की तरफ देखना पड़ेगा। यही वजह है कि आंतरिक उदारीकरण और भूमंडलीकरण को अलग नहीं किया जा सकता। एक अनजान मूर्ख ही इस संबंध को देखे बिना रह सकता है। जापानियों ने एक बार चाल चली थी कि उन्होंने नयी टेक्नोलॉजी का बड़ी मात्रा में आयात किया और उसका बिना पश्चिमी पूंजी के अनुकूलन किया, मूल ढांचे को छोड़कर। लेकिन वे इसलिए ऐसा कर सके क्योंकि दशकों तक उन्होंने उपभोग को सीमित किया, बचतों को बढ़ावा दिया और बचतों को उत्पादक निवेश में बदल दिया।

भाजपा का महत्वपूर्ण मतदाता समूह शहरी मध्यम वर्ग है। यह मज्जा तक उपभोक्तावादी है। यह रातों-रात धनी बनने के लिए शेयर-व्यापार करता है। जापानियों को टैक्स की छूट दी गयी थी। छूट की सीमा सोच-समझकर नीचे रखी गयी थी ताकि वे हास्यास्पद रूप से कम ब्याज दरों वाली डाकघर बचत योजनाओं में अपनी बचतें जमा करें। यह दर उस दर से आधी भी नहीं थी जो रिजर्व बैंक के नवीनतम निर्देशों के अनुसार भारत के राष्ट्रीयकृत बैंक सावधि जमा राशि पर देते हैं।

राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ-प्रमुख की यह घोषणा कि गैट-विरोधी आंदोलन हमारा मुख्य मुद्दा नहीं है और गोविंदाचार्य का हास्यास्पद वक्तव्य (जो उन्होंने हाल ही में रामलीला मैदान में हुई सभा में दिया) कि हम गैट-विरोधी आंदोलन बिना चोट खाये जारी रखना चाहते हैं, क्या बताते हैं ? क्या दुनिया में सचमुच कोई आंदोलन ऐसा चला है – अहिंसक आंदोलन सहित – जिसमें कोई जख्मी न हुआ हो ? लेकिन संघ परिवार के सदस्य से आये इस वक्तव्य से किसी को आश्चर्य नहीं होना चाहिए, क्योंकि संघ परिवार ने आपातकाल के दौरान क्षमा-याचना के पत्र लिखने में महारत हासिल की थी।

मार्क्सवादी भाजपाइयों से कम पाखंडी नहीं हैं। ज्योति बसु ने स्वीकार किया है कि उदारीकरण के बाद पूंजी-निवेशकों ने पश्चिम बंगाल में रुचि लेना शुरू किया है। वे बहुराष्ट्रीय कंपनियों को अपने यहां आमंत्रित करना चाहते हैं। उनकी नीति का प्रतीक था 'गणशक्ति' में कोकाकोला का पूरे पृष्ठ का रंगीन विज्ञापन। मार्क्सवादी चीन और वियतनाम के पदचिह्नों पर चलने से कैसे बचे रह सकते हैं ?

मुझे प्रसन्नता है कि मेरे मित्र जार्ज फर्नांडिस की आंखें वास्तविकता को देखने लगी हैं। संघ परिवार के साथ संपूर्ण सहयोग के इस समर्थक ने हाल ही में धनबाद में कहा : 'हमें अपने लिए जाल नहीं बिछाना चाहिए और खुद ही उसमें नहीं फंस जाना चाहिए, जैसाकि भाजपा इस समय कर रही है।' उन्होंने भाजपा पर डंकल के संबंध में दोगली बातें करने का आरोप लगाया। नयी आर्थिक नीति को भाजपा के समर्थन की ओर संकेत करते हुए उन्होंने कहा कि भाजपा की स्थिति पाखंडपूर्ण और अपने को धोखा देने वाली है ... इससे सरकार को और छाया-युद्ध में असलियत देखने वाली बहुराष्ट्रीय कंपनियों को ही प्रोत्साहन मिलेगा।

इधर चंद्रशेखर का भी मोहभंग हुआ है जो गैट के विरोध में राष्ट्रीय अभियान पर निकले थे और राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ सहित सभी देशभक्त ताकतों से अपील कर रहे थे। अपने अभियान के दौरान उन्होंने भाजपा पर खुला आरोप लगाया कि वह इस मामले में गंभीर नहीं है। इससे भी महत्वपूर्ण बात यह कि चंद्रशेखर ने संयुक्त अभियान के सुझाव के साथ यह शर्त जोड़ दी कि संघ परिवार अपना हिंदुत्व का अभियान छोड़ दे।

कह नहीं सकता कि मेरे अस्थिरचित्त मित्रों के मन में यह जो स्पष्ट बोध जागृत हुआ है वह कितनी देर रहेगा। लेकिन जितनी जल्दी वे इस बात को समझेंगे कि बहुराष्ट्रीय कंपनी इस युग के व्यापार का एक विशिष्ट रूप है और सभी गतिशील भारतीय निजी तथा सरकारी कंपनियों को सलाह देंगे कि वे भी बहुराष्ट्रीय स्वरूप अपनाएं, राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था के लिए उतना ही अच्छा होगा।

भाजपा का भ्रष्टाचार-विरोधी आरोपपत्र

गत एक वर्ष में भाजपा ने बंगलौर से पटना तक की लंबी यात्रा की है। बंगलौर सम्मेलन के बाद के कुछ महीनों में भाजपा आत्मविश्वास से भरपूर दिखाई दे रही थी। तब उसने सार्वजनिक जीवन की शुद्धता और चुनाव-प्रक्रिया की ईमानदारी के

संबंध में कई वक्तव्य जारी किये थे। क्या लालकृष्ण आडवाणी ने नहीं कहा था कि भाजपा चुनाव के लिए धनराशि केवल चैक से ही प्राप्त करेगी ? क्या उन्होंने नवंबर 1993 के चुनाव में भाजपा की भारी जीत की भविष्यवाणी नहीं की थी ? क्या उन्होंने यह नहीं कहा था कि नवंबर के चुनाव राष्ट्रपति भवन पहुंचने के लिए एक अंतिम मील पत्थर है ? अपनी बात की पुष्टि में मुझे उनके शब्द उद्धृत करने चाहिए। अक्तूबर 1993 मे उनके एक साक्षात्कार के प्रश्न-उत्तर इस प्रकार हैं :

प्रश्न : आप नरसिम्हाराव की जगह कब लेंगे ?

उत्तर : सचमुच मेरी प्रबल इच्छा है कि भाजपा सत्ता में आये।

प्रश्न : आप का मतलब... आप प्रधानमंत्री बनने के इच्छुक नहीं हैं !

उत्तर : मैंने इस बारे में सोचा नहीं है।

प्रश्न : किंतु आप अपनी पार्टी के उम्मीदवार तो हैं ?

उत्तर : मैं इससे इनकार नहीं करूंगा क्योंकि पार्टी चाहेगी कि... (हंसी)... मैं भाजपा को सत्ता में देखना चाहता हूं।

प्रश्न : क्या आप विश्वनाथ प्रताप सिंह की तरह कहेंगे कि मैं प्रधानमंत्री नहीं बनना चाहता ?

उत्तर : नहीं, मैं यह नहीं कहूंगा। लेकिन मैं इस बारे में कुछ टिप्पणी नहीं करूंगा। (बीजेपी टुडे, अक्तूबर 16-31, 1993)

एक महीना बाद आडवाणी और भी उत्साह-भरे थे। उसी पत्र के नवम्बर 16-30 अंक में उनका निम्नलिखित वक्तव्य छपा :

"मध्य प्रदेश, राजस्थान और हिमाचल प्रदेश के दौरे से मुझे यकीन हो गया है कि इन राज्यों में भी, जहां भाजपा की सरकारें विगत दिसंबर में अवैध और असंवैधानिक रूप से बर्खास्त की गयी थीं, हमारी पार्टी स्पष्ट बहुमत प्राप्त करेगी। उत्तर प्रदेश का अभियान कल शुरू हो रहा है।... हमारे सबसे बड़े विरोधी मान रहे हैं कि जहां तक उत्तर प्रदेश का संबंध है, भाजपा को पुनः सत्ता मिलनेवाली है। सब लोग मानते हैं कि 1990 के विधानसभा चुनावों और 1991 के लोकसभा चुनावों में भाजपा के पक्ष में स्पष्ट लहर थी। जहां चुनाव होनेवाले हैं उन राज्यों के दौरे के बाद मैं कह सकता हूं कि भाजपा की लहर पहले से भी ज्यादा तेज है... अब भाजपा को भारतीय राजनीति का प्रमुख ध्रुव माना जा रहा है जिसकी शक्ति मास-दर-मास और वर्ष-दर-वर्ष बढ़ रही है।"

चुनाव परिणामों ने आडवाणी की अधिकांश भविष्यवाणियां गलत सिद्ध कर दीं। भाजपा की चुनाव समीक्षा में कहा गया है : "हमारी सबसे बड़ी असफलता हिमाचल प्रदेश में रही। यहां 68 सदस्यों की विधानसभा में हमारी शक्ति 46 सीटों से घटकर 4 सीटों तक रह गयी। हमारा मत-प्रतिशत भी 1990 के 41 प्रतिशत से

घट कर 1993 में 35 प्रतिशत रह गया।··· यहां (मध्य प्रदेश में) 320 सदस्यों की विधानसभा में भाजपा की शक्ति 221 सीटों से घटकर 116 सीटों तक रह गयी।··· हमें आदिवासी क्षेत्रों में, जहां 75 आरक्षित सीटें हैं, सबसे ज्यादा नुकसान हुआ है। विगत विधानसभा में हमारे 54 आदिवासी प्रतिनिधि थे, जो नयी विधानसभा में सिर्फ 17 रह गये हैं। दुर्भाग्य से यहां हमारी छवि आपस में लड़नेवाली पार्टी की बन गयी थी, जो जनता को पसंद नहीं थी।··· जहां मध्य प्रदेश, हिमाचल प्रदेश, राजस्थान और दिल्ली में लगभग कांग्रेस बनाम भाजपा की टक्कर थी, उत्तर प्रदेश में भाजपा बनाम शेष सब पार्टियों का मुकाबला था।··· तथापि तीन कारणों ने उत्तर प्रदेश के परिणामों को प्रभावित किया–भाजपा के कार्यकर्ताओं में जरूरत से ज्यादा विश्वास (280 सीटें हमारी जेब में हैं), मुलायम सिंह-कांशीराम के गठबंधन को मिला खाड़ी और बंबई के अपराध-जगत का भारी मात्रा में पैसा, और इस गठबंधन की जातिवादी तथा सांप्रदायिक अपील।··· राजस्थान में हमें इस तथ्य को ध्यान में रखना चाहिए कि 34 भूतपूर्व मंत्रियों, उपाध्यक्ष और मुख्य सचेतक में से 21 हारे हैं।" हैरानी की बात है कि भाजपा को आधिकारिक रूप से भारतीय राजनीति का प्रमुख ध्रुव कहने और पार्टी के चुनाव विश्लेषण में भाजपा के पक्ष में जबर्दस्त लहर की भविष्यवाणी करने के बाद आडवाणी भाजपा की उत्तर प्रदेश में हार का कारण पार्टी-कार्यकर्ताओं में अतिविश्वास तथा चुनाव अभियान में भाजपा बनाम शेष सब पार्टियों का सवाल बन जाने को बताते हैं। अपनी ऊंची आकांक्षाओं (आज पांच प्रदेश कल सारा देश) के टूटने के सदमे से भाजपा अभी तक उबर नहीं पायी है। टूटे मनोबलवाली पार्टी ने अब हुबली के ईदगाह मैदान में राष्ट्रीय झंडा फहराने का मुद्दा उठाया। कर्नाटक में अपनी चुनावी संभावनाओं को बेहतर बनाने के उद्देश्य से इस मुद्दे को उठाने के लिए प्रसिद्ध लेखक गिरीश कर्नाड ने भाजपा को फटकारा। इससे पहले अर्थशास्त्र के प्राध्यापक वेंकट गिरि गौडा ने, जो राज्य से भाजपा सांसद हैं, पार्टी की भूमिका की तीव्र आलोचना की और आगाह किया कि इन फूट डालनेवाले हथकंडों के बहुत बुरे परिणाम होंगे। उन्होंने इस बात पर हैरानी प्रकट की कि जीवराज अल्वा जैसे बदनाम व्यक्ति को पार्टी में शामिल किया गया। एक संवाददाता ने भाजपा के एक बड़े नेता से प्रश्न किया कि उनमें भगवा ध्वज के स्थान पर राष्ट्रीय ध्वज के प्रति प्रेम कैसे उमड़ा ? उसने पूछा : "यदि आपको राष्ट्रीय ध्वज से इतना ही प्यार है तो उसे स्वतंत्रता दिवस पर नागपुर और दिल्ली के संघ मुख्यालयों पर क्यों नहीं फहराया जाता ?" कहने की जरूरत नहीं कि भाजपा का नेता इस अप्रत्याशित सवाल से तिलमिलाकर रह गया।

अब भाजपा के पटना सम्मेलन ने राव सरकार के खिलाफ आरोपपत्र तैयार किया है जिसमें कहा गया है कि यह सरकार हर रोज 16 करोड़ रुपए का चूना

जनता को लगा रही है। इसमे कोई संदेह नहीं कि शेयर बाजार के घोटाले और चीनी घोटाले ने राव सरकार की छवि को कलंकित कर दिया है। लेकिन अगर इसके खिलाफ देश में नाराजगी की लहर नहीं है, तो इसका कारण यह है कि देश में सब जगह भ्रष्टाचार और स्वेच्छाचार का वातावरण है और राजनीतिक दलों तथा राजनेताओं की विश्वसनीयता निम्नतम सीमा को छूने लगी है। वाजपेयी ने खुद कहा है : ''सभी सरकारें एक-जैसी हैं। हमारी भी चार राज्यों में सरकारें थीं, लेकिन सत्ता सबको भ्रष्ट कर देती है। कभी-कभी मैं इससे इतना उकता जाता हूं कि इच्छा होती है, यह सब छोड़ दूं।'' संवाददाता के एक प्रश्न के उत्तर में वाजपेयी ने कुछ व्यंग्य से कहा : ''भाजपा में अपराधी तत्व ? उन्हें ढूंढने के लिए प्रवर्धक कांच की जरूरत पड़ेगी।'' तथापि एमए हफीज के नाम से 'हिंदुस्तान टाइम्स' में छपी एक रिपोर्ट के अनुसार, उत्तर प्रदेश में आपराधिक पृष्ठभूमि के 781 उम्मीदवारों में से 106 चुनाव जीते, जिनमें 44 यानी सबसे अधिक भाजपा के, 33 मुलायम सिंह की पार्टी के और बाकी अन्य पार्टियों के हैं। महत्वपूर्ण बात यह है कि कल्याण सिंह ने, जिन्हें स्थिति की बेहतर जानकारी थी, विधानसभा में विशेषाधिकार हनन का सवाल नहीं उठाया और न किसी अन्य पार्टी के नेता ने ऐसा किया। जीआर खैरनार के अभियान ने मुख्यमंत्री शरद पवार की प्रतिष्ठा को बेशक नुकसान पहुंचाया है, किंतु भाजपा-शिवसेना के लोगों को भी कोई सद्गुणों का आदर्श नहीं मानता। बंबई के दो दैनिकपत्रों 'नवकाल' और 'महानगर' को दिये गये साक्षात्कार में एसएस तिनाईकर ने दिवंगत रामदास नायक पर आरोप लगाया कि उन्होंने अवैध भवन-निर्माण पर बावेला मचाने के बाद मेरे सम्मुख उन्हीं भवन-निर्माताओं के पक्ष में जिरह की। सीधी-सरल भाषा में इसे ब्लैकमेल और अवैध परितोष कहा जाता है।

बात यहीं खत्म नहीं होती है। केंद्रीय जांच ब्यूरो द्वारा पकड़ी गयी और अब उच्चतम न्यायालय में सुरक्षित सुरेंद्र जैन की डायरी का रहस्य गहराता जा रहा है। हिंदी दैनिक 'जनसत्ता' संघ परिवार का मुखपत्र नहीं किंतु यह परिवार के प्रति शत्रु भाव भी नहीं रखता है। उसने 29, 30 और 31 अगस्त 1994 को किस्तवार खबर छापी, जिसमें कई संगठनों और लोगों को भारी धनराशि देने के आरोप लगाये गये, जैसे (क) कश्मीरी आतंकवादी, (ख) आरडीएक्स विस्फोटों के लिए जिम्मेवार व्यक्ति, (ग) नौकरशाह जिसमें सीबीआई और रा के उच्च अधिकारी भी शामिल हैं और (घ) 42 राजनेता जिन्हें 52 करोड़ रूपए दिये गये। पहली रिपोर्ट दो संवाददाताओं के नामों से छपी, जिनमें एक का राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ और जेपी आंदोलन से निकट का संबंध रहा है। स्मरण रहे, भाजपा जयप्रकाश दिवस को भ्रष्टाचार-विरोधी दिवस के रूप में मना रही है। इस समाचारपत्र में राजनेताओं के

नामों की सूची दो बार प्रकाशित की गयी। राजीव गांधी से लेकर कमलनाथ तक और विद्याचरण शुक्ल से लेकर राजेश पायलट तक कांग्रेस के अनेक नेताओं के अलावा सूची में निम्नलिखित लोगों के नाम भी छपे हैं : लालकृष्ण आडवाणी (60 लाख रूपए), मदनलाल खुराना (5 लाख रूपए), विश्वनाथ प्रताप सिंह सरकार के तीन कैबिनेट मंत्री – आरिफ मोहम्मद खां, अरुण नेहरू और शरद यादव, एसआर बोम्मई, चंद्रशेखर सरकार के कई मंत्री जिनमें यशवंत सिन्हा भी शामिल हैं जो इन दिनों भाजपा में हैं।

इस बात पर संदेह नहीं किया जाना चाहिए कि भाजपा सार्वजनिक जीवन को साफ-सुथरा बनाने के लिए उत्सुक है, किंतु क्या उसका यह सदाशयी अभियान तब और विश्वसनीय नहीं होगा यदि वह उत्तर प्रदेश विधानसभा के अपराधी तत्वों पर या तिनाईकर के आरोपों पर या सुरेंद्र जैन की डायरी में दर्ज भाजपा के नेताओं के बारे में कुछ प्रकाश डाले?

राजनैतिक प्रणाली अपराधी गिरोहों की बंधक

प्रधानमंत्री पी.वी. नरसिम्हाराव ने केन्द्रीय जाँच ब्यूरो तथा राज्यों के भ्रष्टाचार-विरोधी ब्यूरो अधिकारियों को 20 अक्टूबर, 1994 को संबोधित किया, जिसकी ओर लोगों का शायद ध्यान नहीं गया। इसमें प्रधानमंत्री ने भ्रष्टाचार के खतरे से निपटने के लिए बहुआयामी कार्ययोजना बनाने का आह्वान किया। उन्होंने प्रवर्तन अभिकरणों को आश्वासन दिया कि "भ्रष्टाचार की समस्या से निपटने के लिए सभी कानूनी तथा प्रशासनिक उपाय किये जायेंगे।" इस बात को देखते हुए कि भ्रष्टाचार की प्लेग त्वरित आर्थिक विकास और राजनैतिक प्रणाली के सुधार के रास्ते में सबसे बड़ी बाधा है, यह आशा की जाती है कि इस लेख में चर्चित घोटाले की जांच और उस पर तुंरत कार्रवाई की ओर प्रधानमंत्री विशेष ध्यान देंगे। यह सर्वोच्च नेतृत्व की निष्ठा की कसौटी होगी।

हमारा देश राष्ट्रपिता की 125वीं वर्षगांठ मना रहा है। ऐसे मौके पर क्या हमें रुक कर इस बात पर विचार नहीं करना चाहिए कि उनके निधन के बाद के 46 साल के अर्से में उनके आदर्शों से हम कितनी दूर चले गए हैं ? उन्होंने हमें व्यक्तिगत और सार्वजनिक स्वच्छता के गुण सिखाए थे। उन्होंने हममें अत्यंत आवश्यक

नागरिक भावना भरी थी। लेकिन हमने उनकी शिक्षाओं की उपेक्षा की। हमने अपने गाँवों, कसबों और शहरों की हालत बदतर कर ली। कूड़े-कचरे के ढेर सर्वत्र दिखाई देते हैं, धनी वर्गों की बस्तियों में भी। झुग्गी-झोपड़ियां तो नरक बन गई हैं। अब प्लेग ने, जो मेरी पीढ़ी के व्यक्तियों के लिए भी मात्र बचपन की याद थी, हमें आ घेरा है।

महात्मा गाँधी ने सार्वजनिक जीवन की शुद्धता पर सबसे अधिक जोर दिया। वे बार-बार जवाबदेही की बात करते थे और उन्होंने हमें भ्रष्टाचार के खतरे से तब आगाह किया जब यह मामूली-से दाग से बड़ा नहीं था। अब भ्रष्टाचार ने सारे राष्ट्रीय जीवन को अपनी लपेट में ले लिया है और उसके परिणाम नई प्लेग के परिणामों से भी अधिक घातक होंगे। जैन परिवार की डायरी पकड़े जाने से एक अभूतपूर्व तूफान खड़ा होना चाहिए था क्योंकि इससे व्यवस्था का ऐसा घिनौना चेहरा प्रकट होता है जो बोफोर्स कांड के पर्दाफाश से भी अधिक भयानक है। किंतु हम भ्रष्टाचार की इस भयानक बीमारी के प्रति वैसे ही संवेदनशून्य हो गए हैं जैसे शहरों में कूड़े-कचरे के ढेरों के प्रति। मैं समझता हूं इससे संबंधित नग्न तथ्यों को जनता के सामने रखना निहायत जरूरी है।

25 मार्च, 1991 को अशफाक हुसैन लोन, हिजबुल मुजाहिदीन खुफियातंत्र का उपप्रमुख, चितली कबर, दिल्ली स्थित जमाते-इस्लामी के कार्यालय में गिरफ्तार हुआ। उसके पास कई बैंक ड्राफ्ट और नकद राशि पकड़ी गई। इस धन का स्रोत था लंदन स्थित डॉ. मोहम्मद अयूब नाम का एक व्यक्ति। अगले दो-तीन महीनों में जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय का एक छात्र शहाबुद्दीन गोरी और हवाला का धंधा करने वाले कई व्यक्ति पकड़े गए। इन गिरफ्तारियों से मिले सुरागों पर और छापे मारे गए। केंद्रीय जांच ब्यूरो की रिपोर्ट में कहा गया : "3-5-1991 को 20 जगहों पर एक साथ तलाशियां ली गईं। इनमें जे.के. जैन के दफ्तर और निवास स्थान भी शामिल थे। जे.के. जैन के नियोक्ता एस.के. जैन के दफ्तरों, फार्म हाउस और निवासस्थान पर भी छापे मारे गए। यहां 93,52,755 रुपये का टैक्स-चोरी का काला धन, 3,69,307 रुपये की विदेशी मुद्रा, 10,50,000 रुपये के इंदिरा विकासपत्र और 4,430 किलोग्राम सोना पांच विभिन्न जगहों से पकड़ा गया। इसके अलावा 58.09,100 रुपये का टैक्स चोरी का काला धन, 10,50,100 रुपये के इंदिरा विकासपत्र, 593 अमरीकी डालर, 300 यू.के. पाउंड, 2700 डच मार्क, 50 हांगकांग डालर, 300 फ्रांक और 50 अज्ञात मुद्राएं जे.के. जैन के घर से भी बरामद हुए। जे.के. जैन के घर से कुछ डायरियां और आंकड़े भी पकड़े गए।"

इस संबंध में जब तफतीश लगभग पूरी हो गई और लोन तथा ग़ोरी के खिलाफ आरोपपत्र बन गया तो 3 मई, 1991 को पकड़ी गई वस्तुओं और उनके

महत्व का कोई उल्लेख इन दस्तावेजों में नहीं किया गया। जे.के. जैन और एस.के. जैन के खिलाफ कार्रवाई करने का कोई सवाल ही नहीं था। केंद्रीय जांच ब्यूरो इस मामले को दबा देना चाहती थी, जो उसके विचार से राजनैतिक दृष्टि से विस्फोटक था। दोनों जैनों के यहां से पकड़े गए माल के विवरण के प्रकाशन से यह बात साफ हुई कि इसमें कई कानूनों का उल्लंघन हुआ है और केंद्रीय जांच ब्यूरो ने राष्ट्रीय हित में तुरंत कारगर कदम नहीं उठाया। केंद्रीय जांच ब्यूरो के अधिकारी ओ.पी. शर्मा और निदेशक विजय के. रामाराव को यह स्पष्ट करने के लिए बाध्य किया जाना चाहिए कि उन्होंने एस.के. जैन और जे.के. जैन की गतिविधियों की मुकम्मिल तफतीश क्यों नहीं की। केंद्रीय जांच ब्यूरो के संबंधित अधिकारियों की टिप्पणियों से लगता है कि अप्रैल 1988 से लेकर मार्च, 1991 तक की अवधि में हवाला रैकेटीयरों द्वारा बड़ी मात्रा में बाहर से आया धन बांटा गया। इस धन को प्राप्त करने वालों में कश्मीर के आतंकवादी, भारतीय राजनेता, सरकारी अफसर तथा अन्य थे जिनकी पहचान उन लोगों से पूछताछ के बाद आसानी से की जा सकती थी जिन्हें इस मामले के संबंध में सामान्यतया हिरासत में रखा जा सकता था। भ्रष्टाचार के मामलों में कानून को लागू न करने का हर मामला भेदभाव और मनमानी का मामला होता है और वह संविधन के अनुच्छेद 14 का उल्लंघन है।

दोनों जैनों पर 3 मई, 1991 को छापे पड़े। तीन साल बीत जाने पर भी केंद्रीय जांच ब्यूरो इस मामले को नहीं निपटा सका। क्या इससे अधिक हानिकारक बात और कोई हो सकती है? यदि हम इसकी तुलना इस बात से करें कि उच्चतम न्यायालय के कड़े निर्देश पर केन्द्रीय जांच ब्यूरो ने इलाहाबाद हाईकोर्ट की घटना की जांच कितनी जल्दी और कितनी कुशलता से पूरी कर ली तो हमें दोनों के अंतर का पता चल जाएगा। डायरी के इंदराजों को पढ़ने और आदमियों की पहचान करने में कोई दिक्कत नहीं होनी चाहिए। औसत बुद्धि का आदमी भी यह काम कर सकता है। वस्तुतः आदमियों की पहचान कर भी ली गई है और उन्हें दी गई रकमों का पता भी लगा लिया गया है। इसके मुख्य आकर्षण निम्नांकित हैं :

व्यक्ति और पार्टी	**अवधि**	**कुल रकम**
राजीव गांधी (कांग्रेस)	मार्च, 1991	2 करोड़ रुपये
भजनलाल (कांग्रेस)	फरवरी 1988 से जून 1990	1 करोड़ रुपये
बलराम जाखड़ (कांग्रेस)	मार्च 1988 से अप्रैल, 1991	61 लाख रुपये
नारायणदत्त तिवारी (कांग्रेस)	अप्रैल 1988 से अप्रैल 1991	25.8 लाख रुपये
कल्पनाथ राय (कांग्रेस)	जुलाई 1988 से अप्रैल 1991	54.7 लाख रुपये

विद्याचरण शुक्ल (जनता दल, जनता दल (एस) व कांग्रेस)	जुलाई 1989 से अप्रैल 1991	65.8 लाख रुपये
आर. के. धवन (प्रधानमंत्री के निजी सचिव)	सितंबर, 1989	50.0 लाख रुपये
माधवराव सिंधिया (कांग्रेस)	जनवरी 1990 से अप्रैल 1991	75.0 लाख रुपये
के.के. तिवारी (कांग्रेस)	अप्रैल 1991	30.0 लाख रुपये
लालकृष्ण आडवाणी (भाजपा)	अप्रैल 1988 से अप्रैल 1991	60.0 लाख रुपये
एस.आर. बोम्मई (जनता दल)	सितंबर 1990 से अप्रैल 1991	52.0 लाख रुपये
आरिफ मोहम्मद खां (जनता दल निर्दलीय)	मई 1988 से अप्रैल 1991	7.5 करोड़ रुपये
चिमनभाई पटेल (जनता दल, निर्दलीय)	दिसंबर 1989 से जनवरी 1991	1.9 लाख रुपये
अध्यक्ष, जनता दल (एस), समाजवादी पार्टी	अप्रैल 1991	1.0 लाख रुपये
यशवंत सिन्हा (जनता दल (एस), समाजवादी जनता पार्टी)	मार्च 1990 से अप्रैल 1991	21 लाख रुपये
देवीलाल (जनता दल)	अप्रैल 1989 से मार्च 1990	50 लाख रुपये
कल्याण सिंह कल्वी (जनता दल (एस), समाजवादी जनता पार्टी)	दिसंबर 1990 से अप्रैल 1991	95 लाख रुपये
अशोक सेन (जनता दल (एस) समाजवादी पार्टी)	दिसंबर 1990 से अप्रैल 1991	20 लाख रुपये
	नौकरशाह	
पी.एम.बामी अध्यक्ष, एन.टी.पी.सी.	मार्च 1988 से अप्रैल 1991	34.5 लाख रुपये
बी.एस ओझा सचिव, कृषि मंत्रालय	अप्रैल 1988 से अप्रैल 1991	50.0 लाख रुपये
एम.पी.नारायण अध्यक्ष, कोल इंडिया	फरवरी 1990 से अक्टूबर 1990	25.0 लाख रुपये
विजय करन, पुलिस आयुक्त दिल्ली तथा निदेशक,		

केन्द्रीय जाँच ब्यूरो	अप्रैल 1989 से दिसबंर, 1889	90.0 लाख रुपये
के. पद्मनाभैया अतिरिक्त सचिव, विद्युत मंत्री	मार्च 1990 से अक्टूबर 1990	58.0 लाख रुपये
जे.एस.बेदी सचिव, रॉ	जून, 1991	20.0 लाख रुपये
	व्यवसायी	
ललित सूरी	1988 से 1991	10.5 करोड़ रुपये

टिप्पणियां :

1. आंकड़े पूर्णांक में दिए गए हैं। केवल 20 लाख रुपये और उससे अधिक पाने वालों का ही उल्लेख ऊपर किया गया है।
2. यह बात कम महत्वपूर्ण नहीं है कि जे.के. जैन और एस.के. जैन हवाला रैकेटगिरी के धंधे के अलावा विद्युत और निर्माण के काम भी करते हैं, अतः उनका विशेष ध्यान विद्युत मंत्री तथा केंद्र एवं मध्यप्रदेश के विद्युत विभागों के अधिकारियों की ओर रहा। आरिफ मोहम्मद खां विश्वनाथ प्रताप सिंह के घनिष्ठ जनमोर्चा सहयोगी थे जिन्हें विश्वनाथ प्रताप सिंह ने प्रधानमंत्री के रूप में दो महत्वपूर्ण विभाग दिए थे जिनमें एक विद्युत विभाग था। उन्हें राजनेताओं में सबसे बड़ी रकम अर्थात् 7.5 करोड़ रुपये मिले। अरुण नेहरू, मदनलाल खुराना और अर्जुन सिंह और कुछ अन्य लोगों के नाम इस सूची में नहीं दिए गए हैं क्योंकि उन्हें मिली रकम 20 लाख रुपये से कम है।
3. नौकरशाहों में केन्द्र और मध्यप्रदेश के विद्युत विभागों, राष्ट्रीय ताप विद्युत विकास निगम और केंद्रीय विद्युत प्राधिकरण के एक दर्जन अधिकारी भी हैं जिन्हें जैनद्वय से पैसा मिला, लेकिन उनके नाम भी इसलिए इस सूची में नहीं दिए गए हैं क्योंकि उन्हें मिली रकम 20 लाख रुपये से कम है।

20 लाख रुपये से कम पानेवालों की सूची

व्यक्ति का नाम	अवधि	कुल रकम
	राजनेता	
पी. शिव शंकर (कांग्रेस)	जुलाई 1988 से दिसंबर 1990	16.94 लाख रुपये
जाफर शरीफ (कांग्रेस)	जुलाई 1988 से अगस्त 1989	10.00 लाख रुपये

एल.पी.साही (कांग्रेस)	जुलाई 1989 से अगस्त 1989	3.50 लाख रुपये
एम.एल. फोतेदार (कांग्रेस)	सितंबर 1989	10.00 लाख रुपये
कमल नाथ (कांग्रेस)	फरवरी 1990 से अप्रैल 1991	17.00 लाख रुपये
अर्जुन सिंह (कांग्रेस)	अप्रैल 1988 से अगस्त 1990	10.50 लाख रुपये
रंजीत सिंह (सुपुत्र देवी लाल) जनता दल (एस) सजपा	नवबंर 1990	15.00 लाख रुपये
शरद यादव (जनता दल)	अप्रैल 1988 से मार्च 1990	5,00 लाख रुपये
मोतीलाल वोरा (कांग्रेस)	अप्रैल 1988 से मार्च 1990	10.00 लाख रुपये
श्रीमती कृष्णा साही (कांग्रेस)	अप्रैल 1988 से मार्च 1990	2.00 लाख रुपये
ज्ञानी जैल सिंह (कांग्रेस)	अप्रैल 1989 से दिसंबर 1989	5.00 लाख रुपये
मदनलाल खुराना (भाजपा)	अप्रैल 1988 से मार्च 1990	3.00 लाख रुपये
विजय कुमार मलहोत्रा (भाजपा)	अप्रैल 1988 से मार्च 1990	1.00 लाख रुपये
श्रीमती ताजबर बाबर (कांग्रेस)	अप्रैल 1988 से अप्रैल 1990	1.00 लाख रुपये
प्रणव मुकर्जी (कांग्रेस)	अप्रैल 1991	10.00 लाख रुपये
दिग्विजय सिंह जद (एस) सजपा	अप्रैल 1991	10.00 लाख रुपये
हरमोहन धवन जद(एस) सजपा	अप्रैल 1991	10.00 लाख रुपये
जगन्नाथ पहाड़िया (कांग्रेस)	अप्रैल 1991	5.00 लाख रुपये

चंदूलाल चंद्राकर (कांग्रेस)	अप्रैल 1991	5.00 लाख रुपये
राजेश पायलट (कांग्रेस)	अप्रैल 1991	10.00 लाख रुपये
एम.जे.अकबर (कांग्रेस)	अप्रैल 1991	5.00 लाख रुपये
बूटा सिंह (कांग्रेस)	मई 1989 से सितंबर 1989	7.50 लाख रुपये

नौकरशाह

वी.के खन्ना संयुक्त सचिव विद्युत विभाग, भारत सरकार	सितंबर 1989	5.00 लाख रुपये
एम.एल.मलिक निदेशक (आपरेशन) एन.टी.पी.सी.	मई 1990	1.00 लाख यपये
वी. सुदंरराजन निंदेशक (परियोजना) एन.टी.पी.सी.	मई 1990	1.00 लाख रुपये
सी.एन.स्वामी महाप्रबंधक, एन.टी.पी.सी.	नवबंर 1988	3.00 लाख रुपये
ए.बैजल महाप्रबंधक, एन.टी.पी.सी	सितबंर 1988	1.00 लाख रुपये
एम.ए. हाई सी.एम.डी. राष्ट्रीय जलविद्युत निगम	फरवरी 1991	0-50 लाख रुपये
एच.के. खां मुख्य सचिव, गुजरात तथा सचिव, भारत सरकार	मार्च 1991	2,37,500 रुपये

पी.एन. अब्बी मुख्य सचिव, मध्य प्रदेश	मई 1989 से जून 1990	15.00 लाख रुपये
आर.के. नायर उपमहाप्रंबधक, एन.टी.पी.सी.	अप्रैल 1988	0.50 लाख रुपये
आर.के. नारायणन केंद्रीय विद्युत प्राधि.	अप्रैल 1988 से मार्च 1990	5.00 लाख रुपये
एस.बेरी ई.आई एल.	अप्रैल 1991	2.00 लाख रुपये
आर.आर. शाह संयुक्त सचिव विद्युत विभाग, भारत सरकार	जनवरी 1991	5.00 लाख रुपये

केंद्रीय जाँच ब्यूरो ने कुछ अकाट्य तथ्यों को झुठलाने और अर्धसत्यों के आधार पर टालमटोल करने का रास्ता अपनाया। उसने स्वीकार किया है कि "एस.के.जैन ने कुछ हद तक यह स्पष्ट किया है कि डायरी के कूट इंदराजों का क्या अर्थ है।"

किंतु केंद्रीय जांच ब्यूरो का कहना है कि "व्यक्तियों की पहचान की पुष्टि स्वतंत्र साक्ष्यों से अभी नहीं की जा सकी है।" यह भी कहा है कि एस.के.जैन ने दलील दी है कि उनकी कंपनी के काले धन में से यह रकमें दी गई हैं। मतलब यह है कि ये रकमें विदेशी मुद्रा से नहीं दी गई हैं। लेकिन यह सरासर झूठ है। कारण, इस बात का कोई उल्लेख नहीं किया गया है कि इस सफेद झूठ का पर्दाफाश करने के लिए आयकर विभाग या अन्य संस्थाओं की सहायता ली गई या नहीं। डायरियों, नोटबुकों आदि में और भी सूचनाएं हैं किंतु पहचाने गए नामों और दी गई रकमों की सत्यता का केंद्रीय जांच ब्यूरो ने कोई प्रतिवाद नहीं किया है। ब्यूरो कितना कुशल और कितना संजीदा था, यह उसकी आत्मस्वीकृति से साफ हो जाता है। वह कहता है कि "1993 के शुरू के दिनों में एस.के. जैन और जे.के. जैन से पूछताछ करने की कोशिश की गई थी किंतु वे केंद्रीय जांच ब्यूरो के समक्ष उपस्थित होने से बचते रहे और विदेश भी चले गए। तथापि उनकी उपस्थिति जुलाई, 1993 में सुनिश्चित की जा सकी। जब उन्होंने आगे की पूछताछ के लिए हाजिर होने में टालमटोल की तो सितंबर 1993 में उनके खिलाफ तलाश का नोटिस जारी किया गया, जिसके फलस्वरूप सितंबर 1993 के मध्य के बाद दिल्ली आप्रवास

अधिकारियों के माध्यम से उनकी उपस्थिति सुनिश्चित की गई।" ब्यूरो ने दावा किया कि उसके बाद उनके बयानों की जांच-पड़ताल का काम 'तेजी से' चलाया गया, जो अभी चल रहा है। यह कोरी बकवास है। अगर केंद्रीय जांच ब्यूरो चाहता तो उनके पासपोर्ट भी जब्त कर सकता था और 1991 में ही उनसे पूछताछ कर सकता था। पर उसने ऐसा नहीं किया। हवाला रैकेटगिरों के जाल में कश्मीरी आतंकवादियों से लेकर देश के बड़े नेताओं और अफसरों को फँसा देख कर कोई भी भौंचक्क रह जाएगा। **इस देश की कार्यपालिका, उसकी राजनैतिक भुजा (राजनेता), अधिकारी वर्ग (एक सेवारत सचिव भी इस में शामिल है) और उसका खुफिया विभाग–रॉ प्रमुख बेदी, प्रमुख थे – भी इसमें फंसे हैं, इन सभी लोगों की अंतरात्मा मर गई है और ये भ्रष्टाचार में लोटपोट हैं।** भाजपा के अध्यक्ष लालकृष्ण आडवाणी, जो कश्मीरी आतंकवादियों के खिलाफ बिना रियायत युद्ध करने की बड़ी-बड़ी बातें करते हैं, खुद विनाशक धन को स्वीकार करते हैं। विश्वनाथ प्रताप सिंह ने कई मौकों पर कहा है कि उनके मंत्रिमंडल के सदस्य भ्रष्टाचार में लिप्त नहीं हैं। देवीलाल और आरिफ मोहम्मद खां के अलावा – जिन्होंने बड़ी रकमें लीं, विशेषकर आरिफ मोहम्मद ने – अरुण नेहरू और शरद यादव को भी गंदा धन मिला है। शरद यादव ने तो इसे कम से कम मान भी लिया है। किंतु विश्वनाथ प्रताप सिंह इस मामले में गूंगी गुड़िया बन गए हैं। केवल जार्ज फर्नांडिस, मधु दंडवते समाजवादी मंत्री – और भाकपा, माकपा के नेताओं के नाम जैन की डायरी में नहीं हैं।

अपनी सारी बीमारियों के लिए पाकिस्तान को दोष देने का यहां रिवाज हो गया है। निस्संदेह, पाकिस्तान भारतीय राज्य में अस्थिरता पैदा करने के लिए अपनी पूरी शक्ति लगा रहा है। किंतु असली शत्रु घर के अंदर है। अतः मेरा विचार है कि इस गंदे लेनदेन में सम्मिलित सभी व्यक्तियों के खिलाफ सख्त कार्रवाई किए बिना भारतीय राजनैतिक प्रणाली और सार्वजनिक जीवन के अन्य विभागों की सड़न को दूर नहीं किया जा सकता है।

अध्याय सात

राज्य-पुनर्निर्माण

महाराज्य बनाम लघुराज्य

उत्तराखंड की समस्या गंभीर संकट का रूप ले रही है। हमें यह बात समझनी चाहिए कि उत्तराखंड सामरिक दृष्टि से बहुत महत्वपूर्ण है। इसकी सीमाएं तिब्बत और नेपाल के साथ लगी हुई हैं। यह सेना की भर्ती के लिए भी महत्वपूर्ण क्षेत्र है। यदि केंद्रीय सरकार सहित विभिन्न संबंधित पक्षों ने तत्काल कोई कदम नहीं उठाया, तो ऐसी स्थिति पैदा हो सकती है, जो देश की सुरक्षा को खतरे में डालेगी।

इस समस्या का मूल कारण है भारत संघ के घटक राज्यों के गठन का अतार्किक आधार। हमारी राज्य-व्यवस्था संघीय है, और इसकी सफलता इस बात पर निर्भर करती है कि सभी राज्यों तथा उनके विभिन्न क्षेत्रों सहित सारे देश का चहुंमुखी विकास हो। भारत संघ के घटक राज्यों में क्षेत्रफल और जनसंख्या के मामले में समानता नहीं है। मोटे तौर पर भी नहीं। तीन सबसे बड़े राज्य हैं–मध्य प्रदेश, राजस्थान और महाराष्ट्र, जिनके क्षेत्रफल क्रमशः 4,43,000, 3,42,000 और 3,08,000 वर्ग किलोमीटर से ऊपर हैं। तीन सबसे छोटे राज्य हैं– गोवा, सिक्किम और त्रिपुरा, जिनके क्षेत्रफल क्रमशः 3800, 7000 और 10,000 वर्ग किलोमीटर हैं। जनसंख्या की असमानता भी बहुत बड़ी है। सबसे अधिक जनसंख्या वाले तीन राज्य हैं–उत्तर प्रदेश, बिहार और महाराष्ट्र तथा सबसे कम जनसंख्या वाले तीन राज्य हैं–सिक्किम, गोवा और नगालैंड। इन सबकी आबादी क्रमशः 13.9, 8.63, 7.87, 0.4, 0.11 और 0.12 करोड़ है।

यह असमानता इन राज्यों के राजस्व को देखने पर भी स्पष्ट हो जाती है।

सबसे ऊपर है महाराष्ट्र, उत्तर प्रदेश और तमिलनाडु और सबसे नीचे सिक्किम, अरुणाचल प्रदेश और नगालैंड। इनके 1992-93 के राजस्व के आंकड़े क्रमशः 7594, 6599, 5369, 4774, 108, 182 करोड़ रुपए हैं।

उत्तराखंड के आंदोलन का तात्कालिक कारण सपा-बसपा सरकार द्वारा जारी आरक्षण संबंधी आदेश हैं, विशेषकर शिक्षण संस्थाओं से संबंधित। बड़ा मुद्दा पृथक राज्य का है। उत्तर के पर्वतीय क्षेत्र को पृथक राज्य बनाने के बारे में उत्तर प्रदेश में कोई विवाद नहीं है। इसके लिए उत्तर प्रदेश विधान मंडल ने सर्वसम्मत प्रस्ताव पास कर दिया है। किंतु राज्यों का निर्माण रातोंरात नहीं हो जाता। केंद्र को इसके लाभ-हानि पर विचार करना होगा और यह भी देखना होगा कि इसके उत्तर प्रदेश के अन्य क्षेत्रों तथा अन्य राज्यों पर क्या प्रभाव पड़ेंगे। इस प्रक्रिया में समय लगेगा। इस योजना को असमान क्षेत्रीय विकास की समस्या के व्यापक समाधान का एक हिस्सा बनाया जाना चाहिए।

अंग्रेजों के आगमन से पूर्व भारत के हजारों साल के इतिहास में आज के उत्तर प्रदेश जैसी कोई राजनीतिक या प्रशासनिक इकाई नहीं रही। यह अंग्रेजों के उत्तर भारत पर अधिकार करने की प्रगति और सनक की उपज है। उत्तर प्रदेश भारी-भरकम राज्य है जिसका प्रबंध और शासन बहुत कठिन है। विगत वर्षों में उसके प्रशासन की स्थिति बिगड़ती रही है। औद्योगिक तथा कृषि उत्पादन और प्रति व्यक्ति आय के मामले में उसकी स्थिति स्वाधीनता प्राप्ति के समय से बहुत खराब रही है। दूसरी ओर पंजाब और हरियाणा के छोटे राज्यों ने औद्योगिक और कृषि उत्पादन में उल्लेखनीय प्रगति की है। प्रति व्यक्ति आय के मामले में इन राज्यों का स्थान काफी ऊंचा है। वास्तव में 11 राज्य प्रति व्यक्ति आय के मामले में उत्तर प्रदेश से ऊपर हैं। एक समय उत्तर प्रदेश चीनी-उत्पादन के मामले में सबसे आगे था। 1976 से महाराष्ट्र ने उसे पीछे छोड़ दिया है, और तब से यह पीछे चल रहा है।

राष्ट्रीय एकता, त्वरित आर्थिक विकास और कानून-व्यवस्था बनाये रखने की दृष्टि से – जो प्रगति की आवश्यक शर्त है–यह बहुत जरूरी है कि उत्तर प्रदेश, मध्य प्रदेश, महाराष्ट्र, बिहार आदि भारी-भरकम राज्यों को छोटे राज्यों में बांटा जाये, जिससे इन राज्यों की जनता में विभिन्न क्षेत्रों के असमान विकास से उत्पन्न व्यापक असंतोष को दूर किया जा सके। इस तर्कसंगत प्रस्ताव का कि संघ के घटक राज्य जनसंख्या और क्षेत्रफल में यथासंभव समान हों, उत्तर प्रदेश के कांग्रेसी नेताओं ने डट कर विरोध किया था। गोविंद बल्लभ पंत, जो स्वयं उत्तराखंड के थे, उत्तर प्रदेश की अखंडता को बनाये रखने की नीति के सबसे प्रबल समर्थक थे। उत्तर प्रदेश के कांग्रेसी नेताओं का विचार था कि सबसे अधिक आबादी वाले इस

राज्य पर अधिकार होने से संसद में अन्य राज्यों की तुलना में उनकी स्थिति बेहतर होगी। शांति के उन दिनों में उत्तर प्रदेश के कांग्रेसी नेता उत्तर प्रदेश को भारत का हृदय प्रदेश कहते थे। वे सोचते थे कि इस राज्य के अखंड बने रहने से ही केंद्र में उनका बाधारहित दबदबा बना रहेगा और अधिक महत्वपूर्ण बात यह है कि इससे राष्ट्रीय एकता मजबूत होगी। यह उनका भ्रम था। भारत की एकता उत्तर प्रदेश या किसी अन्य विशाल राज्य को अखंड बनाये रखने से सुनिश्चित नहीं होगी। बहरहाल, यह आशा अब भग्न हो चुकी है। अपनी पार्टी के हितों की रक्षा के लिए उत्तर प्रदेश के कांग्रेसी नेताओं ने न केवल अपने भारी-भरकम राज्य को बनाये रखा, बल्कि इसी तरह के एक और राज्य मध्य प्रदेश को भी बनाया। इस कृत्रिम राज्य में लगभग चार दशकों के बाद भी सही मायनों में एकरसता नहीं हो पायी है। यही समय है जब इसे मध्य भारत, कोसल, छत्तीसगढ़ और विंध्य प्रदेश में बांटा जाये। उत्तर प्रदेश के बुंदेलखंड के जिलों – झांसी, ललितपुर, जालौन, बांदा और हमीरपुर– को नवनिर्मित मध्य भारत तथा विंध्य प्रदेश से जोड़ दिया जाये। उत्तराखंड को अलग करके शेष उत्तर प्रदेश को पश्चिमी और पूर्वी उत्तर प्रदेश के दो राज्यों में विभाजित किया जाये।

बिहार भी बहुत विशाल राज्य है। झारखंड क्षेत्रीय परिषद या विकास बोर्ड या उपराज्य के प्रयोग व्यर्थ होंगे। सबसे अच्छा हल यह है कि दक्षिण बिहार को अलग राज्य बना दिया जाये। महाराष्ट्र ने विदर्भ और मराठवाड़ा के विकास बोर्डों के प्रावधानों को लागू किया है। इससे न तो बेहतर एकरसता स्थापित होगी और न जनता को वास्तविक संतोष मिलेगा। बेहतर यह होगा कि विदर्भ को पृथक राज्य बनाया जाये और मराठवाड़ा की जनता को पश्चिमी महाराष्ट्र तथा विदर्भ में से किसी के साथ संबद्ध होने की इच्छा व्यक्त करने दी जाये। बेहतर होगा कि इन सभी प्रश्नों पर मार्च में विधानसभा चुनाव के बाद कैबिनेट की उपसमिति विचार करे और उसे विशेषज्ञों की सहायता उपलब्ध हो। विशालकाय राज्यों को छोटे-छोटे राज्यों में बांटने से न केवल पिछड़े क्षेत्रों के आर्थिक विकास को गति मिलेगी अपितु इससे संघीय राज्यव्यवस्था भी मजबूत होगी।

तत्काल जरूरी समस्या है–उत्तराखंड में शांति की स्थापना। वर्तमान उत्तर प्रदेश सरकार तीन पार्टियों के सहयोग पर निर्भर करती है। सपा-बसपा गठबंधन अकेले उत्तर प्रदेश का शासन नहीं चला सकता। उसे कांग्रेस के समर्थन की जरूरत है। समय-पूर्व चुनाव कराने से सपा-बसपा गठबंधन को जरूरी नहीं कि कोई फायदा नहीं होगा।

उत्तराखंड के लोगों का कहना है कि उनकी हमेशा उपेक्षा हुई है। यहां के लोगों की कई पुरानी शिकायतें हैं। उनका कहना है कि वहां जो उद्योग स्थापित हुए हैं,

उनसे स्थानीय लोगों को कोई लाभ नहीं हुआ है, बल्कि उन्होंने पहाड़ों के पर्यावरण को ही नष्ट किया हैं। यहां के लोगों को नौकरियों में लगभग कोई हिस्सा नहीं मिला है। पहाड़ी क्षेत्रों में स्थापित उद्योगों और सरकारी विभागों में जो तकनीशियन, इंजीनियर और अन्य कर्मचारी नियुक्त होते हैं, वे अधिकतर मैदानी इलाकों से आते हैं। स्थानीय कच्चे माल और श्रम-शक्ति का उपयोग करने के लिए छोटे रोजगार-उन्मुख उद्योग स्थापित नहीं हुए हैं। सड़कें तथा अन्य संचार साधन आदिम अवस्था में हैं।

शिकायतों की सूची वस्तुतः बहुत लंबी है। पहाड़ी क्षेत्रों में अनुसूचित जातियों तथा जनजातियों की संख्या काफी बड़ी है। किंतु इन क्षेत्रों के नेता कहते हैं कि यहां अन्य पिछड़े वर्गों की तादाद नगण्य है। उत्तर प्रदेश सरकार का कहना है कि वह क्षेत्रवार या जिलावार नीति नहीं बना सकती; नीति सारे राज्य के लिए ही बनायी जा सकती है। दोनों पक्षों की बात अपने-अपने ढंग से ठीक हैं। इस समस्या को बहुत ज्यादा खींचने से कुछ हासिल नहीं होगा। इस बीच उत्तराखंड के कालेजों तथा विश्वविद्यालय्रों में, पृथक राज्य बनने तक, आरक्षणों की मात्रा में समायोजन किया जाना जरूरी है। इस समय शांति की जरूरत है। विक्षोभ की स्थिति से न पहाड़ के लोगों को फायदा होगा और न मैदानी क्षेत्रों के लोगों को। मैं आशा करता हूं कि मुलायम सिंह, कांशीराम और नारायण दत्त तिवारी मौके को समझेंगे और शांतिपूर्ण बातचीत शुरू करेंगे।

अध्याय आठ

नई दुनिया में भारत

शीतयुद्ध के स्थान पर संस्कृति-युद्ध

उन्नीसवीं सदी के पांचवें दशक से, जैसाकि मार्क्स ने 'कम्युनिस्ट मैनिफेस्टो' में घोषणा की, साम्यवाद का भय यूरोप को सताने लगा था। कम्युनिस्ट मैनिफेस्टो में सर्वहारा की विजय की जो कल्पना की गयी थी, वह 'विश्वव्यापी विजय' होनेवाली थी। नवंबर 1917 में रूस में बोलशेविक क्रांति को लेनिन, ट्राट्सकी और अन्य साम्यवादी विचारकों ने 'विश्वक्रांति की पूर्वपीठिका' माना। लेनिन ने निकट भविष्य में आधुनिक पूंजीवाद और उसके साथ साम्राज्यवादी 'ऊपरी ढांचे' के विशाल किले को ढहते देखा। तब से लेकर विश्व-राजनीति पर दो विचारधाराओं और दो विश्व-प्रणालियों का संघर्ष हावी रहा, अर्थात साम्यवाद बनाम पूंजीवाद। नाज़ी-विरोधी युद्ध के विष्कभंक (मध्यांतर) ने थोड़े समय के लिए इस प्रमुख संघर्ष को धूमिल बनाया। किंतु नाज़ी जर्मनी की पराजय के बाद यह संघर्ष विश्वव्यापी स्तर पर उग्र रूप में शुरू हो गया।

दूसरे विश्वयुद्ध के बाद साम्यवादी क्रांति और पराधीन राष्ट्रों के साम्राज्य-विरोधी संघर्ष का मेल हुआ और दोनों की रफ्तार तेज हुई। जहां पश्चिम का साम्राज्यवादी शासन दुनिया से उत्तरोत्तर समाप्त होने लगा, वहीं पश्चिमी अर्थव्यवस्थाओं ने उत्पादन, श्रमिक-उत्पादिता, प्रौद्योगिकी-परिवर्तन और नये पदार्थों के निर्माण की क्रांति – जैसे इस्पात की जगह पर विभिन्न किस्मों के नये प्लास्टिक – में अद्भुत प्रगति की।

विश्वयुद्ध के अंत के करीब सोवियत साम्यवाद की सीमाएं पश्चिम में

स्टेटिन-ट्रीएस्ट लाइन तक विस्तृत हो गयीं। अगले तीन दशकों में साम्यवाद चीन, कोरिया, क्यूबा और वियतनाम में शासन का प्रमुख सिद्धांत बन गया और नये राज्य शक्तिशाली अमरीका को युद्धोत्तर अवधि में उसके अपमान की लगातार याद दिलाते रहे। निकिता ख्रुश्चेव की यह डींग सबको याद होगी कि साम्यवादी ताकतें जल्दी ही पूंजीवाद को दफना देंगी। यह साम्यवादी-पूंजीवादी संघर्ष हथियारों को सीमित करनेवाले रूस-अमरीका समझौते से तथा गोर्बाचोव के पेरेस्त्रोइका एवं विश्वशांति की पहलकदमी से कुछ नरम पड़ा। यह संघर्ष अंत में 1991 में सोवियत संघ के विघटन के साथ खत्म हुआ। पश्चिम की इस विजय को जापानी मूल के एक अमरीकी लेखक ने 'इतिहास का अंत' कहा। पश्चिमी उदारवाद की विजय-यात्रा के युग की भविष्यवाणी की गयी। यद्यपि कुछ समय के लिए छोटे युद्धों तथा राष्ट्रीय एवं जातीय संघर्षों के कारण इसमें बाधा पड़ सकती है। उदार लोकतंत्र की अंतिम विजय की इन हर्षोन्मादपूर्ण घोषणाओं का सब तरफ से अनुमोदन नहीं हुआ। कुछ लेखकों, इतिहासविदों और धर्मशास्त्रियों द्वारा नये टकराव की भविष्यवाणी की जाने लगी है। नये विश्व-सुधारकों की संख्या बढ़ रही है।

पश्चिमी विश्व अपनी नई गतिशील शक्ति के प्रति तेरहवीं-चौदहवीं शताब्दी से जागरूक हुआ। धन के आकर्षण और मजहबी उत्साह के अजीब से मिश्रण ने उनकी कल्पना को तीव्र किया और उनमें खोज-यात्रा की चाह पैदा की। किपलिंग ने गोरी जाति के दायित्व का महिमागान निम्नलिखित पंक्तियों में किया :

गोरी जाति का दायित्व निभाओ
अपने अधीनों की आवश्यकता पूर्ति के लिए
अपनी सर्वश्रेष्ठ संतानों को भेजो–
परदेस में बंधे रहने के लिए।

वास्तव में पश्चिम के लोग सारी दुनिया को व्यापार, लाभ, ईसाइयत, साम्राज्यवाद, मुक्त बाजार अर्थव्यवस्था, भूमंडलीकरण आदि के गुण छह सौ से अधिक वर्षों से सिखा रहे हैं। ओस्वाल्ड स्पेंगलर और आर्नल्ड टायनबी जैसे इतिहासकार हमेशा सभ्यताओं के संदर्भ में बात करते रहे, राष्ट्र-राज्यों के संदर्भ में नहीं। टायनबी ने सोवियत साम्यवाद को पश्चिमी विचारधारा की असहमति के रूप में, आर्थोडाक्स ईसाई सभ्यता की पुरानी चुनौती के सातत्य के रूप में तथा मास्को को पश्चिमी सभ्यता के वर्चस्व को चुनौती देने वाले तीसरे रोम के रूप में देखा। इतिहास के इस दृष्टिकोण से साम्यवादी प्रणाली का पतन रूसी समाज के मसीहाई उत्साह में कोई कमी नहीं करेगा। आर्थोडाक्स ईसाई संप्रदाय की इस विशेष मिशनरी भावना की सशक्त अभिव्यक्ति हमें उन्नीसवीं शताब्दी के प्रसिद्ध रूसी लेखक फियोडोर दास्तोव्स्की की रचनाओं में मिलती है। इसके कुछ उदाहरण

ही काफी होंगे।

उस महान उपन्यासकार ने एक जगह लिखा : "प्रत्येक महान जाति यह मानती है, और यदि वह दीर्घजीवी होना चाहती है तो उसे मानना भी चाहिए, कि मानव जाति को दुखों से मुक्त करने का दायित्व उसी पर है, वह इसलिए जिंदा है ताकि वह तमाम राष्ट्रों के आगे खड़ी हो सके, उन सबको एक करके अपने साथ जोड़ सके तथा इस कार्य में ऐसा संगीत पैदा कर सके, जो सभी राष्ट्रों को पूर्वनिश्चित मंजिल तक ले जाये।"

दास्तोव्स्की ने अपने कल्पनालोक में देखा : "पूर्व का गरुड़ सुनहरे पंखों के साथ ईसाई मजहब के शिखरों पर विराजमान सारी दुनिया के ऊपर उड़ रहा है। उसे न तो किसी देश को जीतने की आकांक्षा है, न धन-संपत्ति के संग्रह की और न ही अपनी सीमाओं का विस्तार करने की, बल्कि उसका लक्ष्य है दबे और सताए हुए लोगों को मुक्ति प्रदान करना तथा उन्हें और समूची मानव जाति को नया जीवन प्रदान करना।" यदि उपर्युक्त वाक्य में ईसाइयत के स्थान पर साम्यवाद शब्द रख दिया जाये तो हमें उस विश्वास की झलक मिल जाती है जिसने हाल ही अस्त हुई सोवियत प्रणाली के संस्थापकों को प्रेरित किया था।

सोवियत शक्ति के विघटन से अमरीकियों को शांति नहीं मिली। अमरीकी लेखक सैम्युअल हटिंगटन (फारेन अफेयर्स, समर, 1993) ने पश्चिम के भविष्य के बारे में चिंता व्यक्त की है। उसने पश्चिमी दुनिया को सभी गैर-पश्चिमी समाजों के साथ संघर्षरत देखा है। इस लेखक ने सभ्यताओं का जो वर्गीकरण किया है वह कहीं-कहीं अस्पष्ट लगता है। यदि धर्म और संस्कृति उनकी कल्पना में सभ्यताओं के आधार रहे हैं—न कि जातीय, राष्ट्रीय और नस्लीय भेद—तो अमरीका और मैक्सिको की सीमा, रियो ग्रांडे नदी के दक्षिण की सभ्यता को उनके द्वारा लैटिन अमरीकी सभ्यता करार दिया जाना विरोधाभासपूर्ण और भ्रामक है। वास्तव में उत्तरी और दक्षिणी अमरीका धर्म और संस्कृति की दृष्टि से पश्चिमी ईसाइयत के अंग हैं।

निश्चय ही पश्चिमी यूरोप में न केवल राष्ट्रीयता और भाषा के भेद हैं अपितु रोमन कैथोलिक और प्रोटेस्टेंट मतों के भेद भी हैं। उत्तरी आयरलैंड (उल्स्टर) इस बात का उदाहरण है कि ये भेद बहुत सजग हैं और इन पर काबू नहीं पाया जा सकता है। तथापि पश्चिमी यूरोप और अमरीका में सभ्यता की एकता के संबंध में किसी को संदेह नहीं हो सकता। लैटिन अमरीका की आबादी में भी इंडियन लोगों की बड़ी संख्या के अलावा कोई ऐसा भेदकारक चिह्न नहीं है जिसके आधार पर लैटिन अमरीका की सभ्यता को पृथक सभ्यता कहा जा सकता है।

सभ्यताओं के वर्गीकरण में अस्पष्टता के बावजूद 'फारेन अफेयर्स' के लेखक

ने रूस को पश्चिमी सभ्यता का हिस्सा नहीं माना है। उनके अनुसार पश्चिमीकरण बनाम रूसीकरण (अर्थात पश्चिमीकरण के बिना आधुनिकीकरण) की बहस साम्यवादी रूस के विघटन के बाद भी खत्म नहीं हुई है। लेखक कहता है : "जहां यूरोप में विचारधारात्मक विभाजन खत्म हुआ है, वहीं सांस्कृतिक विभाजन अर्थात एक तरफ पश्चिमी ईसाइयत और दूसरी तरफ आर्थोडाक्स ईसाइयत तथा इस्लाम, फिर उभरा है।" उनकी तरह सोचनेवालों के लिए यूरोप की सबसे महत्वपूर्ण विभाजक रेखा वही है जो सन 1500 में पश्चिमी ईसायत की पूर्वी सीमा थी।

अनेक पश्चिमी पर्यवेक्षकों का कहना है कि आर्थिक आधुनिकीकरण और उसके फलस्वरूप होनेवाले सामाजिक परिवर्तनों से सारी दुनिया में लोग अपनी स्थानीय अस्मिताओं से विलग हो रहे हैं। ये परिवर्तन अब तक संतोषजनक पहचान देने वाले राष्ट्र-राज्य को कमजोर कर रहे हैं। "अधिकांश विश्व में इस रिक्ति को भरने का काम धर्म कर रहा है–मुख्यतः धार्मिक कट्टरवाद के आंदोलनों के रूप में।" पश्चिम के विचारक इस्लाम के पुनरुत्थान से अत्यधिक परेशान हैं।

पश्चिम में बुद्धिजीवियों और समाचारपत्र-टिप्पणीकारों का काफी बड़ा वर्ग इस्लाम को रूस अथवा चीन से ज्यादा बड़ा खतरा मानता है। उनकी दृष्टि में इस्लाम से तिहरा खतरा है : राजनीतिक, जनसांख्यिकीय और धार्मिक। पैट्रिक बुकानन लिखते हैं : "एक हजार साल तक मानव जाति के भाग्य का संघर्ष ईसाइयत और इस्लाम का संघर्ष रहा; इक्कीसवीं सदी में पुनः ऐसा हो सकता है। इधर शिया हमें अपमानित कर रहे हैं और उधर उनके सहधर्मी पश्चिम के देशों में अपनी तादाद बढ़ा रहे हैं।" पश्चिमी देशों में अल्जीरिया, तुर्की और अन्य देशों से मुस्लिम आप्रवासियों की संख्या में वृद्धि तथा उनकी आबादी की स्वाभाविक वृद्धि-दर से पश्चिमी यूरोप भयभीत होने लगा है। कुछ अनुमानों के अनुसार, अमरीका में मुसलमानों ने यहूदियों को जनसंख्या में पीछे छोड़ दिया है। बुकानन ने लिखा : "इस्लाम अफ्रीका, एशिया और मध्य एशिया में उत्कर्ष पर है। इस्लाम का खतरा वैश्विक है। पश्चिम के धर्मनिरपेक्ष समाजों में जहां नियोजित परिवार की जड़ें मजबूत हैं, वहीं कट्टर मुसलमान अधिक बच्चे पैदा कर रहे हैं।" (भारत में भी उग्र हिन्दूवाद के कुछ समर्थक इस आदिम भय को उकसा रहे हैं और यह प्रचार कर रहे हैं कि मुसलमान आबादी में हिंदुओं को पीछे छोड़ देंगे।)

पश्चिम में नये इस्लामी खतरे को ईसाइयत और इस्लाम के ऐतिहासिक सभ्यतामूलक संघर्ष के परिप्रेक्ष्य में देखने का फैशन-सा चल गया है। अकसर इस्लाम के आंतरिक विभाजन को नजरअंदाज किया जाता है और इस्लाम को उसी तरह एकात्मक मान लिया जाता है जैसे पचास के दशक के प्रारंभिक वर्षों में साम्यवाद को मान लिया जाता था। इस्लामी आंदोलनों की विविधता को ध्यान में

ही नहीं रखा जाता।

मुसलमानों का आत्मसातीकरण इंगलैंड, फ्रांस और जर्मनी में विवाद का विषय बन गया है। बहुत दिनों से इन देशों में रह रहे एशिया, मध्य एशिया और अफ्रीका के मुस्लिम समुदाय ब्रेडफोर्ड और मार्सिलीज की स्थानीय राजनीति पर हावी हैं। मुस्लिम-विरोधी भावना पश्चिमी यूरोप की बढ़ती विदेशी स्पर्धा का अनिवार्य परिणाम है और आर्थिक मंदी तथा प्रशांत क्षेत्र की अत्यंत शक्तिशाली अर्थव्यवस्थाओं की चुनौती ने विदेशी स्पर्धा की उग्र अभिव्यक्तियों के लिए आग में घी का काम किया है। पहले इमाम खुमैनी और फिर सद्दाम हुसैन तथा गद्दाफी विश्वव्यापी इस्लामी खतरे के प्रतीक बन गये। पश्चिमी विचारक सभ्यतामूलक टकराव के खतरे से बदहवास हैं।

इस बात से इनकार नहीं किया जा सकता कि सत्तर साल के कम्युनिज्म और अनीश्वरवादी प्रचार का रूसियों, उजबेकों तथा ताजिकों पर कोई विशेष प्रभाव नहीं पड़ा। अनीश्वरवादी प्रचार का तो कोई भी असर नहीं हुआ। रूस में आर्थोडाक्स चर्च का बहुत तेजी से पुनर्स्थापन हुआ है। जहां तक भूतपूर्व सोवियत संघ के मुस्लिम गणराज्यों का संबंध है, एक उदाहरण देना ही काफी होगा। एक समाचारपत्र ने कहा है कि जहां ताजिकिस्तान में तीन साल पहले 17 मस्जिदें और 19 गिरजे थे वहां अब 300 मस्जिदें लेकिन गिरजे 19 ही हैं, और मस्जिदों तथा मदरसों में इस्लामी कट्टरवाद के उपदेश खुलेआम दिये जा रहे हैं।

उद्योगवाद, मुक्त बाजार अर्थव्यवस्था और यहां तक कि उदार लोकतंत्र ने भी मुसलमानों को पश्चिमी सभ्यता के योग्य नहीं बनाया है। इसके विपरीत धर्म-परिवर्तन से आदमी पुरानी सांस्कृतिक परंपरा से अलग हो जाता है और उसकी पुरानी पहचान बदल जाती है। धर्म-परिवर्तन से आये बदलाव की इस विशेषता के कारण ही मुस्लिम मतांधों ने विश्व में इस्लामीकरण का अभियान चला रखा है। मुस्लिम मतांधों का दृढ विश्वास है कि यदि वे शक्तिशाली पश्चिम को पराजित कर देंगे तो सारा विश्व उनके कदमों पर आ गिरेगा। जहां ईरान के मुसलमान परिवार को सीमित रखने के समर्थक हैं वहीं कुछ कट्टरवादी मुसलमान परिवार-नियोजन का विरोध करते हैं और उम्मीद करते हैं कि मुसलमानों की आबादी का स्वाभाविक विकास होने से उनकी तादाद गैर-मुस्लिमों से अधिक हो जायेगी। वे यह भूल जाते हैं कि धरती के संसाधन सीमित हैं और अविचारपूर्ण नीति से मानव जाति के कष्टों में वृद्धि ही हो सकती है, विश्व-विजय नहीं मिल सकती।

धर्म और संस्कृति के मिश्रण के रूप में सभ्यता की कल्पना और सभ्यताओं के बीच टकराव की कल्पना नई नहीं है। प्राचीन यूनान के लोग हमेशा मानते थे कि फारसी साम्राज्य के साथ उनका संघर्ष सभ्यता का संघर्ष है। आज के पश्चिमी

देशों की तरह अपने उत्कर्ष काल में इस्लाम ने भी अपने समय की सभी सभ्यताओं को (पश्चिमी सभ्यता सहित जो तब अपने बाल्यकाल में थी) चुनौती दी थी। यूनानी, पर्शियन और भारतीय सभ्यताओं की लंबी सांध्यवेला में इस्लाम ही विज्ञान, गणित, भूगोल, खगोलशास्त्र और दर्शन की प्राचीन विद्या का (जो अब लुप्त हो चुकी है) संरक्षक, संवर्द्धक और प्रचारक रहा। मुस्लिम सभ्यता का विश्व की जहाजरानी पर कभी वर्चस्व नहीं रहा। पूर्वी भूमध्यसागर, लालसागर और अरबसागर भी सोलहवीं सदी में उसके हाथ से निकलकर पश्चिमी देशों के पास चले गये। तथापि सोलहवीं सदी के अंत में वियना के घेरे तक मुसलमान तुर्क सैनिक कला में अपराजेय रहे। उसके बाद मुस्लिम दुनिया अज्ञान और रूढ़िवाद में डूब गयी। तेल का आविष्कार मुस्लिम देशों के लिए वरदान सिद्ध हुआ। किंतु तेल की समृद्धि ने उपभोक्तावाद और कट्टरवाद दोनों को ही बढ़ावा दिया और किसी भी मुस्लिम देश में यह समृद्धि वास्तविक आर्थिक विकास नहीं कर सकी। तेल नष्ट होनेवाली परिसंपत्ति है और यह एक सदी से ज्यादा नहीं चल सकती।

शक्ति की वास्तविकताओं से बेखबर कुछ इस्लामी प्रचारक भी इस्लाम और पश्चिम के बीच अंतिम संघर्ष की बात कर रहे हैं। यह लड़ाई विचारधारा की नहीं, दो मजहबों की होगी (इस्लाम और ईसाइयत के बीच)। एक गैर-अरब-ईरानी लेखक, जो इस्लाम और पश्चिमी ईसाइयत के संघर्ष को सतत संघर्ष मानते हैं, लिखते हैं : "शुरू से ही इस्लाम ने ईसाइयत के विश्वव्यापी बनने के अधिकार को चुनौती दी। उस समय मक्का के प्राचीनतम इलहामों में उसने ईसाई मजहब के मूल सिद्धांतों के सत्य और उसकी प्रामाणिकता पर प्रश्नचिह्न लगाया था। बाद में इस्लाम ने इन सैद्धांतिक चुनौतियों को अभूतपूर्व क्षेत्र-विस्तार के साथ ऐतिहासिक रूप से भी आगे बढ़ाया। यह क्षेत्र-विस्तार दुनिया के किसी भी साम्राज्य की तुलना में अधिक था।"

इसके बावजूद यह लेखक उस ऐतिहासिक टकराव की बात करता है जो पश्चिमी सभ्यता और संस्कृति ने इस्लाम के लिए निरंतर प्रस्तुत किया है। यह कहना ऐतिहासिक दृष्टि से सही नहीं है कि लेखक जिस टकराव की बात करता है वह पश्चिम द्वारा शुरू किया गया था। बढ़ती हुई इस्लामी शक्ति ने उत्तरी अफ्रीका (मगरिब), आईबेरियन प्रायद्वीप के अधिकांश भाग, सिसली और पश्चिमी भूमध्यसागर के अन्य द्वीपों पर (जहां की आबादी ईसाई मजहब को मानती थी) कब्जा किया था। पश्चिमी दुनिया ने तो कुछ सदियों बाद आक्रामक रुख अपनाया था, यद्यपि यह बात सही है कि दूसरे क्षेत्रों पर जो भी कब्जा करता है उसका विरोध होना चाहिए।

नये जेहादी इस तथ्य से बेखबर नहीं हो सकते कि पिछली दो या तीन

शताब्दियों से पश्चिम ने आर्थिक, औद्योगिक और तकनीकी क्षेत्र में जो प्रगति की है और उसकी वजह से उसकी सैनिक क्षमता जिस कदर बढ़ी है वह सारे इस्लामी विश्व की क्षमता से बहुत अधिक है। अतः वे कहते हैं : पश्चिमी सभ्यता-संस्कृति तथा इस्लाम के बीच जो टकराव अब तक ऐतिहासिक, धार्मिक और सैनिक स्तरों पर रहा है वह अब बौद्धिक स्तर पर आ गया है। वे कहते हैं कि "हमें इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि यह टकराव स्वभावतः ऐतिहासिक दृष्टि से स्थायी है।" यही लेखक आगे कहते हैं : "पश्चिमी दुनिया इस्लाम को विश्व में अपना सच्चा प्रतिद्वंद्वी मानने के लिए हमेशा बाध्य है। वह उसे एक ऐसी प्रतिद्वंद्वी शक्ति मानने के लिए विवश है जो उसकी मूल आस्थाओं और सिद्धांतों के लिए चुनौती प्रस्तुत करती है। इसके अतिरिक्त पश्चिमी दुनिया और इस्लामी दुनिया दोनों यह भी जानती हैं कि उनका टकराव मूल मुद्दों को लेकर है जिनमें समझौता संभव नहीं है। इस्लाम और पश्चिम की विश्व-दृष्टि से इस शाश्वत संघर्ष में ही आज की समस्याओं के कारणों तथा बाहरी स्रोतों को समझा जा सकता है।"

मैंने इस इस्लामी लेखक का उद्धरण इसलिए दिया है क्योंकि इस लेखक के विचार इस्लामी कट्टरवाद की तरफ झुके मुसलमानों के बड़े तबके के विचारों को प्रतिबिंबित करते हैं। लेकिन मुझे यकीन है कि ये विचार मुस्लिम दुनिया के बहुमत को प्रतिबिंबित नहीं करते। मेरा यह विश्वास पांच दशकों के खुले संघर्ष तथा आतंकवादियों के अत्याचारों के बाद हुए नये फिलिस्तीन-इजरायल समझौते से दृढ़ हुआ है। यह समझौता दिखाता है कि विवेक, सहिष्णुता, सहअस्तित्व और शांति की ताकतें बिलकुल खत्म नहीं हुई हैं। ये बहुत आशाप्रद लक्षण हैं। मिस्र, जोर्डन और सीरिया द्वारा समझौते का समर्थन होने से उस बदहाल लघु विश्व में शांति स्थापित होगी जहां तीन धर्मों का संगम होता है।

सोवियत संघ के विघटन के बाद अमरीका ही महाशक्ति के रूप में बचा है। यह विश्व अब एकध्रुवीय हो गया है। तथापि अमरीका के नीतिनिर्माता अवज्ञाकारी राष्ट्रों के अड़ियलपन से तथा सभ्यता के संभावी प्रतिद्वंद्वियों से परेशानी महसूस कर रहे हैं। वे जापान का वर्गीकरण करने में बिलकुल असमर्थ हैं। उन्हें लगता है कि यह देश पश्चिमीकरण के बिना ही अतिआधुनिक बन गया है। अमरीका के नीति-निर्धारकों को एक और डर सताने लगा है। वह डर है, इस्लामी विश्व और चीन के बीच सैनिक गठबंधन की संभावना। चीन की आर्थिक शक्ति बढ़ रही है। इसके पास परमाणु हथियारों तथा प्रक्षेपास्त्रों के रूप में सैनिक क्षमता भी बड़ी है। उधर इस्लामी विश्व के पास तेल की संपत्ति है। अमरीका के सामने सवाल है कि शक्तिशाली गैर-पश्चिमी समाजों के साथ सहअस्तित्व कैसे बनाया जाये और कैसे उग्र टकरावों के खतरे से बचा जाये।

सभ्यताओं के टकराव के इस नये परिप्रेक्ष्य में भारत की स्थिति क्या है? यह उपमहाद्वीप और उसके आसपास के द्वीपसमूहों का हिस्सा है और इस क्षेत्र में भारत के अलावा दो प्रमुख मुस्लिम राज्य, दो बौद्ध राज्य तथा एक बहुत बड़ी हिंदू आबादी वाला धर्मनिरपेक्ष राज्य है। भारत में मुस्लिम जनता है जो सारे देश की आबादी का लगभग 15 प्रतिशत है। किंतु जम्मू व कश्मीर में यह बहुमत में हैं और असम, पश्चिम बंगाल, केरल तथा मध्य प्रदेश के कुछ जिलों में इनकी आबादी काफी बड़ी है। अतः यदि भारत सभ्यताओं के इस संघर्ष में हिस्सा लेगा और भारत की राजनीतिक पार्टियां इस्लामी विश्व की प्रतिक्रिया में मतांधता और धार्मिक कट्टरता की ताकतों को प्रोत्साहन देंगी तो इससे भारत बाह्य तथा आंतरिक दोनों रूपों में कमजोर होगा। इससे बचने के लिए भारत को अपनी आर्थिक स्थिति सुदृढ़ करनी होगी, जनसंख्या पर नियंत्रण करना होगा और महात्मा गांधी के रास्ते पर चल कर विभिन्न धार्मिक समुदायों के बीच सहिष्णुता और सहअस्तित्व की भावना को मजबूत करना होगा। यह ऐसा रास्ता है जो प्राचीन भारतीय परंपरा के अनुरूप है। भारतीयों को अपनी छोटी अस्मिताओं को राष्ट्रीय अस्मिता के अधीन बनाना होगा।

यदि भारत प्रत्येक व्यक्ति के जान-माल की रक्षा करने में असमर्थ रहा और शासन तथा आर्थिक विकास में आबादी के सभी तबकों को हिस्सा नहीं मिला तो सभ्यता के ये संघर्ष उसे अपने भीतर खींच लेंगे और वह भी इन संघर्षों का अखाड़ा बन जायेगा। धर्म और सभ्यता के संघर्ष उस विचारधारात्मक संघर्ष से भी अधिक भयानक हैं जो इस सदी में प्रमुख रहे हैं। जिस तरह विचारधारात्मक संघर्ष से भी अलग रहने का भारत को लाभ मिला है उसी तरह इस नये संघर्ष से अलग रहने से भारत को भविष्य में लाभ होगा। मैं नहीं समझता कि रफसंजानी का ईरान-भारत-चीन के गठबंधन का सुझाव विशेष लाभदायक होगा। मैं ईरान से निकट संबंध चाहता हूं किंतु पश्चिम-विरोधी गठबंधन नहीं। यदि चीन वास्तविक नियंत्रण रेखा को जमीन पर खींचने और उसे फ्रीज करने के लिए तैयार होगा तो कुछ वर्षों में दोनों देशों के संबंधों में काफी सुधार होगा। इन दो देशों के बीच शांति विश्वशांति को बनाये रखने में महत्वपूर्ण कारक बनेगी।

सारांश यह है कि भारतीयों के लिए – हिंदू, मुस्लिम और अन्य सभी के लिए – यह मानना गलत होगा कि धार्मिक उत्साह और कट्टरपन वैज्ञानिक और तकनीकी प्रगति और गरीबी उन्मूलन के उपायों का अच्छा विकल्प है। भारत को उपभोक्ता संस्कृति से बचना चाहिए और वैज्ञानिक प्रगति, सामाजिक न्याय तथा सार्वजनिक सद्भाव के सम्मिलित माध्यम से सभी के लिए सम्मानजनक जीवन की व्यवस्था करनी चाहिए। इस तरह की जीवन-प्रणाली पर्यावरण की रक्षा के भी अनुकूल है।

जर्मनी-रूस गठबंधन की संभावना मात्र से अमरीका भयभीत

भूतपूर्व सोवियत संघ का सबसे बड़ा घटक रूस इस समय गहरे विक्षोभ की अवस्था में है। येल्तसिन के रूस की पश्चिमी समाचारपत्रों में जो खबरें छप रही हैं वे आमतौर पर प्रतिकूल हैं। इनमें अभूतपूर्व मुद्रा-स्फीति, अपराधों की वृद्धि, देह-व्यापार और रूसी संघ में अलगाववादी प्रवृत्तियों का ही जिक्र रहता है। पुरानी अफसरशाही अब भी सब जगह सत्ता में है किंतु वह कम्युनिज्म की बात नहीं करती अर्थात् वह लाल से सफेद हो गई है। अर्थव्यवस्था के बारे में कोई सकारात्मक ख़बरें नहीं आ रही हैं। कोई प्रेक्षक केन्द्रीयकृत आदर्श अर्थव्यवस्था के बाजार-अर्थव्यवस्था में सहज रूपांतरण की, उत्पादन और उत्पादिता में वृद्धि की, नये गतिशील उद्यमियों के आगमन की और पुरानी, अवरुद्ध सामूहिक कृषि के सफल निजीकरण की बात नहीं करता। उनका निष्कर्ष है कि इनमें से कुछ भी रूस में नहीं घटा है।

रूस सहित पूर्वी यूरोप की वर्तमान दयनीय स्थिति का वास्तविक कारण यह है कि जहां एकपार्टी शासन और केन्द्रीयकृत योजनाबद्ध अर्थव्यवस्था में उपभोक्ता वस्तुओं की आपूर्ति की विफलता के प्रति लोगों का असंतोष जायज था वहां उन्होंने इस गुस्से में सोवियत व्यवस्था के सकारात्मक पहलुओं को भी नष्ट कर दिया; जैसे, सामाजिक सुरक्षा की प्रणाली, जिसमें पुराने सैनिकों, पेंशनधारियों, वृद्धों तथा अशक्त व्यक्तियों के लिए उचित व्यवस्था थी, विशेषकर जिसमें स्वास्थ्य और शिक्षा के मामले में बच्चों को सुविधाएं प्राप्त थीं। अब सामाजिक सुरक्षा की प्रणाली बिल्कुल ध्वस्त हो गई है।

दो वर्ष पूर्व सोवियत संघ में भुखमरी की मौतों तथा मरणांतक रोग के संबंध में कई भयंकर भविष्यवाणियां की गई थीं। लेकिन इन सारी विपत्तियों के बावजूद रूसी राष्ट्र जिंदा है। रूसी बहुत जीवट के लोग हैं। कष्ट सहने की उनकी क्षमता असीम है। भारी विपत्तियों से बच निकलने की उनकी क्षमता कई बार सिद्ध हो चुकी है। प्रथम विश्वयुद्ध की हार और लंबे गृहयुद्ध की यातना को और कौन देश झेल सकता था ? स्टालिन के लंबे शासन काल में किसानों तथा अन्य लोगों के जनसंहार का जो भयानक दौर चला, उससे और कौन देश उबर सकता था ? चार साल के नाज़ी आक्रमण की विभीषिका से गुजर कर, जिसमें दो करोड़ से अधिक जानें गईं, कौन देश अपना अस्तित्व बनाए रख सकता था ? मुझे रूस की जनता की शक्ति और गतिशीलता पर पूरा भरोसा है और मैं मानता हूं कि उसका वर्ततान

संकट एक-दो दशकों से अधिक समय तक नहीं रहेगा और रूस पुनः एक शक्तिशाली राष्ट्र के रूप में उभरेगा।

यद्यपि शीतयुद्ध की समाप्ति और सोवियत व्यवस्था के विघटन से एकध्रुवीय विश्व बना है, अमरीका का विदेश-नीति का विचारक वर्ग 'भय से मुक्त' नहीं हुआ है। एक जापानी नस्ल के अमरीकी विद्वान ने तो उदार लोकतंत्र की विजय को 'इतिहास का अंत' ही कहा है। तथापि अमरीका के विदेश-नीति विचारक कई प्रकार की भीतियों से ग्रस्त हैं जिनमें से कुछ तो काल्पनिक हैं और कुछ वास्तविक। एक लेखक ने राष्ट्रों या उनके संयुक्त मोर्चे के युद्ध की जगह सभ्यताओं के युद्ध की भविष्यवाणी की है। कुछ अन्य लोग जापान की बढ़ती आर्थिक शक्ति से डरे हुए हैं। कुछ अगले कुछ दशकों में चीन के महाशक्ति बनने की संभावना से भयभीत हैं। किंतु अमरीकी राजनयिकों तथा विदेश-नीति के विद्वानों का एक वर्ग ऐसा है जो सोवियत संघ की शक्ति के उत्तराधिकारी रूस के भय को, जिसके पास विशाल सैनिक शक्ति और प्राकृतिक संसाधन हैं, अपने मन से दूर नहीं कर पा रहा है।

दो जर्मनियों के एकीकरण ने, जो सोवियत व्यवस्था के विघटन का सीधा परिणाम है, भू-राजनीति के अमरीकी विशेषज्ञों के मन में आर्थिक तथा राजनयिक शक्ति से युक्त नये जर्मनी और रूस के गठबंधन का डर पैदा कर दिया है। वस्तुतः यह डर 1939 के हिटलर-स्टालिन समझौते से और उससे भी पहले दो अस्पृश्य देशों (जर्मनी और सोवियत संघ) की रपालो संधि से जुड़ता है जिस पर 1922 में हस्ताक्षर हुए थे और यह डर जून, 1941 में शुरू हुए नाज़ी-सोवियत संघ के युद्ध के बाद भी अमरीकी नीति-विशेषज्ञों के मन में छिपा रहा। वास्तव में यह डर पचास साल तक उनके मन में छिपा रहा और पूर्ण रूप से कभी भी नहीं गया और अब वह फिर सतह पर आ रहा है।

दो विश्वयुद्धों के बीच की अवधि में जर्मनी में भू-राजनीतिज्ञों का एक शक्तिशाली ग्रुप रहा है जिसके प्रमुख प्रणेता के. हाऊसहॉफर थे। भू-राजनीति शब्द के सम्बन्ध में कुछ बुद्धिजीवियों में, मार्क्सवादियों सहित, बहुत-से पूर्वाग्रह हैं, यद्यपि इस शब्द में कोई बुराई नहीं है और सोवियत संघ भी अपने अच्छे दिनों में भू-राजनीति का व्यावहारिक प्रयोग करता रहा है। भू-राजनीति का वास्तविक अर्थ यथार्थवादी विश्व-दृष्टि है। इसमें भूगोल, जलवायु, भूमि की स्थितियों, प्राकृतिक संसाधनों, सामरिक स्थितियों आदि के अंतर्राष्ट्रीय राजनीति पर पड़ने वाले प्रभाव को स्वीकार किया जाता है। हेनरी किसिंजर इस शब्द का बहुत प्रयोग करते थे, कभी तो अपने आलोचकों को चक्कर में डालने के लिए और कभी अपने असली अभिप्राय को छिपाने के लिए। यहां मैं जर्मनी की विदेशनीति के सम्बन्ध में जर्मन विशेषज्ञ हाऊसहॉफर के विचारों पर दृष्टिपात करना चाहता हूं। हाऊसहॉफर और

उसकी तरह सोचने वाले लोग बीस के दशक में सोवियत संघ को एक और अस्पृश्य देश के रूप में देखते थे जो तब भौगोलिक रूप से भी क्षत-विक्षत था और जिसे पश्चिम ने खारिज कर दिया था। हाऊसहॉफर ने कहा कि "जर्मनी और रूस दोनों मिलकर सागर पर शासन करने वाली विश्व-शक्ति और लीग ऑफ नेशन्स के खिलाफ बहिष्कृत देशों का महाद्वीप संघ बना सकते हैं।" इस नीति का एक और पहलू भी था। हाऊसहॉफर के लिए जापान हमेशा ही आकर्षण का विषय रहा था। उन्होंने जापान की साम्राज्यशक्ति के उभार को बड़े प्रशंसा-भाव से देखा और उन्हें लगा कि जर्मनी जापान से बहुत कुछ सीख सकता है। शुरू में ही उन्हें विश्वास हो गया कि ब्रिटिश-अमरीकी वर्चस्व को जर्मनी जो चुनौती देगा उसमें जापान को जर्मनी का मित्र होना चाहिए, शत्रु नहीं। इससे पहले उन्होंने लिखा था कि जापान, रूस और मध्य यूरोप की शक्ति (जर्मनी) मिलकर अजेय शक्ति बनेंगे, क्योंकि यही देश ऐंग्लो-सैक्सन वर्चस्व के खिलाफ अपनी रक्षा कर सकते हैं। इस प्रकार हाऊसहॉफर रपालो संधि के आदमी थे और 1939 में नाज़ी-सोवियत संधि के बारे में बहुत उत्साहित थे।

एकीकरण के बाद जर्मनी का दृष्टिकोण बदल रहा है। संयुक्त जर्मनी परमाणु-शक्ति सम्पन्न देश नहीं है और वह अब भी नाटो का सदस्य है। किंतु विदेश नीति के मामले में वह अब निष्क्रिय नहीं है। युगोस्लाविया से स्वतंत्र होने वाले रोमन कैथोलिक स्लोवेनिया और क्रोएशिया को मान्यता देने के लिए पश्चिमी देशों को बाध्य करके उसने अपनी शक्ति दिखा दी है। व्यापारिक, औद्योगिक, वैज्ञानिक और सांस्कृतिक संबंधों के विस्तार के लिए जर्मनी पूर्वी यूरोप और रूस की ओर अधिकाधिक मुखातिब हो रहा है। यही कारण है कि हाऊसहॉफर का भूत अमरीकियों को सता रहा है और वे नाटो की शक्ति बढ़ाने की कड़ी मांग कर रहे हैं। अमरीकी विशेषज्ञ बिलिंस्की का कहना है कि 'संशोधनवादी या साफ कहें तो विस्तारवादी रूस को रोकने तथा अधिक आत्मविश्वास जताने वाले जर्मनी की युक्तिचालक-स्वतंत्रता की सीमा बांधने के लिए नाटो को मजबूत करना आवश्यक है। हम यह मान कर नहीं चल सकते कि संयुक्त जर्मनी पश्चिमी देशों के गठबंधन के दब्बू सदस्य के रूप में बना रहेगा। बिलिंस्की जैसे लोगों का विचार है कि चूंकि जर्मनी मध्य यूरोप की एक बड़ी शक्ति बन गया है अतः वह अपने राजनैतिक और आर्थिक प्रभाव की किरणें पूर्व तथा पश्चिम की ओर डालेगा। उनकी अमरीका के राष्ट्रपति और कांग्रेस को यही सलाह है कि वे इस स्थिति से निपटने के लिए, जो अभी प्रारंभिक अवस्था में है, दीर्घकालिक परिप्रेक्ष्य बनाएं क्योंकि यह स्थिति एकाध दशक में पूर्ण-पुष्पित रूप में सामने आंने वाली है।

बिलिंस्की जैसे लोगों के भय का यह मतलब नहीं है कि जर्मनी, रूस और

जापान का गठबंधन वास्तविकता बन गई है। नहीं, ऐसा नहीं हुआ है। न ही इसका यह मतलब है कि इन देशों के बीच हितों के टकराव नहीं हैं या रूस-जापान, रूस-चीन या चीन-जापान संबंधों की कोई विसंगतियां नहीं हैं। किंतु भय अपने में शक्ति होता है और अमरीका को ऐसी नीतियों की ओर ले जा सकता है जो कुछ कल्पित भ्रांतियों को सच बना सकती हैं।

इन नई स्थितियों को देखकर ही – आर्थिक शक्ति का पूर्व (और दक्षिण पूर्व एशिया) की तरफ सरकना तथा संयुक्त जर्मनी की बढ़ती ताकत – मैं इस बात पर जोर देता रहा हूं कि विदेश नीति विभाग में आमूल सुधार किए जाएं और उसे पुनर्शिक्षित किया जाए, निजी और सार्वजनिक क्षेत्र की कंपनियों को बहुराष्ट्रीय कंपनियां बनाया जाए और नए रूप में उभर रहे इन देशों में स्थित अपने दूतावासों के कुछ कार्मिकों को व्यापार एवं प्रौद्योगिकी की विशेष जानकारी दी जाए। जहां हमें भारत-अमरीकी संबंधों में सुधार की लगातार कोशिश करते रहना चाहिए वहीं संयुक्त जर्मनी, पूर्वी यूरोप और जापान की भी उपेक्षा नहीं करनी चाहिए। हमें चीन को इस बात के लिए तैयार करना चाहिए कि वह जमीन पर वास्तविक नियंत्रण रेखा का सीमांकन करे और आपसी हित के सम्बन्धों को मजबूत करे। गैर-सरकारी ग्रुप चीन से यह अनुरोध कर सकते हैं कि वह तिब्बत और दलाई लामा के साथ अपने संबंध सुधारे तथा समझौता करे और इस प्रकार इस क्षेत्र में अमरीका की दखलंदाजी को रोके।

प्रधानमंत्री की रूस-यात्रा : एक मूल्यांकन

प्रधानमंत्री पी.वी. नरसिम्हाराव ने रूस की अपनी प्रथम यात्रा से संतोष प्रकट किया है। किंतु प्रधानमंत्री के व्यक्तिगत संतोष अथवा भारत-रूस विज्ञप्ति के कुछ शब्दों के आधार पर इस यात्रा के दूरगामी प्रभावों का वस्तुनिष्ठ मूल्यांकन नहीं किया जा सकता। संयुक्त विज्ञप्ति में दृढ़ता से कहा गया है कि नस्ल और धर्म के आधार पर आपसी घृणा को अथवा उग्र राष्ट्रवाद और धार्मिक कट्टरवाद को प्रोत्साहन नहीं दिया जा सकता। ये शब्द भारत और रूस दोनों के लिए लागू होते हैं, किंतु 'उग्र राष्ट्रवाद' का प्रयोग रूस की विशिष्ट स्थितियों के संदर्भ में किया गया है। रूस को लगता है कि युक्रेन, मोलदावा या लातविया का उग्र राष्ट्रवाद न केवल अल्पसंख्यक रूसियों पर मुसीबत ढाएगा, जैसा कि पीटर स्ट्रूव का अनुमान था, बल्कि यह रूसी राष्ट्र में भी दरार पैदा करेगा और उसके लिए खतरनाक सिद्ध होगा। भारत-रूस

संबंधों के स्वर्ण-काल में दोनों देशों के हित पूर्णतया समान नहीं थे। विश्व-नीति के अधिकांश क्षेत्रों में इनमें परस्पर कोई टकराव नहीं था और कुछ महत्वपूर्ण क्षेत्रों में दोनों के बीच आश्चर्यजनक समानता थी। किंतु सोवियत संघ की स्थिति वर्तमान रूस की स्थिति से बहुत भिन्न है।

भारत-रूस संबंधों का भविष्य इस बात पर निर्भर करता है कि क्या दोनों देशों के हितों में वैसे ही समानता बनेगी जैसी पहले थी ? मेरे विचार से रूसी इस समय अपनी ही समस्याओं में बहुत उलझे हुए हैं। विदेशी संबंधों के मामले में उनकी प्राथमिकता अमरीका तथा अन्य पश्चिमी देशों के साथ अच्छे संबंध बनाने की है। विशेष रूप से रूस के विदेश मंत्री कोज़ीरेव की प्राथमिकता यही है। इसके अलावा वे सोवियत संघ के पूर्व घटकों के साथ भी अच्छे संबंध बनाना चाहते हैं। वस्तुतः आज रूसी दृष्टिकोण से पूर्व घटकों के साथ अच्छे संबंधों का महत्व बढ़ गया है। अमरीका को लेकर रूस में जो हर्षोन्माद पैदा हुआ था वह अब काफी कम हो गया है यद्यपि उसे अपनी पश्चिमी नीति की तरफ ध्यान देना पड़ रहा है। रूस पूर्व-सहोदर गणराज्यों के साथ अपने संबंधों के बारे में स्वभावतः बहुत चिंतित है। इन गणराज्यों के साथ न केवल उसके जैविक संबंध हैं, इनमें बड़ी मात्रा में रूसी अल्पसंख्यक भी हैं। लातविया और कजाकिस्तान में इनकी संख्या बहुत अधिक है और दूसरे गणराज्यों में भी यह नगण्य नहीं है। मध्य एशियाई गणराज्यों और रूस की आबादी में जातीय और धार्मिक भेद बहुत तीव्र हैं। किंतु रूस, युक्रेन और बेलारस के बीच ऐसी स्थिति नहीं है। तीनों स्लाव देश हैं, प्रमुख रूप से आर्थोडक्स ईसाई हैं, यद्यपि युक्रेन की अपनी युनिएट (एकीकृत) चर्च है जिसके पश्चिम के साथ संबंध हैं और उसकी अपनी आर्थोडक्स चर्च रूस की आर्थोडक्स चर्च के आधिपत्य को पसंद नहीं करती है।

सोवियत संघ रूसी राज्य नहीं था। केन्द्रीयकृत सरकार के लिए रूसी भाषा के प्रयोग के अलावा सोवियत संघ, गणराज्यों के नागरिकों में कोई गहरी निष्ठा नहीं बना पाया था। यह निष्ठा कितनी भुरभुरी थी इसका पता सोवियत संघ के तुरत और पूर्ण विघटन से चलता है। यह विघटन अगस्त 1991 के विनाशकारी सत्ता-पलट के बाद इतना भयानक सिद्ध हुआ कि युक्रेन भी, जिसकी 70 प्रतिशत से अधिक आबादी ने कुछ माह पहले स्वतंत्र रूप से एकीकृत सोवियत गणराज्य को बनाए रखने के पक्ष में वोट दिया था, राष्ट्रवाद की लहर में बह गया और उसने पूर्ण स्वाधीनता का विकल्प चुन लिया। इससे क्रीमिया, काले सागर के युद्ध-बेड़े के बटवारे और युक्रेन में स्थापित परमाणु हथियारों के स्थानांतरण की समस्याएं खड़ी हुईं। रूसी संघ और युक्रेन की सीमाएं भाषायी और जातीय सीमाओं से नहीं मिलती हैं और यह बात अधिकांश सहोदर गणराज्यों के बारे में भी सही है। क्रीमिया क्षेत्र

में रूसियों की आबादी बहुत अधिक है और इसे पचास के दशक में निकिता ख्रुश्चेव ने मनमाने ढंग से युक्रेन के साथ मिला दिया था। इन सारी बातों को ध्यान में रखकर ही संयुक्त विज्ञप्ति में उपर्युक्त शब्द रखे गए हैं।

रूस की तरह चीन में भी जातीय और धर्मीय विविधता की समस्या है। चीन के एक घटक प्रदेश शीचियांग (चीनी तुर्किस्तान) में मुसलमानों की आबादी बहुत अधिक है। नवंबर, 1992 में रूस और चीन के विदेश मंत्रियों की बैठक हुई थी। कोजीरेव ने कहा था कि मध्य एशिया में 'अतिवादी और इस्लामी कट्टरवादी ताकतों का' प्रभुत्व नहीं जमने देना चाहिए। चीनी गणराज्य के क्यां किचिन ने इसके जवाब में आपसी हितों की बात की और कहा कि मध्य एशिया में 'स्थिरता' बनाए रखना जरूरी है। मास्को-घोषणा में इसी भावना की प्रतिध्वनि है।

लेकिन सहिष्णुता और धर्मनिरपेक्षता के आधार पर बहुधर्मीय राज्यों की एकता बनाए रखने के समान हित का यह मतलब नहीं कि हमारे सामरिक और आर्थिक हित भी समान हैं। गोर्बाचौफ के समय से ही मास्को परमाणु अप्रसार संधि का समर्थन करता रहा है। नया रूस इस नीति को छोड़ेगा, ऐसी कोई संभावना नहीं है। अतः यह संदिग्ध ही है कि प्रधानमंत्री राव येल्तसिन को मात्र क्षेत्रीय अप्रसार के अमरीकी सुझाव के स्थान पर विश्वव्यापी परमाणु-निःशस्त्रीकरण के अपने सुझाव से आश्वस्त कर सके हों। अगर रूस भारत पर दबाव डालने में अमरीका का साथ न दे तो इसे भी इस यात्रा का बड़ा लाभ कहा जा सकता है।

रूस को इस समय अपनी जरूरतों के लिए दुर्लभ मुद्रा की बहुत आवश्यकता है। तेल के अतिरिक्त, जिसका उत्पादन कम हुआ है, रूस केवल रक्षा-उपकरण ही बेच सकता है। दुर्लभ मुद्रा की जरूरतों से बाध्य होकर ही मास्को पिछले मतभेदों तथा भविष्य के खतरों को भुलाकर चीन को भारी मात्रा में रक्षा-उपकरण बेचता रहा है। रूस ने चीन को सुखोई-27, सुखोई-31, टी-72 टैंक और एस-300 मिसाइलें बेची हैं और इससे भी बड़ी बात कि चीन की प्रक्षेपण-प्रणाली को सुधारने की टेक्नोलाजी भी दी है। रूस की खराब आर्थिक स्थिति उसे चीन में शस्त्र-बाजार तलाशने के लिए बाध्य कर रही है। चीन के विदेशी मुद्रा भंडार उसे इस योग्य बनाते हैं कि वह रक्षा-उपकरणों के बदले रूस को विदेशी मुद्रा उपलब्ध कराए। उसने पाकिस्तान को हथियार बेचने की जो बातें की हैं वे भारत-विरोधी रुख के कारण नहीं, डालर की जरूरतों के कारण की हैं। पाकिस्तान के सऊदी अरब तथा अन्य तेल-समृद्ध देशों के साथ सीधे संबंध हैं और उनसे प्राप्त डॉलर देकर वह रूस से हथियार खरीद सकता है। अतः यह विश्वास के साथ नहीं कहा जा सकता कि रूस ने सामरिक स्थिति की अंतर्दृष्टि अथवा बहुलतावादी व्यवस्था को बनाए रखने की जरूरत को ध्यान में रख कर पाकिस्तान को हथियार बेचने का इरादा छोड़ दिया

है। रूस से वापसी के समय विमान में पत्रकारों द्वारा इस संबंध में पूछे गए सवाल पर प्रधानमंत्री ने भी टालमटोल की भाषा का इस्तेमाल किया था। आर्थिक स्थिति सुधरने के कोई लक्षण दिखाई न देने के कारण रूस के नीति-विशेषज्ञों में आर्थिक लाभ को अधिक महत्व देने वालों और जातीय तथा धार्मिक टकरावों से उत्पन्न अस्थिरता के खतरे से चिंतित लोगों के बीच काफी खींचतान चल रही है। रूस की सेनाएं अफगानिस्तान से निकाल ली गईं लेकिन ताजिकिस्तान से वे अभी नहीं निकल पाई हैं।

भारत केवल बहुलतावाद तथा जातीय-धार्मिक सद्भाव की समान जरूरत पर ही पूर्णतया निर्भर नहीं कर सकता है। उसे रूस के लिए आर्थिक और व्यापारिक संबंधों के विस्तार की संभावनाओं की भी खोज करनी चाहिए। जहां संभव हो, हमें संयुक्त उद्यमों का प्रयास करना चाहिए। जब तक दोनों देश समान आर्थिक हितों से नहीं बँधेंगे, तब तक अमूर्त सिद्धांतों और शुभेच्छाओं से मित्रता और सहयोग का मजबूत आधार नहीं बनेगा। लेकिन यह अच्छा लक्षण है कि अगस्त 1991 के सत्ता-पलट के बाद भारतीय नीतिकारों में जो भ्रम पैदा हुआ था, उसके स्थान पर अब हमारे विदेश नीति विशेषज्ञ पूर्वाग्रहों को छोड़ रहे हैं और नई वास्तविकताओं को देखने तथा पुराने भारत-रूस सहयोग की नये आधार पर पुनर्रचना की जरूरत को मानने लगे हैं।

भारत-रूस आर्थिक संबंधों का एक जटिल पहलू है रूबल और रुपये की समस्या। भारत पर रूस का कर्ज 35000 करोड़ रुपये है। करार के अनुसार भारत को हर साल 3000 करोड़ रुपये अदा करने हैं। यह सिलसिला 14 साल तक चलने वाला है। यह भुगतान परंपरागत निर्यात से होना है। किंतु रूस की पुरानी आयात-निर्यात और वितरण की राज्य-प्रणाली ध्वस्त हो गई है। रूसी अब अपने आयातकों को साधनों का आवंटन करने के लिए कह रहे हैं। रुपये की नीलामी का रास्ता आय-साधनों के अभाव की कठिनाई को दूर करने के लिए अपनाया गया है। भारत के वाणिज्य मंत्री भविष्य के बारे में बहुत आशान्वित दिख रहे हैं। किंतु तंबाकू, चाय और चमड़े की वस्तुओं की रूसी मांग के व्यापक उतार-चढ़ाव को देखते हुए उनकी जरूरतों के अनुसार यहां उत्पादन को चुस्त बनाना कठिन दिखाई दे रहा है। इसी तरह की समस्याएं युक्रेन के संबंध में भी हैं जो भूतपूर्व सोवियत संघ का सबसे बड़ी आबादीवाला दूसरा देश है। भारत को कजाकिस्तान तथा दूसरे मध्य एशियाई गणराज्यों के साथ अपने संबंधों की उपेक्षा नहीं करनी चाहिए। मेरे विचार से भूतपूर्व सोवियत संघ के घटक गणराज्यों से अपने उलझे हुए आर्थिक और व्यापारिक संबंधों को सुलझाने के लिए बहुत सूझ-बूझ और विवेक की आवश्यकता है।

अमरीका-जर्मनी-रूस का उत्तरी त्रिकोण

विश्व की राजनीति में जर्मनी और रूस की स्थिति इस सदी के प्रारंभ से ही कई राजनीतिज्ञों और भू-राजनीतिक चिंतकों को चक्कर में डालती रही है। सदी के अंतिम दशक में रूस-जर्मनी संबंधों और अगली सदी के प्रारंभिक दशकों में विश्व राजनीति पर पड़नेवाले उसके प्रभाव पर एक बार फिर प्रश्नचिह्न लगा है। भू-राजनीति के सिद्धांत की प्रस्थापना सुप्रसिद्ध भूगोलवेत्ता सर हाल्फोर्ड मेकिंडर ने समुद्री शक्ति और स्थल-शक्ति के मूलभेद के आधार पर की थी। मेकिंडर ने ब्रिटेन की शक्ति के ह्रास का पूर्वानुमान उस समय लगाया था जब ब्रिटेन गौरव की चरम सीमा पर था और उसके संबंध में गर्व के साथ कहा जाता था कि ब्रिटिश साम्राज्यवाद में सूरज कभी नहीं डूबता। मेकिंडर ने लिखा : "ऐसा लगता है कि भौगोलिक लाभ का पलड़ा इंग्लैंड के खिलाफ झुकने लगा है और वह अपनी स्थिति को महज निष्क्रियता के कारण बनाये हुए है।" उनके अनुसार यह ह्रास समुद्री शक्ति के ह्रास का हिस्सा है जो क्रिस्टोफर कोलंबस से पूर्व हुई जहाजरानी की क्रांति से लेकर उत्कर्ष की ओर बढ़ रही थी। संभवतः दूसरा विश्वयुद्ध आखिरी संघर्ष था, जिसमें ब्रिटिश-अमरीकी नौसेना ने अपनी शक्ति का प्रदर्शन किया था। स्मरणीय है कि मेकिंडर ने 1904 में रूस को 'धुरी राज्य' कहा था।

1914-18 के प्रथम विश्वयुद्ध में जर्मनी ने जिस आश्चर्यजनक समर-शक्ति का प्रदर्शन किया उससे मेकिंडर को बहुत धक्का लगा। उसने 'धुरी राज्य' के अपने सिद्धांत में संशोधन किया। उसने 'धुरी राज्य' की संकल्पना को 'हृदय प्रदेश' का नाम दिया और उसे पूर्व में मध्य एशिया तक तथा पश्चिम में एल्बे और बाल्टिक तथा एड्रियाटिक तक बढ़ाया। 'हृदय प्रदेश' के नियंत्रण के लिए पूर्वी यूरोप को जीतना महत्वपूर्ण माना गया। यूरोप-एशिया और अफ्रीका के महाद्वीपों को विश्व द्वीप कहा गया। मेकिंडर ने लिखा : "जो पूर्वी यूरोप पर शासन करेगा उसका 'हृदय प्रदेश' पर नियंत्रण होगा, जो 'हृदय प्रदेश' पर शासन करेगा उसका विश्वद्वीप पर नियंत्रण होगा, जो विश्वद्वीप पर शासन करेगा उसका सारे विश्व पर नियंत्रण होगा।"

मेकिंडर के विचारों में यह परिवर्तन उन्नीसवीं शताब्दी के अंतिम वर्षों में, जर्मनी के यूरोप में बड़ी औद्योगिक एवं सैनिक शक्ति के रूप में उभरने के फलस्वरूप आया था। यदि जर्मनी और रूस की शक्ति मिल गयी तो क्या होगा? जर्मनी ने अपनी विश्वनीति के उद्देश्य प्राप्त करने के लिए दो तरीके अपनाये। एक तरीका युद्ध में जीतकर ये उद्देश्य हासिल करने का था, जैसा कि प्रथम विश्वयुद्ध

में और जून 1941 के बाद दूसरे विश्वयुद्ध में किया गया; और दूसरा तरीका समझौतों के माध्यम से उद्देश्य पूरा करने का था जैसे रपालो संधि (1922) और हिटलर-स्टालिन अनाक्रमण समझौता (1939)। दूसरी नीति को कभी पूर्ण रूप से विकसित तथा दीर्घकालीन आधार पर कार्यान्वित नहीं किया गया और रूस तथा पूर्वी इलाकों पर सैनिक विजय जैसे नैपोलियन की क्षमता से बाहर सिद्ध हुई थी, वैसे ही जर्मनी के बूते से भी बाहर सिद्ध हुई।

सोवियत संघ चालीस के दशक के अंतिम वर्षों में 'धुरी राज्य' और 'हृदय प्रदेश' को जोड़ने में लगभग सफल हो गया था। किंतु उसका आधे जर्मनी पर ही अधिकार हुआ था। दूसरा भाग आर्थिक दृष्टि से अधिक मजबूत सिद्ध हुआ। रूस-चीन के मतभेदों, सोवियत अर्थव्यवस्था के ह्रास, सोवियत संघ के अपनी जिम्मेदारियों को क्षमता से अधिक बढ़ाने और अफगानिस्तान के युद्ध में शक्ति के क्षय के कारण विश्वद्वीप को अपने अधिकार में लेने की सोवियत संघ की कोशिश बुरी तरह विफल हुई।

इस समय पूर्वी यूरोप में रिक्ति है तथा रूस एक और संकट से गुजर रहा है। यूरोपीय संघ में जर्मनी सबसे शक्तिशाली राज्य के रूप में उभरा है। जर्मनी और यूरोप संघ दोनों इस समय अमरीका के वर्चस्व वाले नाटो से जुड़े हैं। जर्मनी में प्रमुख जनमत यूरोप के साथ एकता और अमरीका के साथ गठबंधन का है। रूसी भी इस समय अमरीका के साथ अच्छे संबंध बनाने की ओर अधिक झुके हैं। तथापि, जर्मनी पूर्व की ओर देखना कभी बंद नहीं करेगा और न ही रूस यह मानकर चल सकता है कि जर्मनी है ही नहीं। स्थिति जैसी की तैसी नहीं रहेगी। इसमें परिवर्तन अवश्य आयेगा। एक समय आयेगा जब जर्मनी अपनी बात जोर देकर कहने लगेगा और विश्व के मामलों में अपने व्यापक प्रभाव का इस्तेमाल करने लगेगा। क्या उसने पश्चिमी शक्तियों को इस बात के लिए बाध्य नहीं किया कि वे रोमन कैथोलिक स्लोवेनिया तथा क्रोएशिया को मान्यता दें, जिससे युगोस्लाविया का अंत हुआ ? रूस भी जीवंत राष्ट्र है और वह भी लंबे समय तक वर्तमान स्थिति में नहीं रह सकता। नवीकरण और परिवर्तन की ताकतें फिर आगे आयेंगी। तब दोनों शक्तियां अपने संबंधों के आधार पर पुनर्विचार करेंगी, जो विगत काल में टकराव और मित्रता दोनों का आधार रहा है।

जर्मनी में हमेशा ही एक विचारक वर्ग रहा है जो जर्मनी और रूस के बीच स्थायी मित्रता के पक्ष में रहा है। कार्ल हाऊसहॉफर (1869-1946) इस दृष्टिकोण के मुख्य प्रणेता थे। वे भूगोल का मित्र के रूप में उपयोग करना चाहते थे, शत्रु के रूप में नहीं। हाऊसहॉफर रपालो संधि (1922) के प्रबल समर्थक थे और रूस-जर्मनी सहयोग को जारी रखना चाहते थे। भू-राजनीतिज्ञ विचारधारा से अथवा

राज्यों के आंतरिक स्वरूप से प्रभावित नहीं होते। उनकी दृष्टि में भौगोलिक स्थिति और वैज्ञानिक-औद्योगिक शक्ति विचारधारात्मक बातों से अधिक निर्णायक होती है। अतः हाऊसहॉफर का विचार था कि सोवियत राज्य के साथ सहयोग न केवल संभव है, बल्कि आवश्यक भी है। इस तरह का सहयोग मुख्य रूप से समुद्री शक्ति पर खड़े ब्रिटिश साम्राज्यवाद की ओर मुखातिब होगा। अतः वे 1939 के नाज़ी-सोवियत समझौते से बहुत उत्साहित थे।

किंतु हिटलर के विचार इसके विपरीत थे। हिटलर ने रोजनबर्ग के साम्यवाद-विरोधी विचारों को पूर्णतः स्वीकार कर लिया था। हिटलर को, निस्संदेह, उदार लोकतंत्र से नफरत थी, किंतु उससे ज्यादा घृणा वह साम्यवाद से करता था। जैसा कि पीटर डूकर ने 'माइनकाम्फ' के आधार पर लिखा : "हिटलर का विदेश नीति में सबसे ज्यादा मनपसंद लक्ष्य था सागर पर शासन करनेवाले ब्रिटिश साम्राज्य तथा यूरोप महाद्वीप पर शासन करने वाले जर्मनी राज्य के बीच स्थायी मित्रता।"

पश्चिम यूरोप का दक्षिणपंथी मत जर्मनी की महत्वाकांक्षा को पूर्व की ओर उन्मुख देखना चाहता था। टोरी प्रधानमंत्री स्टैनली बाल्डविन इस संबंध में बिलकुल स्पष्ट था। युवा पीटर डूकर इसे खुशफहमी मानते थे। उनका यह विचार भी था कि वामपंथी फासीवाद और साम्यवाद के बीच जिस अनिवार्य टकराव की बात करते हैं, वह यथार्थ से परे है। उनकी मान्यता थी कि नाज़ी जर्मनी और सोवियत रूस को एक साथ आना पड़ेगा, क्योंकि विचारधारा में और सामाजिक स्वरूप में वे एक जैसे, अर्थात तानाशाही व्यवस्था पर आधारित हैं। उन्होंने लिखा : "विचारधारात्मक आधार के अतिरिक्त रूस-जर्मनी गठबंधन का ठोस आर्थिक और सैनिक आधार भी होगा। वस्तुतः इसी रास्ते से दोनों देश अपनी आर्थिक एवं सैनिक समस्याओं को हल कर सकते हैं।"

पीटर डूकर ने ये शब्द नाज़ी-सोवियत अनाक्रमण संधि (अगस्त 1939) से कई महीने पहले लिखे थे। वस्तुतः उन्होंने ये शब्द कम्युनिस्ट पार्टी के अधिवेशन (मार्च 1939) में रखी गयी स्टालिन की उस रिपोर्ट से भी कई महीने पहले लिखे थे, जिसमें स्टालिन ने पश्चिमी ताकतों की इस बात के लिए कड़ी आलोचना की थी कि वे सोवियत संघ और जर्मनी में झगड़ा कराने की कोशिश कर रही हैं।

लेकिन अंग्रेजों द्वारा पोलैंड को गारंटी दिये जाने और हिटलर के तुष्टीकरण के विरुद्ध ब्रिटिश जनमत के बदलने के कारण हिटलर अपनी इच्छा के विरुद्ध भू-राजनीतिज्ञों के मत की तरफ ध्यान देने को बाध्य हुआ और उसने सोवियत रूस के साथ समझौता करने का इरादा बनाया।

तथापि, हिटलर की अंधी घृणा ने अंततः हाऊसहॉफर आदि भू-राजनीतिज्ञों और पीटर डूकर आदि आदर्शवादियों को विस्मय में डाल दिया तथा बाल्डविन की

इच्छा पूरी करने में सहायता की।

नये रूसी राज्य के संबंध में हेनरी किसिंजर ने अपनी आशंकाएं व्यक्त करते हुए कहा है : "यदि रूस में राष्ट्रवाद हावी हुआ और व्यवस्था का पुनः केंद्रीकरण हुआ, तो रूसी शासकों के लिए जर्मनी का विकल्प उतना ही आकर्षक होगा जितना अमरीका या फ्रांस का विकल्प। यूरेशिया समूह पर रूस-जर्मनी गठबंधन के वर्चस्व से अमरीका के लिए खासा खतरा पैदा होगा।" किसिंजर का विचार है कि रूस और जर्मनी की अत्यधिक मित्रता या शत्रुता किसी भी देश के हित में नहीं होगी। उनकी ज्यादा चिंता अनिवार्यतः पहली संभावना को लेकर है।

जर्मनी को भू-राजनीतिक शिक्षाओं के त्याग के कारण दो बार नुकसान उठाना पड़ा। शायद जर्मनी के राजनेताओं ने अनुभव से बहुत कुछ सीखा होगा। वे विश्व नीति में वर्चस्व के स्थान पर सहयोग को अपनायेंगे तथा यूक्रेन और रूस सहित पूर्वी राज्यों के प्रति संबंधों का नया युग शुरू करेंगे। अमरीकियों को इस बात का डर है कि इससे यूरोप तथा विश्व मामलों में अमरीका का प्रभाव कम हो जायेगा। 'सभ्यताओं के संघर्ष' की तरह, जिसमें पश्चिमी सभ्यता और इस्लाम का टकराव शामिल है, रूस-जर्मनी सहयोग का दु:स्वप्न भी अमरीकी राजनीतिज्ञों और राजनयिकों को परेशान कर रहा है।

भारतीय राजनीति के अंतर्विरोध

मधु लिमये

सारांश